सहजानंद शास्त्रमाला

सरल आध्यात्मिक प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

सरल आध्यात्मिक प्रवचन

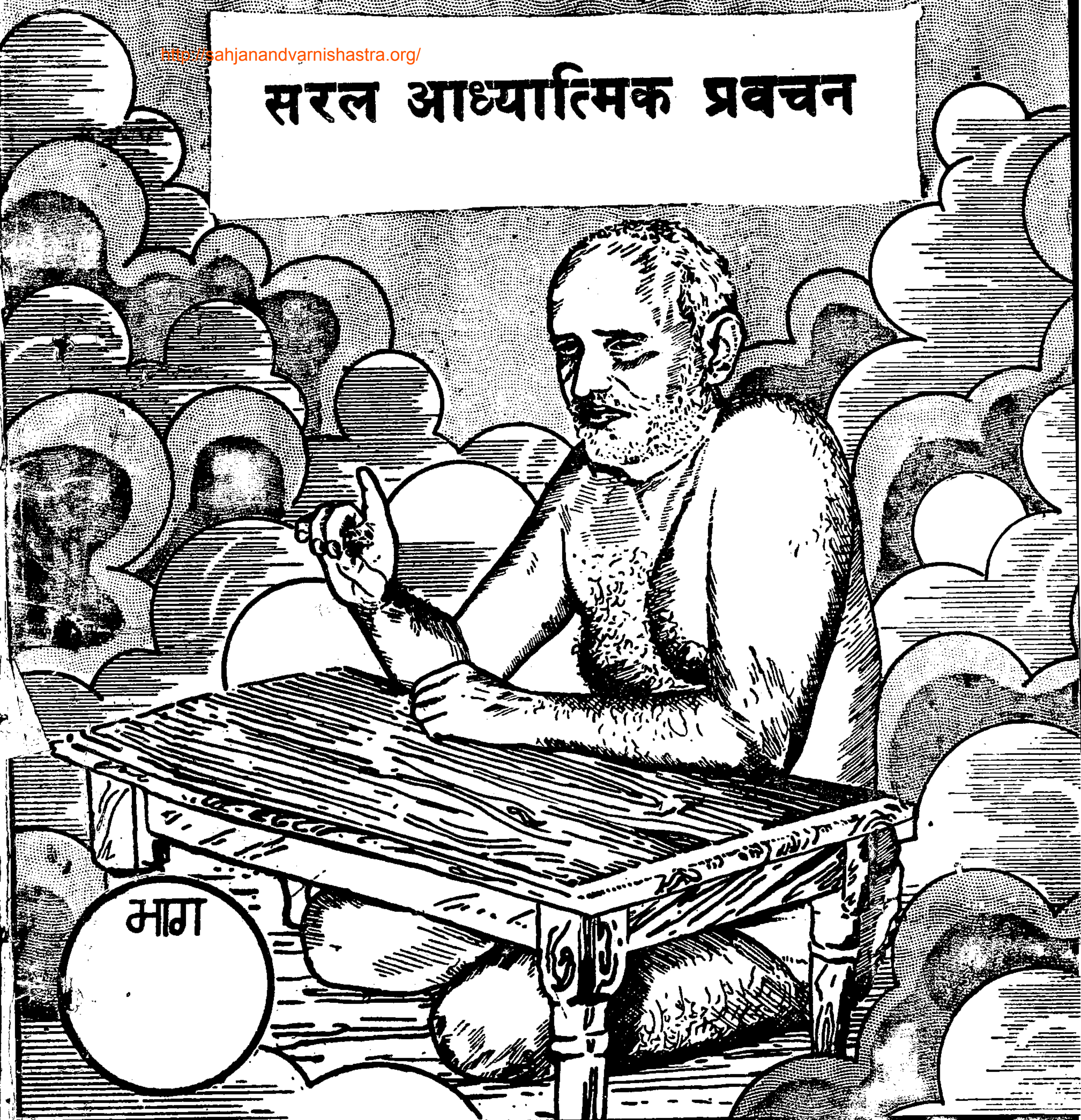

भाग

आध्यात्म योगी पूज्य गुरुवर श्री मनोहर जी वर्णी
सहजानन्द जी महाराज

श्री सहजानन्द शास्त्र माला

Report any errors at vikasnd@gmail.com

१८५-ए रणजीतपुरी सदर - मेरठ

http://www.jainkosh.org

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

सरल आध्यात्मिक प्रवचन

प्रवक्ता :—
आध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्याय साहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक :—
डा० नानकचन्द जैन 'समरस' एम. डी. एच.
सांतौल हाउस, मौ० ठठेरवाड़ा, मेरठ शहर

प्रकाशक :—
मंत्री श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

द्वितीय संस्करण

१९८९

मूल्य
१२ रु० मात्र

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सरल आध्यात्मिक प्रवचन

रचयिता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ गुरुवर्य्य
पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

(१) **दार्शनिकों को मन्तव्य प्रकाशन में एक मूल अव्यक्त प्रेरणा**—जब यह आत्मा परभाव से हट कर सहज स्वभाव में उपयोग लगाता है तब लोक के जितने उपद्रव हैं, जितने संकट हैं, जितनी मलिनतायें हैं, वे सब यहां से हट जाती हैं। अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करना यही एक हमारी विभूति है, समृद्धि है। जिसका फल क्या है? सत्य शाश्वत सहज आनन्द की उपलब्धि। मैं एक ज्ञान मात्र हूं, ऐसा अनुभव करने के लिए अपने ज्ञान में केवल एक जाननस्वरूप ही रखा जाय। जैसे हम बाहरी पदार्थों को देखते हैं—यह मनुष्य है, यह पशु है, यह चौकी है, यह पुस्तक है, के जो ज्ञेय हुए, तो क्या यों ज्ञेय ज्ञानस्वरूप नहीं हो सकता है? अवश्य हो सकता है। बाह्य ज्ञेय कहीं बना करता, यों तो समझ ही रहे हैं, तो समझिये—जो बाह्य का ज्ञान कराये वही ज्ञानमात्र का अनुभव कराने में भी समर्थ है। यद्यपि ज्ञान में ऐसी कला स्वयमेव है कि वह परका भी प्रकाश करे और स्वका भी प्रकाश करे। जैसे दीपक में यह कला है कि वह परको भी प्रकाशित करे और स्वयं भी प्रकाशित होवे, इसी प्रकार ज्ञान में भी एक यह कला है कि वह परका भी प्रकाश करे और स्व का भी प्रकाश करे। जिसे दार्शनिकों ने भी स्वीकार किया है। यह एक न्याय दृष्टि की बात कही जा रही है। दार्शनिक शास्त्रों में ज्ञान का लक्षण बताया है—स्वापूर्वार्थ व्यसायात्मकं ज्ञानं, प्रमाणम्। ज्ञान स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चायक होता है। वैसे तो भैया! सभी दार्शनिकों ने एक इस स्वकी महिमा के लिए पौरुष किया है। मूलतः किसी भी दार्शनिक ने अभिप्रायतः त्रुटि नहीं किया है। भले ही उनके शिष्यों ने आज कुछ और ही रूपक रख दिया हो, लेकिन जो मूल दार्शनिक थे उन्होंने अपनी बुद्धि के अनुसार ईमानदारी ही बर्ती। फर्क यह हो गया कि जिस दृष्टि से कहा उसी का समर्थन रहा और लोग समझ नहीं सके।

(२) **दार्शनिकों के मूल भाव का एक घटना में चित्रण**—जैसे कल्पना करो कि एक जंगल में बहुत से साधु बैठे हैं, उनमें एक प्रमुख आचार्य स्याद्वाद की विधि से उपदेश कर रहे हैं। तो उपदेश की विधि यह है कि स्थूल से उठाकर सूक्ष्म में ले जाना और सूक्ष्म से उठाकर स्थूल में लेजाना। किन्तु सत् प्रयोग प्रारम्भ होता है तो वह स्थूल को लेकर होता है, फिर उसके माध्यम से सूक्ष्मतत्त्व गिना जाता है। तो स्याद्वादकी विधि से लोगों को उपदेश दिया जा रहा था। जीव नित्य है, अनित्य है, एक है, अनेक है। नयदृष्टि से सब बातें ठीक बैठती हैं। वे साधु और भी वर्णन कर रहे थे—पदार्थ तो नित्यानित्यात्मक है और उसके गुणों का वर्णन किया कि उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिक अनेक गुण हैं। फिर गुण मायने क्या? व्यवहार। गुण का अर्थ है? जिसके द्वारा द्रव्य का भेद कर दिया जाय उसे गुण कहते हैं। द्रव्य तो एक अखण्ड है, अरूप है मगर उसका भेद किया गुणों ने। कल्पना ने भेद किया है। लेकिन पर्याय का द्रव्य के साथ सामञ्जस्य यों नहीं कि द्रव्य नित्य है, पर्याय अनित्य है। द्रव्य का गुणों से सामञ्जस्य है क्योंकि द्रव्य व गुण नित्य हैं और गुणों ने किया भेद। तो यह भेद गुणों के समीप का भेद है। ऐसा एक निश्चय अखण्ड तत्त्व पर विवेचन हो रहा था। मैं ज्ञानस्वरूप हूं, जानता हूं—स्व को जानता हूं, परको जानता हूं, इसकी अपेक्षा स्व को

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जानता हूं यह है निश्चय । स्व को जानता हूं यह है व्यवहार । जानता हूं क्या ? स्वयं परिणम रहा हूं । इसमें जानना क्या ? यों आन्तरिक तत्त्व का वर्णन किया जा रहा था । होते होते, सुनते सुनते अनेक संन्यासियों ने यह तत्त्व ग्रहण किया कि ठीक है । शून्य है । ज्ञान है यह एक अलग बात है सभी बातें एक व्यवहार की हैं । होते-होते एक यह बात नजर आयी, कि शून्य ही तत्त्व है । उनदार्शनिकों ने कोई भेद नहीं रखा, किन्तु उन्होंने आग्रह कर दिया कि शून्य है । कुछ संन्यासियों ने सोचा कि शून्य है तो वह भी कुछ तत्त्व है अद्वैत है तो वह सर्वात्मक है चैतन्यात्मक है, आनन्दात्मक है, ज्ञानत्मक है फिर सोचा कि इसका स्वरूप ही क्या है ? अगर एक चैतन्यात्मक के अतिरिक्त कुछ है नहीं तो चेतने की बात कैसे बनेगी ? द्वैत पर आये चेतन अचेतन । किसी ने कहा कि नित्य है, किसी ने कहा कि अनित्य है । किसी ने कहा कि एक है, किसी ने कहा अनेक हैं । किसी ने कहा परिणामी है, किसी ने कहा अपरिणामी है । परिणामी का एकान्त बना तो ऐसा बना कि वह तो कूटस्थ नित्य हैं । कूटस्थ नित्य का अर्थ क्या है ? जैसे देखा होगा कि किसी लुहार की दुकान पर एक धौंकनी होती है, एक निहाई होती है, चिमटा होता है हथौड़ा होता है । तेज गर्म लोहा पीटने के लिए उस निहाई पर लोहा रखा जाता है, उसे चिमटे से पकड़ा जाता है, उसको हथौड़े से पीटा जाता है, ये सब चीजें होते हुए भी, अन्य सब लोहों के चल विचल होने पर भी निहाई ज्यों को त्यों स्थिर रहती है । तो यही हुआ कूटस्थ । तो कुछ सन्यासियों ने देखा कि पदार्थ क्षण क्षण में नया नया होता है, एक नहीं रहता । वैशेषिक कहते हैं कि पदार्थ ७ हैं-द्रव्य, गुण, क्रिया, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव । उनके कथनमें भी जान है । पदार्थ है । सामान्यकास्वरूप न्यारा, विशेषका स्वरूपन्यारा है यहभी पदार्थ है । जैसे एकचित्र बनता है गणेशजीका और उसका वाहनहै चूहा । ऊपर सूढ़फिटहै वह क्या है ? वह एक स्याद्वाद का चित्र है, भेद और अभेद इन दोका समन्वय है । अभेद होतो ऐसा होकि जैसे गणेश के मुख में हाथी की सूढ़ फिट हो गई, एकमेक हो गयी । भेद हो तो ऐसा हो कि जैसे चूहा भेद करता है । अभी कोई चूहा किसी कपड़े कि दूकान में या किसी कागज की दूकान में बैठ जाय तो वह किस तरह के छोटे छोटे टुकड़े कर डालता है ? तो यह चित्र भेद और अभेद का सूचक है । यह एक अलंकार है भेद ओर अभेद का बताने वाला ।

(३) स्याद्वाद की अव्यक्त रूप से भी संतोषकारिता—देखो दार्शनिकों को प्रोत्साहन इस तरह भी मिला कि यह स्याद्वाद का बहुत कुछ निर्णय बनाकर एक अन्तस्तत्त्व तक ले जाता है । लक्ष्यभूत तत्त्व तो एक सहज ध्रुव ज्ञायक भाव लिया है ना, यही बात सब दार्शनिकों ने कही, लेकिन भेदनय अभेदनय की भूल से थोड़ा अन्तर हो गया है । पहले सबकी एक यही इच्छा हुई थी कि मैं एक अवक्तव्य, अखण्ड, शुद्ध चैतन्य स्वरूप को दृष्टि में लूं पर उसे दृष्टि में न ले सके । वहां हम आप भी ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व को दृष्टि में लेते हैं, मगर व्यवहार बिना, भेद किए बिना गुण भेद बिना, पर्याय भेद बिना हम उस पर न पहुंच सकेंगे, इसलिए तीर्थ प्रवृत्ति के लिए ये सब उपदेश हैं । देखो पर्याय बिना गुण की पहिचान नही हो सकती । कहते हैं ना, जानना, विश्वास लाना, मग्न होना या पर्यायें देखते हैं नीली, लाल, सफेद आदि । इस पर्यायमुखेन हम गुणों को समझ जाते हैं, औरगुणमुखेनगुणोंको समझे बिनाद्रव्य नहीं समझा जा सकता । पर्यायों के आधारभूत जो रूप, रस गंध, स्पर्शादि शक्तियां हैं उनका अभेद पुद्गलद्रव्य है । आखिर अन्त में पहुँचना कहां है ? एक अखण्ड ज्ञानमात्र तत्त्व तक । ऐसा ज्ञानमात्र तत्त्व किस तरह इस समय परिणम रहा है ? नानारूप परिणम रहा है, लेकिन न्याय की कसौटी पर कस कर देखिये तो कषायों की कालिमा यहां दृष्टिगोचर होती है । कषायें होती हैं पर एक ओर देखते हैं तो एक चित् चैतन्यभाव प्रकाशमान हो रहा है । देखो दृष्टि में दोनों तत्त्व आते हैं, ज्ञान में दोनों तत्त्व, आते हैं—अशुद्ध तत्त्व, शुद्ध तत्त्व, मगर एक शुद्ध तत्त्व की अनवच्छिन्न धारा से, निरन्तर स्थिरता से एक शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है और एक अशुद्ध तत्त्व को दृष्टि में

Version 1

लिया जाने से एक अशुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है। देखिये स्वाद किसका आता है ? जो चीज दृष्टि में होती है बस उसी का स्वाद आता है। जहां पर जो बात है वहां पर उसका स्वाद है। एक बार सभा में अकबर ने बीरबल को नीचा दिखाने के लिए कहा कि बीरबल—आज रात को हमें एक स्वप्न आया कि हम तुम दोनों एक साथ जंगल में घूमने जा रहे थे, एक जगह रास्ते में दो गड्ढे थे, एक में शक्कर भरी थी और एक में गोबर, तो हम तो गिर गए शक्कर में गड्ढे में और तुम गिर गये गोबर विष्टा के गड्ढे में। तो बीरबल ने कहा—महाराज ! हमने भी एक ऐसा ही स्वप्न देखा, हम गिर गये गोबर के गड्ढे में और आप गिर गये शक्कर के गड्ढे में मगर उससे आगे थोड़ा और भी देखा कि हम आपको चाट रहे थे और आप हमें चाट रहे थे। देखिये—शक्कर के गड्ढे में गिरकर भी अकबर बादशाह ने गोबर विष्टा का स्वाद लिया और बीरबल ने गोबर विष्टा के गड्ढे में गिरकर भी स्वाद लिया शक्कर का। तो जो चीज जिस समय जिसकी दृष्टि में होती है उस समय वह उसका स्वाद लेता है अभी आप जो गृहस्थी में पड़े हुए हैं तो गृहस्थी के बीच रहकर भी अगर मंदकषाय होकर सब में समता धारण करके अगर अपने लक्ष्य में एक निज शुद्ध सहज स्वभाव को अपनी दृष्टि में रखेंगे तो स्वाद आयगा शुद्ध आत्मतत्त्व का, और अगर इन्द्रिय का व्यापार हुआ, बाहर की अनेक बातों में उपयोग हुआ, उनमें लगाव हुआ, राग द्वेष उत्पन्न हुआ तो स्वाद आयगा कषायों का, आकुलताओं का।

(४) **साम्य का अनुशासन**—भैया ! पुनः सोचो, क्या कर्तव्य है हम आपको करनेका ? पहिली बात, पहिली साधना तो यह करनी पड़ेगी कि सब जीवों में हमारा समता का परिणाम हो। कहने के लिये तो यह एक छोटी सी बात है—सब जीवों में समता हो। मगर देखिये तो सही कि अपने आपके भीतर समता आयी कि नहीं घर में समता आयी कि नहीं। वह चर्चा तो सीखने के लिए है। हमारा जो व्यवहार प्रसंग है, हम जिनके बीच रहते हैं उसमें समता रहती कि नहीं। इस समताभाव से फायदा अपने आपको है अगर सबके प्रति समता का भाव होगा तो हम अपने इस भीतरी काम को कर सकने में समर्थ हो जायेंगे, और अगर हम समता का भाव न रख पायेंगे तो फिर अपने आपके इस विशुद्ध लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ न हो पायेंगे। क्योंकि इस शुद्ध तत्व की दृष्टि में विघ्न डालने वाला है अशुद्ध तत्त्व का दर्शन और विषमता अशुद्ध है जो होता है सो होने दो। होता स्वयं जगत परिणाम हम किसी का क्या कर सकेंगे ? सांसारिक बातें जितनी होती हैं वे सब स्वयमेव होती हैं हम किसी का कुछ करने में समर्थ नहीं। बहुत स्पष्ट है कि जो जीव सुख पाता है, दुःख पाता है वह अपने कर्मोदय से पाता है। उसको हम कर नहीं सकते। सब कुछ अपने आप हो रहा है ऐसे ही, मगर ऐसी हठ क्यों ? और अपने लिए हठ क्यों नहीं कि मेरा जो सत्यस्वरूप है उसमें ही मेरी दृष्टि रहे, अन्य कुछ चाहिये नहीं। जैसे जाड़े के दिनों में एक तालाब के किनारे किसी टीले पर कुछ बालक बैठे हुए हैं। ठंड की वजह से पानी में कूदने की किसी बालक को हिम्मत नहीं पड़ती। अगर कोई बालक हिम्मत करके तालाब में कूद पड़े तो बस सारा जाड़ा खत्म। ठीक इसी प्रकार अपने आपके इस सहज ज्ञानस्वरूप जाननमात्र आत्मतत्त्व में अगर हम समा जायें तो बस सारे संकट समाप्त। संकटही दूर करना है तो इस विधि से करें, मात्र बाह्य विधिसे संकट दूर नहींहोंगे। तो इसकी इस धारा में, इस शुद्ध तत्व के जानने की धारा हमारे जितनी देर बने उतनी देर कायम रहें। बाह्य मेंशत्रुता मित्रता का भाव न रहे। कोई मेरा शत्रु नहीं, कोई मेरा मित्र नहीं, कोई सुख दुःख देता नहीं। यह सब अपने अपने कर्मोदय से होता है। उसमें हम कुछ कर नहीं सकते।

(५) **उदाहरणपूर्वक जीवों के अपार मन्तव्य का समर्थन**—एक जोसी था। वह प्रतिदिन इधर उधर से भीख मांग कर लाता था, उससे अपने बच्चों का पालन पोषण करता था। उसको प्रतिदिन उतनी भीख

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मिल जाती थी जितना कि दिन भर में बच्चे लोग खा जाते थे। बचता कुछ नहीं था एक दिन भीख मांगते हुये में उसे एक साधु मिला। साधु ने कहा क्या कर रहे हो ?…महाराज भीख मांग रहा हूं।…क्यों मांगते हो ?….और क्या करें ? अगर भीख नहीं मांगेंगे तो फिर बच्चे लोग कैसे पेट भरेंगे ?…तो क्या इन बच्चोंको तुम्हीं पालते पोसते हो ? हां महाराज ! हम नहीं पालते पोसते तो फिर कौन पालता पोसता है ! तुम झूठ कहते हो। चलो हमारे साथ। इन बच्चों को छोड़ दो। फिर देखो वे स्वयमेव पलते पुषते हैं कि नहीं। वह था भक्त, सो साधु के साथ चल दिया। करीब १५ दिन तक साधु के साथ रहने के लिये वायदा कर लिया ' इधर जोसी के घर में क्या हुआ कि जब वह घर न गया तो घर में सभी बच्चे लोग दुःखी हुए, उस दिन भूखे ही रह गये। अब किसी मसखरे ने यह भी कह दिया कि उसे तो एक तेंदुआ खा गया। सो घर में रोना पीटना चालू हो गया। पड़ौसी जुड़े। सभी पड़ौसियों ने समझाया कि तुम घबड़ाओ मत, हम लोग तुम्हारी मदद करेंगे। जिसके पास कपड़े की दुकान है वह कपड़े देगा, जिसके पास जिस चीज की दुकान है वह उस चीज को देगा। आखिर हुआ वैसा ही। अब क्या था ? वे सभी बच्चे लोग खूब अच्छा खाते पहिनते। नये नये कपड़े पहिनते, रोज पूड़ी कचौड़ी बनाते खाते। अब उधर १५ दिन बाद जोसी ने कहा—महाराज अब हमें घर जाने की आज्ञा दीजिए। जाकर देखें कि कौन मरा, कौन जिया। साधु ने कहा—बेटा छुपकर घर जाना। सीधे यों ही घर में न घुस जाना। आखिर जोसी घर के पीछे की दीवाल से ऊपर चढ़ गया और छत से क्या देखता है कि घर में तो एक नया परिवर्तन हो गया है। सभी बच्चे लोग नये-नये कपड़े पहिने हैं, खूब पूड़ी कचौड़ी बनाकर खायी जा रही हैं। सभी बच्चे लोग उतने प्रसन्न दीख रहे थे जैसा कि जीवन में कभी नहीं देखा था। यह सब देखकर मारे खुशी के उछलकर आंगन में कूद गया। बच्चे लोगों ने उसे आंगन में देखकर सोचा कि वह तो मर गया था, यह तो भूत मालूम होता है सो सभी बच्चों ने मूगर ढेला, पत्थर आदि से मार मारकर भगा दिया। वह बेचारा जोसी किसी तरह प्राण बचाकर साधु के पास पहुंचा। साधु से सारा हाल कह सुनाया। साधु ने कहा देखो—हम कह रहे थे ना कि कोई किसी को नहीं पालता पोषता। अरे जब वे स्वयं मौज में हैं तो फिर तुम्हारी क्यों परवाह करें ? तो अपने आप पर कुछ दया करके अपने अन्दर से यह बात निकाल देनी चाहिए कि मैं किसी का पालन पोषण करता हूं। अरे घर में सभी लोग हैं, वे सब अपने अपने कर्मानुसार अपना काम कर रहे हैं जिन बच्चों की परवाह बाप करता है वे बच्चे उस बाप से अधिक भाग्यशाली हैं, तभी तो बाप उन बच्चों का नौकर बना फिरता है। लोग व्यर्थ ही दूसरों की चिन्ता करते हैं। अपने आपकी कुछ भी फिकर नहीं करते।

(६) अपना वास्तविक कर्तव्य—अब हम आपको क्या करना चाहिये ? अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करना चाहिए। बस इसमें करने योग्य सब कुछ आ गया। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान— भेद विवक्षा से द्रव्य एक है। भेद विवक्षा में गुण पर्याय समझा जाता है। यह सब समझाना तथ्य के अनुकूल है, तो ज्ञानमात्र अनुभव करने में ये सब आ जायेंगी। ज्ञानमात्र अपने को अनुभव करो। मैं खण्डेलवाल हूं, व्यापारी हूं सर्विस करने वाला हूं, दादा हूं, बाबा हूं आदिक रूप अपने को अनुभव न करो। जो अपने को जैसा अनुभव करेगा वह उस ढंग का व्यवहार करेगा। अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करो, जिससे इस ही श्रद्धा का उचित व्यवहार हो। तो एक ही काम है आप सबको करने का। अपने आपको ऐसा अनुभव करें कि मैं सबसे निराला, आकाश की तरह अमूर्त ज्ञानमात्र हूं। हम खुद अपने आप स्वयं गड़बड़ी मचाते हैं। हम करते हैं वाह्यदृष्टि। उन बाह्य पदार्थों में हम करते हैं राग, जिससे हम स्वयं लुट जाते हैं। आपने देखा होगा कि फागुन में होली के दिनों में लोग एक दूसरे पर रंग डालते हैं, तो वेरंग क्यों डालते हैं ? रागी हैं इसलिये डालते हैं। हम यह सज्जनों की नगरी की बात कह रहे हैं, अंधेर नगरी की बात नहीं कह रहे हैं। वहां तो अंधेर ही है। हम रागी हैं इसलिये संयोग सम्बन्ध ये सब मिले हैं। हम इस राग के कारण ही वैसा व्यवहार कररहे हैं और संसारी दुःखिया प्राणी बने फिर रहे हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(७) शान्ति के अलाभ का मूल कारण अज्ञान—सभी लोगों के सामने यह समस्या है कि शांति कैसे मिले और कष्ट कैसे दूर हों ? लेकिन इस समस्या के सुलझाने के लिये ज्यों-ज्यों प्रयत्न किये गये त्यों-त्यों समस्या और बढ़ती गई, समस्यायें दुगुनी होती गई, पर शान्ति प्राप्त न कर सके। तो शान्ति प्राप्त न होने का कारण क्या है ? कारण स्पष्ट है कि जो अशान्ति बढ़ाने के कारण हैं उनको ही किया। फिर शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? अशान्ति का कारण है मोह और शान्ति का कारण है ज्ञानरमण। बस इन दो बातों को समझ लीजिये। मोह का अर्थ है दो वस्तुओं का सम्बन्ध मानना, ऐसा ज्ञान रहना सो मोह है, जैसे घर मेरा है, परिजन मेरे हैं, वैभव मेरा है, इज्जत मेरी है, शरीर मेरा—इस प्रकार जो श्रद्धा होती है वह मोह भरी श्रद्धा है। कार्य का मोह। कुछ तो ऐसा है कि शरीर के बिना इस वक्त जरा रह न पायेंगे। इसे चाहिये भोजन। थोड़ा इससे राग करना पड़ता है। ठीक है, राग रहे पर मोह तो न रखो। शरीर मैं नहीं। शरीर निराला है मैं निराला हूं, ज्ञानमात्र हूं। शरीर जड़ है, उससे नेह न रखें। ओर बाकी जितने परक्षेत्र में रहने वाले पदार्थ हैं उनमें मोह राग किया जा रहा है। यह तो निपट अज्ञान है। व्यर्थ का मोह है भला बताओ—घर में जितने जीव आये हैं वे क्या पूर्वभव से साथ आये हैं ? उनके साथ मेरा कुछ सम्बन्ध है क्या ? मेरी अनुभूति से उनकी अनुभूति बनती है क्या ? कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं। अरे उनके साथ उनके कर्म लगे हैं, मेरे साथ मेरे कर्म लगे हैं। वे अपनी परिणति से सुख दुःख पाते हैं, हम अपनी परिणति से सुख दुःख पाते हैं। जरा सम्बन्ध का कुछ ढंग तो बताओ कि किस तरह आपका सम्बन्ध है ? कोई अधिकाधिक यह कहेगा कि मैं पिता हूं, वह पुत्र है, मैंने इसे पैदा किया तो भाई गलत है। आपने जीव को पैदा नहीं किया। जगत में जितने भी पदार्थ हैं यह बात अनादि से हैं, अनन्त काल तक रहेंगे। जीव पैदा नहीं किया जाता। आप यह कहेंगे कि चलो जीव तो पैदा नहीं किया शरीर तो पैदा किया। तो शरीर की बात ऐसी है कि इस जीव ने स्वयं वर्गणायें ग्रहण किया। निमित्तनैमित्तिक कारण में जो व्यवस्था है उसके अनुसार यह बना। इस में निमित्त माता पिता हुए। जड़ जड़ के निमित्त हुए, पर जीव के नहीं। इस देह जड़ से नेह भी कौन करता है ? पुत्र जब मर जाता है तो फिर उसके इस जड़ देह से कोई नेह नहीं करता। लोग इसे जला देते हैं। इस देह जड़ के पैदा करने में हम निमित्त हैं। इस जड़ देह से कौन प्रेम करता है ? जीव से किसे प्रेम उत्पन्न होता है ? तो वास्तविक जीव के प्रति कोई प्रेम नहीं करता। एक मात्र अशुद्ध पर्याय इसके प्रति मेरे मन की दृष्टि लगी है। यह व्यर्थ का मोह है। सभी जीव अपने कर्मों से सुख दुःख पाते हैं। कोई किसी को सुख दुःख देने में समर्थ नहीं। जब प्रत्येक जीव का कर्मोदय अपना-अपना है और उसके उदय में सुख दुःख पाते हैं तो यह बात कैसे रही कि मैंने उसे सुखी किया अथवा अमुक को दुःखी किया।

(८) भाव की संभाल का संकेत—भैया ! अपने भावको संभालो। कर्तृत्वभाव को हटावो। यह समझो कि किसी परकी परिणति में हम निमित्तमात्र हैं, वे सब अपनी परिणति से परिणम रहे हैं। वस्तु की स्वतंत्रता निरखो प्रत्येक वस्तु को निराला देखो। अपने को सबसे निराला दृष्टि में लीजिये और इस इन्द्रिय व्यापार को बन्द करके अपने आपके ज्ञानप्रकाश का अनुभव कीजिये। यह अनुभूति संक्लेश कोमिटाकर शान्ति उत्पन्न करेगी। बात तो इतनी है लेकिन किया जा रहा है मोह। मोह से ही तो दुःख उत्पन्न है और दुःख मेटने के लिये किया जा रहा है मोह। बस जब से मानव जीवन पाया है तब से लेकर अब तक यही काम किया। तब ही तो कहते हैं कि मैंने बहुत-बहुत काम किए। दुकान किया, फर्म खोला, ऐसा मकान बनवाया, इतने लड़के पढ़ाया…। भाई तुमने अनेक काम कहां किए ? कर्म में कर्तापन का विकल्प किया। एक अज्ञान का काम किया। तो संकट भी एक अज्ञानभाव से आता है और शान्ति ज्ञानभाव से प्राप्त होती है। तो जब आज तक कोई शान्ति न प्राप्त हो सकी इन उपायों के करने से, तो इस मोह की बात से तो मुख मोड़ो। कोई दूसरा उपाय सोचो जिसमें शान्ति मिल सकती है। कोई

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

समझदार गृहस्थ भी तो ऐसा करते है। किसी काम के करने में अगर १०—५ साल टोटा ही टोटा बना रहता है, नफा का काम नहीं होता तो वे उस व्यापार को छोड़ देते हैं, कोई दूसरा काम करने लगते हैं। जब अनादि काल से एक परको निज मानने के व्यवसाय में टोटा ही रहा, अनेक योनियों में जन्ममरण ही करना पड़ा तो जरा इस भव में श्रेष्ठ मनुष्यभव मिला। इसलिए कहा जा रहा है कि अब तो ऐसी अपनी श्रद्धा बना लीजिए कि इस मोह में शान्ति नहीं हो सकती। यह सब व्यर्थ का मोह है। जैसे सम्बन्धमयी बात में अड़कर रहना—मेरा तो यह ही हैं, जो है सो है मेरा लड़का ही है, इतना विकल्प कर रहे कि जो भी परिश्रम करेंगे धन कमायेंगे, जो भी करेंगे वह सब उनके लिए है खुद के लिए भी कुछ करना है इसकी चिंता नहीं। जो भी कमायेंगे सो इन बच्चों के लिए, दूसरों के लिए। अपने आपपर दया कभी नहीं किया। भावमय ही तो आत्मा है। भाव के संभालने से सब संभल जायगा। भाव संभल गया तो सब कुछ संभल गया। भाव नहीं संभला तो कुछ नहीं संभला। एकहि साधे सब सधै। अगर एक शुद्ध आत्मा दृष्टिगत हो जाय तो समझो सब कुछ संभल गया। शान्ति ही तो चाहिये। शान्ति इस उपाय से मिलती ही है, मगर सन्देह रखने वालों के लिये करें क्या? जिससे शान्ति मिलती है उससे मुख क्यों मोड़ना?

(६) दुर्लभ मानव जीवन की उपयोगिता—यह जीवन बड़ा दुर्लभ मिला है इसमें अगर हम आत्म साधना का काम बना लें तो समझो सर्व सिद्धियां पा लीं। संकटों से सदा के लिये आप छूट गये। और एक इस भव को ही खो दिया तो समझ लीजिये कि मैंने इतनी बरबादी का काम कर लिया कि बहुत काल तक भी सुलझने का मौका न आयगा। तो अपने आपके ज्ञान के लिये, अपने आपके रमण के लिये जितना हो सके उतना पौरुष कीजिये वह पौरुष है ज्ञानार्जन। आत्म ज्ञान स्वरूप है और ज्ञानस्वरूप आत्मा में ज्ञान द्वारा ज्ञानरमण करने का नाम स्वरूपाचरण है। तो ऐसे स्वरूपाचरण में भी समाधिभाव होता है और ऐसे स्वरूपाचरण में भी कर्मों के काटने की विधियां होती हैं। तो उस स्वरूपाचरण के पाने का उपाय क्या है? और उस स्वरूपाचरण में होता क्या है? तो पहले उपायों पर दृष्टि दीजिए। स्वरूपाचरण है एक अपने निज आत्मा के अंतरंग का काम, याने ज्ञान में ज्ञानस्वरूप का समाते रहना स्वरूपाचरण है। तो इन कामों को करने में कोई दूसरी शक्ति समर्थ नहीं है। किसी परपदार्थ का इसमें दखल नहीं है। यह स्वयं आत्मा ज्ञान द्वारा ही ज्ञान स्वरूप को ज्ञान में ले, यह काम पड़ा है। तो इसके करने में समर्थ ज्ञान ही है, इस ही ज्ञान का नाम प्रज्ञा है। तो जैसे दो चीजें मिली हुई हैं उनको हटाने के लिये छेनी हथौड़ा आदिक की जरूरत होती है तो यहां स्वभाव और विभाव दो मिले हुए हैं, मिले हुए नहीं हैं, किन्तु स्वभाव तो अनादि अनन्त है, और उस पर विभावों का आक्रमण होता है. तो ऐसे स्वभाव विभाव का भेदन करने का काम सबसे पहिले होता है तब स्वरूपाचरण हुआ करता है। तो भेदने के लिये ज्ञान की ही छेनी है, ज्ञान का ही हथौड़ा है, ज्ञान की ही चोट है। ज्ञान द्वारा स्वभाव विभाव का भेदन होता है, इसे कहते हैं परम पैनी छेनी। इसे अन्दर में डाल दिया, इससे भेदन कर दिया कि यह स्वभाव है, यह विभाव है। भेद कहां करना है? विभाव का स्वलक्षण और स्वभाव का स्वलक्षण। इनकी संधि बनी है तब ही संसार चल रहा है याने स्वभाव विभाव की संधि हो गयी, अत्यन्त निकट हो गये, इस संधि के बीच मे प्रज्ञा छेनी पटकना पड़ता है जिससे यह गृहीत स्वरूप निराला हो जाय और अपना सहज स्वभाव निरालाहो जाय। यह निराला होगा ज्ञानद्वारा। तोइस तरह वर्णादिकतो बहुत स्थूल भाव हैं, उनसे भीनिराला किया। और रागादि भाव से भी निराला किया। उस समय होता क्या है? जैसे प्रज्ञा-छेनी के द्वारा भेद न किया ऐसे ही प्रज्ञाकेद्वारा अपनेआपका ग्रहणकर लिया। उस समय ज्ञान द्वारा ज्ञानमें ज्ञानको पालिया। तोइसे कहते हैं निजमें निजके कारण से निज के द्वारा निज को ग्रहण कर लिया गया। उस समय की जो स्थिति होती है वह निर्विकल्प होती है। इतना निर्विकल्प होता है कि वहां आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में विचार ही नहीं चलता। पहिले तो यह विचार चलता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

था कि आत्मा गुणी है, ज्ञान गुण है। इस तरह से भेद करके विचार चलते-रहते, किन्तु इस विचार का भी अब वहां अवकाश नहीं है। वहां तो गुण गुणी में अन्तर न रहा। ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय में अन्तर न रहा। इतने बड़े विचार का वहां अवकाश ही नहीं है। जहां स्वरूपाचरण का अनुभव रूप प्रणमन हो रहा है वहां इतना भी अवकाश नहीं है कि यह ज्ञाता है यह ज्ञान है, यह ज्ञेय है। ज्ञान से जाना गया वह ज्ञेय है, ज्ञान ने जाना वही ज्ञेय है। इस तरह ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय का भी भेद नहीं रहता। इससे भी स्थूल बात थी—ध्यान, ध्याता, ध्येय। यह टिकेगा कहां? जहां ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय का विकल्प न रहे। ज्ञान मायने जो ज्ञान किया। ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय का जहां भेद न रहा वहां ध्यान ध्याता ध्येय का तो भेद ही नहीं रहता ध्यान, ध्याता, ध्येय का भेद करना तो कुछ और स्थूल भेद है। इसके साथ ही एक सूक्ष्म बात यह देखनी है कि वहां कर्ता कर्म क्रिया का भी भेद न रहा। भेददृष्टि से निरखा जा रहा था कि यह पदार्थ करता है, इसको किया और यह मेरी क्रिया है। ऐसा परद्रव्य का परद्रव्य में तो बहुत जल्दी लोगों की समझ में आता है। लेकिन परद्रव्य परका कर्ता होता ही नहीं है। स्व में देखना है कर्ता कर्म क्रिया—यह आत्मा कर्ता है चैतन्य भाव उसका कर्म है। और चैतन्य परिणति उसकी क्रिया है, लेकिन जब स्वरूपाचरण आदिक की उत्कृष्टता में एक अनुभूति दशा जगती है उस समय कर्ता कर्म क्रिया का भेद नहीं है और परिणाम रहता है। तो वहां चित्भाव तो कर्म हैं और चिदेश करता है और चेतना क्रिया है, यह भी वहां भेद नहीं रहता। ये ३ बातें अभिन्न हो जाती हैं।

(१०) **स्वरूपाचरणानुभूति में साधक की अखिन्नता**—स्वरूपाचरण के समय की जो दशा है वह खेदरहित होती है, वहां आकुलता नहीं रहती, इसे कहते हैं—राग त्यागि पहुंचू निज धाम, आकुलता का फिर क्या काम? यह दशा हो जाती है। यह अपने धाममें ऐसी बात करता है जहां राग सम्बन्धी कुछ भी विकल्प नहीं है, जो कि धर्म मार्ग में विचार के माध्यम से भी उठता था। उससे रहित होने से अब यहां आकुलता का कोई काम नहीं रह गया है। इस समय की जो दशा है वह है उपयोग की निश्चलता इस ज्ञान ने जाना किसे? स्थायी भाव को। चैतन्य भाव एक स्थायी भाव है। स्थायीभाव को स्थायीपरिणति ने जाना तो मगर स्थायी भाव को जानने के कारण स्थायीपने को प्राप्त हो गया। इस तरह वहां निश्चल अवस्था होती है। तो जहां भेद न रहा, उपयोग की निश्चल दशा प्रकट हुई है वहां पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र—ये तीनों एक रूप से शोभायमान होते है। वस्तुतः देखा जाय तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र—ये भिन्न-भिन्न चीजें नहीं हैं। जब गुणभेद ही नहीं है आत्मा में तो उन गुणों के स्वभाव पर्याय का भी भेद कैसे होगा? चीज है एक, और जब शुद्ध होती है तो वह एक परिणमन है। तो जिस परिणति के द्वारा श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र गुण का अन्तर कर दिया गया था, तो उस ही भेद दृष्टि से यह समझा जाता है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र, ये तीन स्वभाव पर्यायें होती हैं। लेकिन तीन कहां है? वस्तु एक अखण्ड है, तो परिणमन भी एक अखण्ड है। उस समय दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीनों एक ही प्रकार से शोभायमान होते हैं।

(११) **स्वरूपाचरणानुभव में प्रमाण नय निक्षेप का भी अनुद्योत**—स्वरूपाचरण की अनुभूति के समय प्रमाण, नय, निक्षेप का प्रमाण अनुभव में नहीं रहता, इस बात को समझने के लिये एक अध्यात्म पद्धति पर आयें। आत्मवस्तु एक अवक्तव्य अखण्ड है जिसे ज्ञायकस्वभाव के रूप में कहा है। अब उस ज्ञायकस्वभाव अंतस्तत्त्व के ९ भेद बताये गए हैं। लोगों को समझने के लिए इस ज्ञानस्वरूप की परख ये लौकिक जन कैसे करें? जीव, अजीव, आस्रव, बंध संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप, ये ९ तत्त्व अभूतार्थ कहे गए हैं, अर्थात् जब हम भूतार्थ पद्धति से इन ९ तत्त्वों को देखने चलते हैं तो यह अभूतार्थ हो जाता है। वहां ज्ञायक स्वरूपमात्र ही एक ज्ञान में रहता है। यह किस तरह? ये जो ९ भेद हैं यह है ज्ञायकस्वभाव। अंतस्तत्त्व को समझाने के लिए एक पर्याय का वर्णन है, भेद

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

का वर्णन है। तो इस भेद को जब हम भूतार्थ पद्धति से देखते हैं, भूतार्थ का अर्थ है—ये ६ पद कहां से आये ? अपने आप तो कोई पद है नहीं। इन ६ पदों का कोई स्रोत है, जिसके विवरण करके ६ पद दिखाये गए है। इसका स्रोत है एक अन्तस्तत्त्व। भूतार्थ पद्धति से जब इन ६ तत्त्वों को परखने चले तो वहां ६ तत्व नहीं रहे, वह है एक ज्ञायकस्वभाव। यह ज्ञायकस्वभाव अभी दृष्टि में तो है भूतार्थपद्धति में, मगर दृष्टि में रहते रहते यह ज्ञायकस्वभाव दृष्टि में नहीं रहता है, किन्तु एक ज्ञानस्वभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में ६ पदार्थों का भी उपदेश नहीं रहता। इसी प्रकार देखो कि प्रमाण की चीज क्या है ? ज्ञान का ही एक पर्याय प्रमाण है, कोई परोक्ष प्रमाण है और कोई प्रत्यक्ष। जब भेद दृष्टि करते हैं तब ही प्रमाण का स्वरूप सामने रहता है, किन्तु जब भूतार्थ पद्धति से देखने चले इस प्रमाण को तो प्रमाण का स्रोत क्या है ? प्रमाण तो परिणति है प्रमाण का स्रोत है एक ज्ञानस्वभाव। अब ज्ञानस्वभाव स्रोत दृष्टि में रहा, प्रमाण अभूतार्थ रहा। यह ज्ञानस्वभाव भी दृष्टि में न रहा, एक परिणमन रहा। इसी प्रकार नय भी एक वस्तु है। ज्ञान का जो परिणमन है, अंशरूप जो जानन है उसका नाम नय है, तो नय भी अभूतार्थ है। जब अभूतार्थ पद्धति से देखा तो यह नय क्या है ? ज्ञान के अंश। लो ज्ञान मुख्य हो गया अंश गौण। अभी तो दृष्टि में रहा तब तक विकल्प है और दृष्टि में ज्ञान जब रहता है तो उसका प्रभाव ऐसा होता है कि यह ज्ञान है, ज्ञानस्वभाव है, यह विकल्प भी समाप्त हो जाता है। उस समय होता है ज्ञानपरिणमन। उस स्थिति में नय का भी उद्योत नहीं रहता। इसी प्रकार नय भी क्या चीज है ? ज्ञान की ही परिणति का नाम ध्यान स्थापन करना। भेद पर्याय की बात को वर्तमान में कहना—यह सब क्या है ? ज्ञान की हीतो कला है। इसे जब भूतार्थ विधि से देखते है तो यह गौण हो जाता है और जब ज्ञानस्वभाव दृष्टि में आता है तो उसे कहते हैं ज्ञानपरिणति की दशा। उस अनुभूति में निक्षेप का भी अंश नहीं रहता। उस समय आनन्द भोगेगा। आनन्द भोगने के बाद फिर किसी के दशा आती है चिन्तन की।

(१२) **स्वरूपाचरण की अबाध्यता**—यह स्वरूपाचरण छठे ७ वें गुणस्थानों में चलने वाले मुनियों के कहा जा रहा है। उस अनुभूति में था और स्वरूपाचरण में था तब यह निश्चल था। स्वरूपाचरण से कुछ थोड़ा अनुभूति की परिणति से हटकर कुछ सोचने में आये तो वहां यह परिणमन चलता है कि यह तो मैं दर्शन ज्ञान आनन्दमय शक्ति हूं। मेरे मे अन्य भाव नहीं है, मैं ही साध्य हूं, मैं ही साधक हूं। यह सांध्य साधक का विकल्प करता रहता है। जैसे कोई पुरुष मोटी स्वादिष्ट चीज खाते समय गप्पें नहीं लगाता, एक रस होकर आनन्द लेता है, फिर अपने आप में वह उसका गुण पाता है। तो वह निरख रहा है कि मैं साध्य हूं, साधक हूं, अबाधक हूं कर्म से। कर्म मेरे कुछ बाधा नहीं पहुंचा सकते। कर्मफल मेरे कुछ बाधा नहीं पहुंचा सकता। क्योंकि एक ज्ञान दृष्टि द्वारा ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्व को ज्ञान में लिया है तो वहां भीतर का एक शुद्ध जाननस्वभाव चलता रहना है। उसमें किसी का दखल नहीं। जैसे आकाश में कोई बाधा डाल सकेगा क्या ? नही डाल सकता। वह तो निर्लेप है, इसी तरह इस आत्ममत्त्व में कोई बाधा डाल सकेगा क्या ? बाहरी बाधा कोई नहीं डाल सकता किन्तु अपने आपमें विकल्प उत्पन्न करके अपना मूर्तरूप बनाकर सविकल्प हो रहा था। जहां विकल्प नहीं हो रहा था वहाँ शतप्रतिशत ज्ञानभाव बन रहा है। ना ऐसे उस कर्म और कर्मफल से भी बाधा रहित हूं। हूं—क्या हूं ? ज्ञानपुञ्ज। एक गुण का कारण और समस्त कलकों से रहित हूं। इस प्रकार का चिन्तन होता है और चिन्तन करके जो दशा बनायी थी ज्ञानभाव प्रगट हुआ था। उसमें जो आनन्द प्राप्त होता है वह आनन्द संसार के किसी भी पुण्यवान को नहीं मिलता और उस आनन्द के प्रताप से चार घातिया कर्मों का विनाश होता है और अनन्त आनन्द की दशा प्रकट होती है। इस तरह हम सबका भला करने वाला यह स्वरूपाचरण है, जिसको हम न कर सकें तो ध्यान में तो रखें, श्रद्धा में तो रखें। मेरे करने को यही काम है और किसी समय आंशिक यह स्थिति प्राप्त हो जाय और अपने जीवन में इसकी सुध बनाये रहें तो यह अनुभूति हम आप सबके दुःख दूर करने में समर्थ है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(१३) स्वभाव दृष्टि में समस्याओं की समाप्ति—केवल एक ही समस्या है कि संसार में भटकते भटकते अनन्त काल व्यतीत कर लिया, जन्म मरण के चक्र में पड़कर अपने को बरबाद कर लिया। अब किस प्रकार हम बरबादी से बचें और हमें कैसे शान्ति मिले, कैसे हम अपने सत्य आनन्द को प्राप्त करें, इस पर कुछ विचार तो करें केवल एक यही खास बात सामने है, बाकि सब बातें जो प्राय: मनुष्य सोचते है वे कोई खास बातें नहीं हैं। मान लो आप धनिक बन गये तो उससे आपके आत्मा को क्या लाभ मिलेगा? न तो इस ही भव में लाभ मिलेगा और न परभव में भी लाभ मिलेगा। बात ऐसी है कि जगत में जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपनी-अपनी जुदी-जुदी सत्ता रखते हैं। वे हैं और परिणमते हैं। जगत के सभी पदार्थ हैं और परिणमते है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं कर पाता। प्रत्येक द्रव्य का सत्त्व जुदा है, उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जुदा है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ की परिणति नहीं करता। यदि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ की परिणति कर सकता होता या कोई द्रव्य किसी द्रव्य का परिणमन करता होता तो आज जगत में शून्य होता, कुछ भी न रहता। एकने दूसरेको परिणमाया तो न वह खुद ही रहा और न जिसे परिणमाया वह ही रहा। इस तरह अगर कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का कर्ता होता तो जगत शून्य होता। जगत है, सबका सत्त्व दिख रहा है, यही इस बात का प्रमाण है कि प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना सत्त्व रखता है। यह सारी विषम व्यवस्था क्यों चल रही है? हम अनादि से अशुद्ध चले आ रहे हैं, इसका कारण क्या है? हम सुख दुःख क्यों पाया करते हैं। तो इन सब बातोंको सोचना पड़ेगा और जो उसका कारण है उससे हमें हटना होगा। प्रथम बात तो यह है कि पहिले अपने आपका सही स्वरूप जानना होगा। मैं वह हूं जो अपनी सत्ता के कारण अपने आप में निरपेक्ष सहजभाव रख रहा हो। मैं वह हूं जो ध्रुव है, अनादि अनन्त अहेतुक है। ऐसा मैं क्या हूं? एक चैतन्यस्वभाव, एक ज्ञानस्वभाव। अब इसमें कोई विपरीत बात आ रही हो, जैसे रागद्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय इच्छा, ईर्ष्या आदिक जो कुछ भी इसमें विभाव आ रहे हों, विकार आ रहे हों उसमें कोई विपरीत वस्तु का सन्निधान है। उस सन्निधान में ये विभाव बनते हैं अन्यथा अर्थात् किसी भी विपरीत वस्तु का सन्निधान न हो, उपाधि न हो तो विभाव नहीं बन सकता। देखिये अपने आपको चाहिये स्वभावदृष्टि या अपने आपको स्वभावदृष्टि में लें; जिसके आश्रय से अनन्त आत्मशुद्धि होती है। उस स्वभाव का स्वरूप शुद्ध होता है। उस स्वभाव का आश्रय करने के लिये आप दृष्टियों का, सभी नयों, का सदुपयोग कीजिये।

(१४) निमित्तनैमित्तिक भाव, परिणतिस्वातंत्र्य व स्वरूप परिचय से आत्मानुशासन की शिक्षा—निमित्तनैमित्तिक भाव और वस्तुस्वातंत्र्य—ये दो प्रसंग हैं अपने सामने। निमित्तनैमित्तिक भाव न होता तो विभाव न हो सकते थे। वस्तुस्वातंत्र्य न होता तो पदार्थ की सत्ता नहीं रह सकती थी। तो हो क्या रहा है? कर्मोपाधि के सम्बन्ध में यह मैं आत्मा अज्ञान से रागद्वेषरूप परिणमन कर अपने आपकी परिणति से नाना प्रकार का विचित्र बन रहा हूं। तब हमारा कर्तव्य क्या है? हम परवस्तु से किस प्रकार हटा सकेंगे? परकी सत्ता परमें है, उस पर मेरा क्या अधिकार है? मेरा अधिकार इसपर है कि मैं अपने ज्ञानस्वरूपकी सभाल बनाऊं। देखो जब हम अपनी संभाल नहीं बनाते तब बाहरी उपाधियोंका सन्निधान जमता रहता है। हम अपनी संभाल बनायें तो बाहरकी खराबी दूर हो जायगी। हम इन कर्मोंका क्षय कैसे करें? ये कर्म आंखों दिखते भी नहीं हैं। दिख भी जायें तो उन पर अधिकार क्या है? क्या मैं उनकी कुछ परिणति बना दूंगा? नहीं बना सकता। जिन कर्मफलों की आस्था हम करते हैं उनका हम आदर न करें। एक अपने उस ज्ञानस्वरूप का आदर करें तो ये सारी बाहरी उपाधियां दूर हो जायेंगी। हमारा कर्तव्य क्या है कि हम अपने आपके सहज ज्ञानस्वभाव की प्रतीति बनाये रहें।

(१५) श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र के समीचीन योग के पौरुष की आवश्यकता—देखो प्रतीति बिना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कोई नहीं है, सब में प्रतीति बनी है मगर किसी में कुछ प्रतीति बनी है किसी में कुछ। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र इन तीन गुणों के बिना कोई जीव नहीं है। चाहे कोई जीव एकेन्द्रिय हो चाहे पंचेन्द्रिय हो, चाहे संसारी जीव हो, चाहे सिद्ध भगवान का जीव हो, वे सब श्रद्धा ज्ञान और चारित्र गुण वाले हैं और श्रद्धा ज्ञान चारित्र का कोई न कोई परिणमन उनके होता रहता है। तब हो क्या रहा है कि जो अज्ञानी जीव हैं उनको तो श्रद्धा गुण का परिणमन इस रूप में हो रहा है कि जो देह पाया उसे मान लेते कि यह जो देह है सो ही मैं हूं। तो यह तो एक अहंकार हुआ। क्योंकि जो मैं नहीं हूं उसे माना कि यह मैं हूं। इसी अहंकार के कारण समस्त अज्ञानी प्राणी बरबाद हो गये। जहां इस शरीर को माना कि यह मैं हूं तहां ही इसके सारे नटखट अटपट चलने लगे। इस शरीर में पायी जाने वाली इन्द्रियों में इसकी प्रीति जगी। इन बाहरी पंचेन्द्रिय के विषयों में रमता है। यही मैं हूं—इस प्रकार की बुद्धि हो जाने से इसके विषय में प्रीति जगती है, रिश्तेदारी शुरू हो जाती है। बाहरी पदार्थों का समागम शुरू हो जाता है, उनमें इसका लगाव होने लगता है। देखो देखने में गल्ती जरा सी ही लगती है बल्कि यों लगता है कि मैं कोई गल्ती नहीं कर रहा हूं। किसी से झूठ नहीं बोल रहा, किसी की हिंसा नहीं कर रहा, किसी की चीज नहीं चुराता, कोई कुशील वगैरा नहीं कर रहा, मगर उस जरा सी गल्ती का दण्ड क्या मिल रहा कि कीट पतिंगा, पशु, पक्षी पेड़ पौधे आदिक नाना कुयोनियों में जन्म मरण के चक्कर लगाना पड़ रहा है। अपराध नाम है किसका? राधा जहां अपगत हो गई है उसे कहते हैं अपराध। यानि जो पुरुष आत्मस्वभाव से रहित हो गया है ऐसा पुरुष निरन्तर अपराधी है। मोह से बढ़कर और क्या अपराध कहा जाय? उतना बड़ा कोई अपराध नहीं जितना बड़ा मोह है। तो परपदार्थ जो प्रयोजन में आ रहे हैं उनके प्रति राग तो होता है, मगर मोह में तो निरन्तर अज्ञान बसा रहता है। पुत्र है सो मैं हूं, अगर यह न रहा तो मेरे प्राण नहीं टिक सकते। मैं तो बरबाद हो जाऊंगा, यह स्थिति होती है मोह में। मोह न हो तो भी राग रह सकता है। यहां एक दृष्टान्त ले लो—जैसे कोई सेठ बीमार हो गया तो उसे दवा कराने के लिये अच्छा कमरा चाहिये, अच्छा पलंग चाहिये, डाक्टर चाहिये, दवा चाहिये, सेवा करने वाले नौकर चाहियें। यदि इन बातों में कुछ कमी हुई तो सेठ झुंझलाता है, कदाचित् डाक्टर के आने में, दवा मिलने में कुछ देर हो जाय तो वह सेठ झुंझलाता है। कुछ ऐसा लगता है कि उस सेठ को डाक्टर, दवा, पलंग आदि से बड़ा मोह है, पर जरा बतलावो उस सेठ को उनसे मोह है क्या? यदि मोह होता तो वह सदा यही श्रद्धा रखता कि ऐसी दवा, ऐसा डाक्टर ऐसा नौकर, ऐसा पलग, ऐसी सेवा, ऐसी पूछताछ मुझे जिन्दगी भर मिलती रहे। अरे वह उन सब के प्रति बड़ा अनुराग दिखाता है, पर उसकी आन्तरिक भावना यही रहती है कि मैं कब ठीक हो जाऊं, कब इन झंझटों से छुटकारा पाऊं और कब मील दो मील घूम लिया करूं? तो देखिये उस सेठ के मोह तो नहीं है दवा, डाक्टर आदि से, पर राग जरूर है। तो राग और मोह में अन्तर है। घर में रहकर भी राग तो रहेगा, पर मोह को दूर करके रहा जा सकता है। इस मोह के कारण अपने स्वरूप की सुध नहीं होती। मोह कहते हैं पर को अपनाने को भला बतलाओ इस मोह से कुछ लाभ भी मिलता है क्या? कदाचित् घर गृहस्थी के बीच रहना पड़ता है तो रहो, उनमें राग करना पड़ता है तो करो, मगर मोह न रखो। आप गृहस्थी के बीच रहेंगे तो आपको दूकान भी करनी होगी, सब प्रकार के काम धन्धे भी करने होंगे, सबके साथ अनुराग भी करना होगा, तो ठीक है करें, मगर मोह तो न रखें। तो अपना एक यह संकल्प बनायें कि मुझे मोह नहीं रखना है, अज्ञान नहीं रखना है। मुझे तो जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा मानना चाहिये।

(१६) स्वरूप के दर्शन और आलम्बन के उपाय की सरलता—देखो सीधी सी बात है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र सत् है, अपने आप में उत्पाद व्यय किये चले जा रहे हैं। भले ही जो विभाव होते हैं वे निमित्तसन्निधान से होते हैं। निमित्त बिना विभाव नहीं होते फिर भी निमित्त परिणति नहीं करता। ऐसा ही स्वरूप है, ऐसा ही

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

निमित्तनैमित्तिक भाव है कि योग्य उपादान अपनी परिणति से अपने आप में अपना प्रभाव बनाता चला जाता है, ऐसा एक योग है, लेकिन वस्तुस्वातंत्र्य ऐसा है कि प्रत्येक वस्तु अपने आप में अपना परिणमन करता है। वस्तु की स्वतंत्रता न हो तो उसका सत्त्व टिक न सकेगा। अपने आपको पहिचानना एक खास जरूरी चीज है। अपना महत्व समझना, अपने में सार देखना, यह एक बड़े ज्ञान की बात है। देखो लोग बारह भावना भाते हैं कि ये सब विनाशीक हैं, लेकिन सबको विनाशीक विनाशीक देखते रहने से क्या पूरा पड़ेगा ? घबड़ाहट आ जायगी। अरे विनाशीक की भावना तो ठीक है लेकिन साथ ही यह भी तो जान लें कि मेरा जो स्वरूप है, वह शाश्वत है, अविनाशी है, नित्य है, वह कभी मिट नहीं सकता। अपने आपके नित्य स्वरूप की भी सुध साथ-साथ रहे तो अनित्य भावना कार्यकारी रहेगी, अन्यथा अनित्य की भावना भाते भाते अपनी कुछ भी सिद्धि न बनेगी। यों ही अशरण भावना भाते हैं तो कहते हैं कि संसार में मेरा कोई सहाय नहीं, शरण नहीं। यों भावना भाना तो ठीक है, लेकिन यही भावना भाते रहने से तो घबड़ाहट आ जायगी। यह अशरण भावना भाना तभी सार्थक है जब कि साथ ही साथ अपने आपके सत्य शरणभूत शाश्वत अपने भगवान आत्मा की सुध रहे। इसी प्रकार संसार भावना में आप यही विचार करते हैं कि इस संसार में कोई सार नहीं है, सब बेकार है, लेकिन साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रहे कि मेरा जो सारभूत आत्मतत्त्व है उसकी भी सुध बनी रहे। उसकी बराबर सुध बनी रहे तभी अपना काम बनेगा। तो देखते हैं कि अपने आपके ध्रुव सारभूत स्वतः सिद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व को यही एक काम करने को पड़ा है। वहां भी करना क्या है ? जैसे कोई कारीगर पाषाण की मूर्ति बनाता है तो वहां वह क्या करता है ? क्या बाहर से कुछ चीजें ला लाकर उसमें जोड़ता है ? अरे वह उसमें लगाने का कुछ काम नहीं करता बल्कि उसमें हटाने का काम करता है। उस मूर्ति का आवरण करने वाले जो पाषाणखण्ड है उनको वह हटाने का काम करता हैं। उन पाषाण-खण्डों के हटाने का साधन है छेनी हथौड़ी। तो अपने आपमें देखो—इस परमात्मतत्त्व को प्रकट करने के लिये करना क्या पड़ेगा ? क्या कोई बाहरी चीजें लानी पड़ेंगी ? नहीं। अरे इस आत्मस्वरूप को ढकने वाले जो विषय कषाय आदिक के आवरण हैं उनको हटाने का काम करना पड़ेगा। इनको हटाने के लिये साधन क्या चाहिये ? साधन चाहिये सत्यज्ञान की ही छेनी और इस ही विवेक प्रज्ञा की हथौड़ी। इस ही ज्ञान की छेनी और हथौड़ी के द्वारा ये परमात्म स्वरूप को ढकने वाले विषय कषायादिक आवरण हटा दिये जायेंगे। बस अपना वह परमात्मत्व प्रकट हो जायगा। अपने करने को एक यही काम पड़ा है, बाकी सब बेकार काम हैं। अपने आपका स्वभावदर्शन करें।

(१७) आत्मस्वभाव की उपलब्धि में प्रभुभक्ति के विधान का महत्त्व—इस जगत में अपने कल्याण के लिये जो अपना आत्मस्वभाव महत्त्व रखता है उसकी सुध करें। अन्य किसी चीज की इच्छा न करें। स्त्री मुझे सुख दे, भगवान मेरा दुःख मेट दे, यों याचना करने से कोई सुख न दे देगा, किन्तु ज्ञानवीर बनने से परमात्मा के स्वरूप का स्मरण करके अपने आपमें ऐसा उत्साह लावें कि जो परमात्मा का स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है—मैं वह हूं जो हैं भगवान जो मैं हूं वह हैं भगवान। यों भगवान का स्वरूप और मेरा स्वरूप समान है। अन्दर में तो समान है, लेकिन बाह्य में विषमता है। अन्तर यही ऊपरी जान। वे विराग यह राग वितान॥ केवल एक बाहरी अन्तर है और कोई अन्तर नहीं। तब ही तो शुद्ध निश्चयनय का बड़ा महत्त्व बताया गया है। उस स्वभाव का दर्शन करने के लिये हम केवलज्ञानमात्र अनन्त आनन्दमय शुद्ध ज्ञाता दृष्टा स्वरूप विचारते हैं जीव स्वभाव के अनुरूप ही। उस समय पर्याय दृष्टि नहीं रहती। जब अपना स्वभाव सामने आता है तो वह व्यक्ति तो छूट जाता है और स्वभाव ही दृष्टि में रहता है। स्वभावदृष्टि में परव्यक्ति तो हट गया। खुद कैसे हटे, इसलिये खुद पर दृष्टि जाती है। यही एक प्रभुभक्ति का रहस्य है। प्रभु भक्ति का प्रथम चरण क्या है ? शुद्ध पर्याय का स्मरण, ज्ञान की शुद्ध स्थिति का स्मरण और उसका द्वितीय चरण क्या है ? जो शुद्ध स्थिति है, जिस स्थिति के समान होने में स्वभाव

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

की वासना बनी और वह परिणति ओझल हो गई। तीसरा चरण क्या है कि जब स्वभाव दृष्टि में रहता है तो वह व्यक्ति छूट जाता है। पर व्यक्ति दृष्टि से हट जाता है। केवल स्वभाव दृष्टि में रहता है। तो चौथा चरण क्या बनता है कि जब केवल स्वभाव दृष्टि में रहे और परव्यक्ति छूट गया दृष्टि से, तो जो स्वभाव दर्शन कर रहा है वह व्यक्ति तो नहीं छूटा, वह तो रहेगा ही। तब ही स्वभाव अपने आपके स्वभाव में रमण कराकर स्वभावस्मरण इसकी पूर्ति कर देता है। भगवद्भक्ति का यह रहस्य है। तो भगवद्भक्ति भी हम आपको प्रयोजक है। साथ ही असहयोग भी प्रयोजक है। जो जो भी हमारे विभाव के आश्रयभूत बनते हैं उन पर असहयोग कीजिये। वास्तविकता यह है कि कोई भी बाह्यपदार्थ मेरे में रागादिक भाव नहीं उत्पन्न कराता। हम ही अज्ञानता से किसी परवस्तु को अपने उपयोग का विषय बनाकर रागद्वेष की मुद्रा बनाया करते हैं, हम बाह्य वस्तु को मात्र जान लें, कोई भी परवस्तु मेरा विरोधी नहीं, मुझे क्रोध बनाने वाला नहीं। बाह्य पदार्थ तो जहां के तहां पड़े हैं। वे तो आश्रयभूत हैं। हम ही उनका आश्रय करके अपने में क्षोभ उत्पन्न करते हैं, अपने में विषमतायें उत्पन्न करते हैं, हम उनका आश्रय न ग्रहण करें, ऐसी प्रबल भावना करिये। हम आश्रय करेंगे स्वभाव का, जिसका आश्रय करने से संसार के सारे संकट दूर होते हैं। हम तो उसका आश्रय करेंगे। ऐसी एक अपनी भावना बनाइये।

(१८) तत्त्वदर्शन में नयों की उपयोगिता—भैया! वस्तुत्व समझने के लिये आप दो पद्धतियां सामने लीजिये—एक पद्धति है शुद्धनय की, दूसरी है अशुद्धनय की। समस्त नयों का परिज्ञान हम आपके लिये लाभदायक है। उसका ज्ञान उस ढंग से करना है जिस ढंग में हम विभावों से छुटकारा पाकर स्वभाव को दृष्टि में ले सकें। शुद्धनय कहते हैं शुद्ध अखंड तत्त्व को दृष्टि में लेने को। जैसे मुझ आत्मा में एक अखण्ड ज्ञायक भाव वह शुद्धनय का विषय है। उसे भूतार्थ कहते हैं, परमार्थ कहते हैं और भेद जहां किया जाता है, जहां ७ तत्त्वों का भी भेद आये, ६ पदार्थों का भेद आये, किसी प्रकार का भेद आवे वह सब अशुद्धनय कहलाता है। तो मूल बात यह है कि अशुद्धनय से छूटकर शुद्धनय का आश्रय लें। जिसे कहते हैं कि जो भूतार्थ की दृष्टि करता है वह सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि के तो सभी नय हैं। व्यवहारनय भी सम्यग्दृष्टि का प्रयोजक है। जैसे व्यवहारनय प्राक्पदवी में प्रयोजक है, इस व्यवहारनय की कृपा से जब हम एक शुद्धनय के विषयभूत अखंड तत्त्व को जानने की योग्यता पा लेते हैं उस समय हम शुद्धनय को दृष्टि में लेकर एक शुद्ध को पाने का पौरुष करें। दूसरी पद्धति क्या है निश्चय व्यवहारनय की। निश्चयनय का यह भाव है कि उस ही द्रव्य को उस ही द्रव्य की बात को उस ही में निरखना, किसी परवस्तु का यहां सम्बन्ध नहीं होता। यह निश्चयनय दृष्टि की आन है। व्यवहारनय किसी परवस्तु का सम्बन्ध बनाकर बात करेगा। तो निश्चयनय में तीन प्रकार होते हैं—शुद्धनिश्चयनय, परम शुद्धनिश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय। अशुद्ध निश्चय से जीव अशुद्ध देखा जाता है, जहां शुद्ध निश्चयनय को दृष्टि में निरखा जाता है, जहां अपना ज्ञानस्वभाव दृष्टि में रखा जाता है। जहां देखा जाता है कि भगवान केवल ज्ञानी हैं, अनंत दृष्टा हैं। जो पर्याय है वह हमारी दृष्टि में न हो, जहां केवल शुद्ध पर्याय ही दृष्टिमें हो वह शुद्ध निश्चयनय है। परमशुद्ध निश्चयनयका विषय यह है कि जहां भूतार्थनय है यानेजहां मात्रशुद्धस्वरूपही दृष्टिमें है, उसेकहते हैं परमशुद्धनिश्चयनय। अब अशुद्ध निश्चयनयकी बात देखिये-यह जीव होता रागद्वेष रूप परिणम रहा है, यही अशुद्ध निश्चयनय है। इसका फल क्या है कि बाह्य पदार्थकी दृष्टि छोड़ें, उपाधि की दृष्टि छोड़ें। जैसे हम देखते हैं कि चार लड़के हमारी पीठ के पीछे खड़े हैं, हमारे मुख के सामने दर्पण है। उस दर्पण में उन लड़कों की छाया पड़ती है। हम लड़कों को नहीं देखते, देखते हैं दर्पण को, पर वर्णन करते जाते हैं उन लड़कों का। इसी तरह हम जीव की अशुद्ध पर्याय को तो भले ही तक रहे मगर निमित्त को आश्रय को नहीं तक रहे हैं। ऐसी स्थिति में कब तक पर्याय का आश्रय करेंगे, वह उससे छूट जायगा, स्वभाव की ओर आ जायगा। अशुद्ध निश्चय दृष्टि का भी उपकार स्वभाव दृष्टि कराने का है। अब जरा व्यवहार नय की बात देखिये देखो जो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

विभाव उत्पन्न हो रहे हैं वे पुद्गल कर्म के विपाक काल में ही रहे हैं, उनके विपाक के सन्निधान में हो रहे हैं। चूंकि पदार्थ के निमित्त बिना नहीं होता है इसलिये ये मेरी चीज नहीं हैं। ये नैमित्तिक हैं, इनसे मैं निराला हूं। क्या हूं निराला? वह एक ज्ञानस्वभावरूप। व्यवहारनय का प्रयोग भी करें, स्वभावदृष्टि बनें। हमारा सब तरह का जो ज्ञान होता वह केवल इस प्रयोजन के लिये होता कि मैं स्वभावदर्शन करू। हम स्वभावदृष्टि पायें केवल एक ही काम है। जितने क्षण हम अपने ज्ञान में स्वभाव को लिये होंगे उतने क्षण तो हम सही हैं, शांत हैं। तथ्य में हमारा सच्चा कदम हो और जिस क्षण हम स्वभाव के ज्ञान को छोड़कर अन्य बाह्य पदार्थों के ज्ञान के उपयोग में लगते हैं उतने क्षण हम लुट जाते हैं।

समाधितन्त्र में बताया है कि "आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरं, कुर्यादर्थवशात्किञ्चित् वाक्कायाभ्यामतत्पर:।" एक इस आत्मज्ञान को छोड़कर कुछ भी कार्य करने योग्य नहीं। अगर वे बुद्धि में आते हों तो चिरकाल तक वह कार्य मत करो। कुछ क्षण तो आये, फिर उससे हटकर एक आत्म ज्ञान की ओर लगें और कुछ कार्य करने भी पड़ें परिस्थितिवश तो वचन और काय से कर लें, मगर मन से इनमें तत्पर मत हों। यह कला स्वभावपरिचय में अपने आप आ जाता है। मुझे क्या करना चाहिये, किससे हटना चाहिये, किस ढंग से रहना चाहिये, यह सब एक स्वभाव परिचय में अपने आप आ जाता है। यह भावना हो, यह प्रतीति हो कि मैं तो सबसे निराला एक ज्ञानमात्र हूं। तब सब चरण कला आ जावेगी। जैसे बुन्देलखण्ड का एक दृष्टान्त है। वहां पर एक छत्रशाल नाम के राजा हो चुके हैं बताते हैं कि उन का पिता उनके बचपन में ही गुजर गया था। तो राजमाता ने क्या किया था कि राज्य का कार्यभार गवर्नमेन्ट को सौंप दिया था। गवर्नमेन्ट से कुछ खर्च मिलता रहा। जब छत्रशाल बड़े हुए तो राजमाता ने गवर्नमेन्ट को लिखा कि मेरा बेटा अब संयाना हो चुका है, इसलिये मेरा राज्य मेरे बेटे के सुपुर्द कर दिया जाय। गवर्नमेन्ट के किसी साहब ने राजकुमार छत्रशाल को उसकी बुद्धि की परीक्षा के लिये बुलाया। राजमाता ने राजकुमार छत्रशाल को बहुत कुछ समझाया। देखो बेटा! साहब यह पूछे तो यह जवाब देना, यह पूछे तो यह जवाब देना। यों दसों बातें समझा दिया। पर राजकुमार बोला-मां यदि इतनी बातों में से कोई बात साहब न पूछे, कुछ और ही पूछे तो फिर हम क्या जवाब देंगे? तो राजमाता अपने बेटे की उस तर्कणा भरी बात को सुनकर बहुत प्रसन्न हुई और बोलीं, बेटा अब मैं समझ गई—जब तुम इतना तर्क कर सकते हो तो फिर साहब जो चाहे पूछे, तुम अवश्य ही उत्तर देकर आवोगे। आखिर हुआ भी ऐसा ही। जब राजकुमार साहब के पास पहुंचा तो साहब ने पूछा तो कुछ नहीं, पर दोनों हाथ पकड़ लिया, और कहा—देखिये राजकुमार अब तुम हमारे आधीन हो गये, बताओ तुम क्या कर सकते हो? तो राजकुमार ने अपनी तर्कणा बुद्धि से बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। कहा—महाराज मैं तुम्हारे आधीन नहीं हूं, तुम हमारे आधीन हो। अब मुझे क्या परवाह? अब तो मैं पूर्ण रक्षित हो गया। यहां बन्धन की क्या बात? कैसे?...देखिये महाराज—जब किसी की शादी होती है तो वह भांवर पड़ते समय उस लड़की का सिर्फ एक हाथ पकड़ता है। एक हाथ पकड़ लेने पर उसे उस लड़की की जीवन भर सेवा करनी पड़ती है। आपने तो मेरे दोनों ही हाथ पकड़ लिये, फिर मुझे किस बात की चिन्ता? मैं तो अब पूर्ण रक्षित हो गया। पराधीन तो आप हो गये। राजकुमार का तर्कणाभरा उत्तर सुनकर साहब बहुत प्रसन्न हुआ और उसे उसका राज्य दे दिया। तो कहने की बात तो यह है कि स्वभाव दर्शन की कला एक ऐसी अनूठी है कि जो एक बार भी स्वभावदर्शन करले सब कला आ जाती हैं, जिसके प्रसाद से भव-भव के संकट दूर हो जाते हैं। स्वभाव दर्शन की कला आ जाने से अन्य सब कलायें अपने आप आ जायेंगी। स्वभावदर्शन की कला यही है कि अपना आत्मस्वरूप अपनी दृष्टि में रहे, वही अपने उपयोग में रहे, अन्य समस्त परका विकल्प हटे। स्वभावदर्शन पाने के लिये हमको क्या करना चाहिये? हमारे कर्तव्य तीन हैं—प्रभुभक्ति, सत्संग और सदाग्रह। प्रभुभक्ति में स्वभाव के अनुरूप विकसित

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

शुद्ध पर्यायका दर्शन होता है। उसमें शुद्ध पर्याय गौण होकर स्रोत स्वभाव मुख्य हो जाता है और फिर व्यक्तित्व भी छूटकर मात्र स्वभावदृष्टिमें रहता है।

(१६) तत्त्वदर्शनके उपायभूत असहयोग व सत्याग्रहकी झांकी—तत्त्वदर्शनके उपाय में दूसरी बात है असहयोगकी। एक इस ज्ञानपुञ्ज आत्मस्वरूपके अतिरिक्त समस्त परपदार्थोंका असहयोग करें—ये समस्त परपदार्थों दूर हटो, तुम्हारा यहाँ काम नहीं, तुम्हारे प्रति मेरे अन्दर रंच भी विकल्प तक न हो। ये समस्त पदार्थों हटो, तुम मेरे कुछ नहीं हो, मैं तो मात्र ज्ञानज्योतिस्वरूप है, कोई भी परपदार्थ मेराकुछ नही लगता। यों ज्ञानीपुरुष समस्त परपदार्थोंको अपनेसे भिन्न देखता है। वह जानता है कि संसारके समस्त जीव कीट पतिंगा पशु पक्षी आदि जितना मेरेसे भिन्न हैं उतने ही भिन्न ये मेरे घरके लोग हैं। एक ज्ञानी गृहस्थ घरमें रहता है, पर उसकी श्रद्धा विपरीत नहीं होती है। उसकी श्रद्धामें यही बात रहती है कि ये परिवारके लोग मेरे कुछ नहीं हैं, ये सब मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं। देखिये— लोग दूसरेकी गलती तो बड़ी जल्दी समझ जाते हैं—देखो यह व्यर्थ ही इनमें मोह कर रहा, व्यर्थ ही इनके पीछे हैरान हो रहा, पर स्वयं क्या गल्ती कर रहे हैं इस ओर कुछ ध्यान ही नहीं जाता। तो जैसे कोई पुरुष दूसरेकी भूल, दूसरेका अज्ञान, दूसरेके विकारको ठीक समझ सकता है और उससे भिन्न अपनेको समझ सकता है, ऐसे ही अपने आपमें उठने वालेये क्रोध, मान,माया, लोभादिक कषायों, अज्ञानव विकारोसे भी अपनेको भिन्न समझ सकता है। ये आयेहैं, इनरूप मैं नहीं, मैं तो एक ज्ञानस्वरूपहूं। ये बाह्य चीजें मैं नहीं। यों समस्त परसे भिन्न अपने सत्यस्वरूपको निरख सकें तो यही हमारे कल्याणकी बात है। अपनी ऐसी श्रद्धा बने कि इस जीवनमें ये दुनियाके लोग चाहे मुझे कुछ न समझ सकें, मेरी कुछभी इज्जत प्रतिष्ठा न कर सकें, पर मैं गुप्त ही गुप्त रहकर अपने आत्मतत्त्वको अपनी दृष्टि में ले लूं। ऐसा ही मेरा जीवन चले, ऐसी ही मेरी आराधना चले, इसही से मेरा कल्याण है। ये बाहरी चीजें जो धन वैभव आदिककी हैं उनके पीछे रंच भी विकल्प न करें। वे सब परपदार्थ हैं वे सब पुण्यकर्मके उदयमें प्राप्त होते हैं और पापकर्मके उदयमें विलीन हो जाते हैं। उनके होने न होनेकी रंच भी चिन्ता न करें और फिर उस धनको कमाता ही कौन है? लोग कल्पनासे मान बैठते हैं कि इसे मैंने कमाया और फिर उसके बिघटने पर दुःखी होते हैं। जैसे—५०–६० मनका बोझ लादे हुए कोई बैलगाड़ी चली जा रही हो तो कुछ बच्चे लोग उसे पीछे से ढकेलते हैं। वह गाड़ी यद्यपि बैल खींचते हैं फिर भी वे बच्चे समझते हैं कि मेरे ढकेलनेसे यह चलती है। कदाचित् बैल किसी जगह रुक गए तो वे बच्चे गाड़ीको रंच भी नहीं चला पाते पर वे व्यर्थही दुःखी होने लगते हैं, ठीक ऐसे ही लोग समझ बैठते हैं कि मैं धन कमाता हूं। मैं परिवारको चलाता हूं, चलताहै यद्यपि पुण्योदयवश सबका काम, धन आता है पुण्योदयसे पर यह अज्ञानी प्राणी समझता है कि मैं धन कमाता हूं। मैं परिवारका पालन पोषण करता हूं। आखिर होता क्या है कि जब परिजनों पर कोई आर्थिक संकट आता है तो यह घबड़ाता है। दुःखी होता है। अरे भाई होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम? किसी भी परपदार्थमें आप कुछ नहीं कर रहे सबका परिणमन उनकी परिणति से स्वयमेव हो रहा है। जिस विभावसे जो होनेको होता हैं वह हो रहा है। किसी भी बाह्य पदार्थ में कोई परिणति नहीं बनाता, ऐसा भाव बनायें, जिसका जैसा कर्मविपाक है उसके अनुसार उसे वैसा हो रहा है। सोचना यह है कि ये जितनी भी बाहरी बातें हो रही हैं, जितने भी विभाव भाव हो रहे हैं वे सब दूर हो जायें, उनसे असहयोग कीजिये। तीसरा कर्तव्य कहा सत्याग्रह। जो अपनेमें सहज सत्य है चैतन्यस्वरूप उसका आग्रह करें मैं चैतनामात्र हूं, ज्ञानघन हूं, मैं तो सहज आनन्दस्वरूप रहूं। तो भाई एक ही बात हैं। मैं अपने सहज वास्तविक स्वरूपको अपनी दृष्टिमें लूं, उसकी सुध लूं, उसकी ओर उपयोग बनाऊं। जगतमें अन्य कुछ मेरे करनेको नहीं पड़ा है। मेरे करने को एक केवल आत्मस्वरूपकी आराधनाका काम है। इस ही में चरम शक्ति है इसमें ही संकट दूर होते हैं इसमें ही परमात्मत्वकी स्थिति प्राप्त होती है। इसका उपाय है ज्ञानाभ्यास शास्त्राभ्यास, आत्म-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वरूपकी आराधना।

(२०) स्वभावदृष्टिके अर्थ ज्ञानवृत्तियोंके प्रयोगकी श्रेयोरूपता—जगत में हम आपपर जितने भी क्लेश हैं वे सब भ्रमके आधारपर हैं। भ्रम होता है चार प्रसंगमें—(१) मैं क्या हूं, (२) मेरा क्या है, (३) मैं क्या करता हूं, (४) मैं क्या भोगता हूं। भ्रममें माना जा रहा है देहको मैं, देहात्मबुद्धि होनेसे देहसाधनोंको माना जा रहा है मेरा, इतना बाहर फैल जाने पर माना जा रहा है, मैं इन साधनोंको करता हूं व इनको भोगता हूं। वास्तविकता यह है कि हम तो ज्ञानमात्र ही हैं ज्ञानस्वरूप ही हमारा है और हम ज्ञानकी वृत्ति ही कर पाते हैं। प्रत्येक स्थानमें प्रत्येक घटनाओंमें हम ज्ञान ही करते हैं। ज्ञानकी परिणतियोंको ही बनाते रहते है। चाहे कल्पनायें बनायें, चाहे कल्पनारहित होकर ज्ञानकी वृत्ति बनायें, हम ज्ञानकी ही वृत्ति बना सकते हैं। आनन्द पानेके लिए, शान्ति पानेके लिए हमें चाहिए ज्ञानकी बात। ऐसी परिणत्ति कि जिसमें कल्पनायें न जगें, क्षोभ न हो, अर्थात् हम केवल ज्ञाता दृष्टा रह सकें, ऐसी स्थिति चाहिए। यह स्थिति चाहे जब मिले, लेकिन श्रद्धा में तो यही बात होनी चाहिए। कल्पनायें करनेसे मेरी बरबादी है। मैं इन कल्पनाओंसे मुक्त होना चाहता हूं। ये कल्पनायें कुछ ऐसी होती हैं कि इस जीव का संसारचक्र बढ़ानेमें मदद करती हैं। कुछ कल्पनायें ऐसी होती हैं कि जो हमको तत्त्वके निर्णयसें मदद करती हैं, फिर भी कल्पनायें बनाना मेरे लिए एक शुद्ध वृत्ति वाली स्थिति नहीं है। श्रद्धामें यह होना चाहिए कि कल्पनारहित मैं अपने आपमें होऊँ। यह स्थिति कैसे प्राप्त हो? इसका उपाय यह है कि जो निर्विकल्प है, ध्रुव है, अखण्ड है, ऐसे शुद्ध अंतस्तत्त्वपर दृष्टि हो, उसका आदर हो। धर्मपालन जितना भी किया जा रहा हो वह सब इस स्थितिमें होता है। हमारा जितना धार्मिक व्यवहार है उस सबका प्रयोजन यही है कि अपना शुद्ध ज्ञानस्वभाव दृष्टिमें रहे। जैसे हम भगवतपूजा करते हैं तो भगवानका स्वरूप निहारते हैं, वह स्वरूप है स्वभावके अनुरूप, सो वहां स्वभावदृष्टिके हम अधिकारी हो जाते हैं। तभी वे सब हमारे धर्मव्यवहार कहलाते हैं।

(२१) परमशुद्धनिश्चयमें स्वभावदृष्टि लक्ष्यकी सुगम साक्षात् पूरकता—हम एक यह लक्ष्य बनायें कि एक अपने सहज ज्ञानस्वभाव में गुप्त होना है, इस ही के अनुरूप बनना है। यदि यह हमारा लक्ष्य बने तो सब ही नय इसके पूरक बनेंगे और एक यह लक्ष्य न बने, तो भले ही धर्मप्रसंग हो, उसके अनुसार भले ही हम नाना परिज्ञान बनायेंगे, प्रवृत्तियां करेंगे, लेकिन वे सब किसी न किसी विवादको लिए होंगी। अपना एक शुद्ध लक्ष्य बना लीजिए। मेरी भलाई किसमें है? इस प्रकारका विचार करने वाला वास्तविक श्रोता बताया गया है। यह एक बहुत बड़ा गुण है। अपने आपके उद्धारके लिए चित्तमें एक यह बात आये कि मेरेको किसी विवादसे मतलब नहीं। मेरा विचार मेरे हितके लिए हो, कल्याणके लिए हो। मैं सदाके लिए संकटों से मुक्त हो जाऊं। बस यही एक लक्ष्य है। यही मात्र चाहिए अन्य कुछ न चाहिए, ऐसा भाव करनेके वाद अब देखिये ज्ञानी की बात। प्रत्येक नयोंका ऐसा उपयोग बनाता है कि उसको स्वभावका दर्शन होने का अवसर आता है। जिस नयको आप ४ प्रकारोंमें रख दीजिए—परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय। परमशुद्ध निश्चयनय तो प्रकट साक्षात् स्वभावदृष्टि करने वाला है ही। परमशुद्ध निश्चयका विषय अखंड शुद्ध तत्त्व। इसकी दृष्टिमें गुण, पर्याय, भेद नहीं रहते, किन्तु अखण्ड शाश्वत स्वभाव रहता है। इसकी ही तो दृष्टि करना है। परमशुद्ध निश्चयनय, अभेदनय, शुद्धनय ये एकतत्त्ववाचक हैं। यद्यपि इस नयकी साधनाके इच्छुकोंने सब कुछ व्यवहारनय अशुद्धनिश्चयनय व शुद्धनिश्चयनयसे सीखा, किन्तु जब परमशुद्ध निश्चयनयका विषय अखण्ड निर्विकल्प अभेद शाश्वत अन्तःप्रकाशमान अन्तस्तत्त्व परिचयमें आया तब इस साधकको यह शुद्धनय ही प्रयोजवान् हो गया। देखो स्वभावदृष्टिकी साधना इस परमशुद्धनिश्चयनयसे कैसी सुगम और साक्षात् हो गई है।

(२२) शुद्धनिश्चयनय में लक्ष्यभूत स्वभावदृष्टि की पूरकता—शुद्ध निश्चयनय का अर्थ है अखण्ड

Report any errors at vikashd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

शुद्ध सत्य शाश्वत स्वभाव का दर्शन कराना, जिससे आत्मा के एक सहज स्वभाव का परिचय होता है। यह परिचय तो स्वभाव दृष्टि का साक्षात् पूरक है। शुद्ध निश्चय में देखिये—निश्चयनय में केवल एक ही द्रव्य को देखना चाहिए, उसका सत्त्व निरखना चाहिये। यह एक निश्चयनय का स्वरूप है। तो जब एक द्रव्य को देखते हैं, भले ही शुद्ध पर्याय को देख रहे हैं, जैसे कि हम केवलज्ञानी अनन्त आनन्दमय वीतराग किसी भी प्रकार एक ही आत्मा को देख रहे हैं और यह देख रहे हैं कि यह केवलज्ञानी अनन्त चतुष्टय सम्पन्न है तो अपने में अपने से आप हैं। जब ऐसा देखा जा रहा हो तो वह तो निश्चयनय का विषय है। एक की ही चीज देखो। जो शुद्ध निश्चयनय है उसमें शुद्ध पर्याय को देखो। तो शुद्ध पर्यायरूप एक द्रव्य का देखने का भी सदुपयोग यह हुआ कि हम स्वभाव के अनुरूप शुद्ध पर्याय को निरख रहे हैं, तो शुद्ध पर्याय को देखते हुए हम स्वभाव दृष्टि पर पहुंच जाते हैं।

(२३) अशुद्धनिश्चयनय में लक्ष्यभूत स्वभावदृष्टि की पूरकता—एक होता है अशुद्ध निश्चयनय। अशुद्ध निश्चनय में यह देखा जा रहा है कि जीव रागी है, द्वेषी है। विवरण करें तो यह कह दीजिए कि यह जीव अपनी परिणति से रागी है, अपने लिए रागी है, अपने प्रदेशों में रागी है। अशुद्ध पर्याय को देखा, किन्तु देखा एक द्रव्य को, वह अशुद्ध निश्चय का विषय हो गया। इस प्रकरण में आप इतना समझ लीजिए कि यद्यपि अशुद्ध पर्याय का आविर्भाव निमित्त का सन्निधान पाकर होता है लेकिन एक स्वकी भी तो दृष्टि होती है। जैसे कि सामने एक दर्पण हो और मेरी पीठ के पीछे चार बच्चे खड़े हैं, वे हाथ पैर हिला रहे हैं, हम सामने के दर्पण को देखकर वह सब छाया निरख रहे हैं, तो हम उन बच्चों का ख्याल न करें, बच्चों पर दृष्टि न दें, केवल दर्पण पर ही दृष्टि लगायें, तो क्या हम ऐसा कर नहीं सकते? बस यही अशुद्ध निश्चय की बात है। अशुद्ध निश्चय की दृष्टि में—यह जीव रागरूप परिणम रहा है। यहां निमित्त उपाधि अथवा आश्रयभूत पदार्थ इसका ख्याल नहीं किया जा रहा, क्योंकि वह एक निश्चयदृष्टि का प्रसंग है। फिर भी आप देखिये कि अशुद्ध निश्चयदृष्टि का क्या प्रभाव होता है कि निमित्त को या सन्निधान को या आश्रयभूत को न निरखा, एक ही द्रव्य को निरखने से यद्यपि शुद्ध निश्चय दृष्टि की अपेक्षा से अशुद्ध निश्चय दृष्टि का स्वभाव दृष्टि के लिए सदुपयोग करने के लिए कुछ कठिनाई है, फिर भी एक द्रव्य को देखने के कारण यह पर्याय किससे प्रकट हुई है? एक उस आत्मा में हुई है, तो वहां पर भी राग का आधारभूत जो एक आत्मा है उसकी दृष्टि बनी है। बाहर में निमित्त उपाधि आश्रय की दृष्टि नहीं बनती है। एक निश्चयनय का प्रसंग बना रखा है। सो अशुद्ध निश्चयनय दृष्टि का भी सदुपयोग यह है कि हम दृष्टि से पर्याय के हटाने की पद्धति से आत्मतत्त्व की दृष्टि करें। वहां एक मौका मिला है कि हम परनिमित्तादिक पर दृष्टि नहीं कर रहे हैं। उसका भी यह ही एक सदुपयोग है। दूसरी बात यह है कि जब हम किसी आश्रयभूत का उपयोग नहीं कर रहे हैं तो निराश्रय रहकर यह राग कब तक बनेगा? वह बन्ध न होगा और हम स्वभाव दृष्टि के पात्र बन जायेंगे।

(२४) व्यवहारनय में लक्ष्यभूत स्वभावदृष्टि की पूरकता—अब देखिये व्यवहारनय दृष्टि का उपयोग। व्यवहारनय का अर्थ यह है कि जो विभाव हो रहे हैं उनके विधिविधान का सब निर्णय बनाना। विभाव निमित्त के सन्निधान बिना नहीं हो सकते। कोई पदार्थ अपनी सत्ता की ओर से विभाव कर सकता हो ऐसी बात नहीं है। जैसे कहते हैं कि जीव परिणमहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति। पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोवि परिणमई। णवि कुव्वइ कम्मगुणे, जीवो कम्मं, तहेव जीवगुणे। अण्णोण्ण णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि। अर्थात् जो उपाधि है उस भव का निमित्त पाकर यह जीव रागादिक रूप परिणमता है। बात क्या कही गई? जैसे कि स्फटिक, वह तो स्वयं अपने आप में निमित्तभूत नहीं है, हां परिणमन स्वभाव अवश्य है, पर होता क्या है कि जो रागभाव सहित है ऐसे कपड़ा कागज आदिकका सन्निधान पाकर वह स्फटिक रागरूप परिणम जाता है, इसी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रकार यह आत्मा स्वयं परिणमने वाला है, परिणमन स्वभाव वाला है । इस पर भी यह स्वयं अपने आपके विभावों का निमित्तभूत नहीं हैं। अगर निमित्तभूत होते तो सदा इसमें विभाव होते रहना चाहिए। पर होता किस तरह से है कि स्वयं रागादि भाव को प्राप्त जो क्रोध, मान, माया, लोभ नामक जो कर्म प्रकृति हैं उनके सन्निधान में यह आत्मा स्वयं अपने आपके इस विपाक की परिणति से यह रागादिक रूप परिणम जाता है। बात वहां क्या जानना है ? व्यवहारनय यह बतलाता है कि जो विभाव हैं वे नैमित्तिक हैं, निमित्त का सन्निधान पाकर हुए हैं। यद्यपि निमित्त का द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव कुछ भी छूटने नहीं दिया है, वह निमित्त कुछ नहीं कर रहा है, लेकिन ऐसा संयोग है कि वह निमित्त अपने में ऐसा सन्निधान बनाता है। जैसे हम चौकी पर बैठे हैं तो चौकी ने मेरे में कुछ नहीं किया, उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरे में नहीं गया, किन्तु ऐसा होनेसे, इस चौकीके सन्निधान में आप प्रक्रिया से अपने आपमें बैठनेका प्रभाव बना लिया है। तो ऐसा योग है। इसीको कहते हैं निमित्तनैमित्तिक भाव। निमित्तनैमित्तिक भाव होकर भी वस्तुस्वातंत्र्य बराबर बना हुआ है। निमित्तने कुछ नहीं किया, निमित्तका द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव कुछ भी उस पदार्थमें नहीं पहुंचा। यह तो वस्तुस्वातंत्र्य है और निमित्तनैमित्तक भाव यह है कि निमित्त सन्निधानमें यह आत्मा अपने आपमें अपनी परिणति से अपने लिए अपने उपादनको अपनेको रागरूप बनाता है। इससे कहा कि रागादिक भाव पौद्गलिक हैं। यद्यपि ये रागभाव मेरे आत्मा के परिणमन चल रहे हैं, किन्तु कैसा निमित्तनैमित्तिक भाव का सदुपयोग बनाया कि यह बताया कि पुद्गल कर्मके निमित्तसे हुए हैं। अतः ये परभाव हैं निमित्तक हैं, आत्माके नहीं। देखो इस व्यवहारनयके सदुपयोगसे हम आत्मास्वभावकी ओर आयें। बात यह है कि हमें एक यह लक्ष्य बना लेना चाहिए कि स्वभावदृष्टि हमारे लिए सहाय है। मैं अपने आपके उस शुद्ध सहज ज्ञानस्वभावकी आराधनामें रहूं, मेरे करनेको यही एक काम है। यदि यह लक्ष्य बने तो ज्ञानी ऐसा खिलाड़ी हो जायेगा कि किसी भी नयका वर्णन हो, सब नयोंसे यह अपने स्वभावदृष्टिका सार खींच लेगा। अज्ञानियोंको उसके लिए विवेक नहीं रहता। हम आप सबका एक लक्ष्य बन जाना चाहिए कि मैं अपने ज्ञानस्वभाव को देखूं, उसका आश्रय करूं और संसारके संकटों से मुक्त हो जाऊं। देखो जैसे कहा है कि—

"जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः। यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥" अर्थात् जीव पृथक् है, पुद्गल पृथक् है, बस यह ही तत्त्व संग्रह है और फिर जितना भी वर्णन है वह सब उसका विस्तार है। करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग और प्रथमानुयोग—इन चारों अनुयोगोंका सार यही है कि हमें जानकारी हो जाय कि जीव तत्त्व तो यह है बाकी सब अजीव तत्त्व हैं। आत्मतत्त्व तो यह है, बाकी सब अनात्मतत्त्व हैं। हित तो इसमें है बाकी सबअहित है। यह बात हम करणानुयोगसे भी प्राप्त कर सकते हैं और द्रव्यानुयोग, प्रथमानुयोग, चरणानुयोगसे भी। सबमें एक यही सार निकला कि हम अनात्मतत्त्वसे हटकर अपने आत्मतत्त्व में आयें। जिसका यह लक्ष्य बन जाता है। जिसका यह संकल्प हो जाता है कि मेरा हित किसमें है, उसे फिर विवाद नहीं होता।

(२५) गुणदृष्टिकी उपयोगिता—देखिये हम जैसी दृष्टि बनायेंगे वैसी हमारी सृष्टि होगी तथा गुण और दोष देखना यह भी हमारी दृष्टिके आधारपर है। एक बार बादशाह ने अपने मंत्रीसे पूछा—मंत्री जी, यह तो बताओ कि हमारे शहरके कितने लोग गुणग्राही हैं और कितने लोग दोषग्राही हैं ? तो मंत्री ने बताया कि महाराज आपके शहरमें सभी तो दोष ग्राही हैं और सभी गुणग्राही हैं। तो बादशाहने कहा कि यह कैसे ? जो गुणग्राही होगा वह दोषग्राही कैसे ? और जो दोषग्राही होगा वह गुणग्राही कैसे ? तो मंत्रीने क्या किया कि एक ही शक्ल-सूरतकी दो मूर्तियां बनवायीं और एक दिन एक मूर्तिको किसी चौहराहे पर रख दिया। नीचे लिख दिया कि इस मूर्तिमे जहां जिस अंगमें जो दोष जिसे दिखे वह वहां निशान लगादो। अब जो भी उधरसे निकले, सूचना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

पढ़े वही उस मूर्ति में किसी न किसी जगह निशान लगा दे। किसी को नाक ठीक न दिखी, किसी को कान ठीक न दिखे, किसीको कुछ ठीक न दीखा। अब दूसरे दिन दूसरी मूर्तिको उसी जगह रख दिया और नीचे सूचना लिख दिया कि इस मूर्ति में जिस व्यक्तिको जो अंग अच्छा दिखे वहां पर निशान लगा दे। लोग उधरसे निकलते जाते, सूचना पढ़ते और नाक, कान, आंख आदि अंगोंमें निशान लगाते जाते। वे तो जो अंग देखते वही सुहावना दिखता था। अब मंत्रीने बादशाहको वे दोनों मूर्तियां दिखायीं तो बादशाह मंत्रीकी बुद्धिमत्ता पर बड़ा प्रसन्न हुआ। और समझ लिया कि वास्तवमें जब जिसकी जैसी दृष्टि होती है तब उसे वैसा दिखता है। जब किसी की गुणमयी दृष्टि होती है तो उसे गुण नजर आते हैं और जब दोषमयी दृष्टि होती है तो उसे दोष नजर आते हैं। तो भाई अपनी दृष्टि निर्मल बनायें, अपनेमें गुण ग्रहण करनेका संकल्प बनायें आपको सार सबमें मिलेगा। ये सब विभाव हैं, ये नैमित्तिक हैं, मेरी चीज नहीं हैं, यह तो मैं ज्ञानस्वभावमात्र हूं। एक ज्ञानस्वभावमात्रको निरखने के लिये ये सब साधन हैं।

(२६) ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके परिचयके अर्थ विभावविधानके एक तथ्यका दिग्दर्शन—ज्ञानस्वभावमात्रके निरखने के पात्र होने के लिए थोड़ा इस ओर का भी चिन्तन करें। देखिये—जितना जो कुछ भी हमको बन्धन है, कर्मबन्धन है, कर्मका आस्रव होता है वह किस ढंगसे होता है, ऐसा जानें। साक्षात् बात तो यह है कि जो नवीन कर्मोंका आस्रव होता है उनके आस्रवका निमित्त कारणहै उदयमें आये हुए पुद्गल कर्म, किन्तु उदयमें आये हुए पुद्गल कर्ममें नवीन कर्मके आस्रव होनेका निमित्तपना आ जाय, इसमें निमित्त होते हैं रागद्वेष मोहभाव। तो बात यह बनी कि नवीन कर्मोंके आस्रवके मूल कारण हैं रागद्वेषभाव। ये कषाय भाव हम आपमें तीन प्रकारके अध्यवसानोंमें जगते हैं। एक तो होता है करनेका अध्यवसान। मैं अमुक पदार्थको करता हूं, बाह्य पदार्थको करता हूं। जिसको यह बोध नहीं की मैं तो एक ज्ञप्ति क्रिया को करता हूं। भीतरमें एक ज्ञानगुण है, स्वभाव है उस आधारपर मैं ज्ञानवृत्तिको करता हूं। मैं ज्ञान की परिणतिको करता हूं, बाह्य पदार्थोंको मैं नहीं कर रहा हूं। फिर बाह्य तत्त्व कैसे बनते हैं ? बाह्य तत्त्व होते हैं निमित्तनैमित्तिक योग से। निमित्तनैमित्तिक योग कहीं न मिटेगा। संसारकी व्यवस्था चल रही है, मगर प्रत्येक पदार्थ अपने आप की कलासे अपने आप उत्पाद व्यय करता रहता है। किसीके परिणामनको कोई कर नहीं सकता। निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तु स्वतंत्र है इस प्रकारका ज्ञान करने वाला व्यक्ति अपने स्वभावका आश्रय करने में समर्थ हो जाता है। ऐसा लगता है कि मैं तो बहुत ठीक चल रहा हूं, लेकिन किसी भी विषयका कोई अज्ञान हो अथवा कोई जानकारी नहीं मिल रही है, तो बात क्या होती है कि जो रागद्वेषादिक भाव हैं, जो हमारे तीन प्रकारके अध्यवसान आते हैं, उनकी क्रियाका स्वामित्व अपनेमें लाद लेता है कि मैं कर्मको करता हूं, मैं अमुकको करता हूं। वहां यह न निरखना चाहिए। वहां यह सोचना चाहिए कि मैं अपने ज्ञानके परिणामनको करता हूं। दूसरा अध्यवसाय होता है मैं नारकी हूं, तिर्यंच हूं, पशु, पक्षी हूं, फलानेका पुत्र हूं, किसी भी प्रकारका जो एक अनात्मतत्त्वका ख्याल किया है वह कहलाया। इस त्रिपाकमें स्वका अध्यवसाय कर लेता है। मैं मनुष्य हूं, अमुकका पिता हूं, बाबा हूं आदिक। देखो जो बातें चल रही हैं, चलें जब तक चलना हो, मगर भीतरमें श्रद्धा ऐसी हो कि भीतर में जो एक ध्रुव है उसको लक्ष्यमें लेकर देखिये कि मैं क्या हूं ? मैं हूं एक ज्ञायकस्वभाव, ऐसा अपना विश्वास बनायें। रह रहे हैं, प्रवृत्तियां चल रही हैं, मगर दृष्टि ऐसी रहे कि मैं एक अहेतुक ज्ञायकस्वरूप हूं। तीसरे प्रकार का अध्यवसाय होता है एक ज्ञानसम्बन्धित अध्यवसाय। जैसे इस पदार्थको हम जान रहे हैं तो जाननेकेसाथ यह अनुभव कर लिया कि जिसको जाना उसका अनुभव मात्र हूं मैं। इस अध्यवसाय में यह नहीं मान पाता कि मैं उपयोगमात्र हूं। मैं उपयोग मात्र हूं—ऐसा बताया गया है जहां वहां यहशंका की गई कि कुछ पुरुष ऐसा सोचते हैं कि मैं कालद्रव्य हूं, अधर्मद्रव्य हूं, पुद्गल द्रव्य हूं, आकाशद्रव्य हूं, धर्मद्रव्य हूं, कभी-कभी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

परिजनको भी सोचने लगते हैं कि ये मैं हूं, तो पुद्‌गलमें तो मोही सोच ले, मगर धर्म, अधर्म, आकाश जैसे द्रव्यको तो नहीं सोचते। समाधान—भाई धर्म, अधर्म, आकाश, कालके विषयमें जो विकल्प किया जा रहा है उस विकल्पको आपा माननेसे वहां भी अध्यवसाय बन जाता है। सो देखिये जब कभी चर्चाके प्रसंगमें विवाद होता है, कभी-कभी भीतरमें क्रोध जगता है, वह क्यों जगता है ? वह विकल्प परिग्रह बनाने से जगता है। जो मेरा विकल्प है बस यह ही मैं हूं, ऐसा सोचा तब कोई विकल्पके विरुद्ध चले तो लगता है कि यह मेरेको मार रहा है। सो भैया ! ज्ञेयाध्यवसाय भी आस्रवहेतु है। मैं तो एक ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानाकार हूं, मैं ज्ञेयाकाररूप नहीं, मैं तो एक शाश्वत ज्ञानमात्र हूं। इस बोधके द्वारा हम अध्यवसानों का परित्याग करें। जब ये अध्यावसान छूटते हैं तब समझ लीजिए कि हम कल्याण के पात्र हैं।

(२७) अखण्ड भूतार्थकी दृष्टिमें द्रष्टाकी कल्याणपात्रता—देखो जो एक अखण्ड ज्ञायक स्वरूप है जिसे शुद्धनयका विषय कहते हैं, वह है भूतार्थ, सत्यार्थ और नैमित्तिकभाव, भेदभाव ये सब हैं अभूतार्थ। जो निरपेक्षतया अपने तत्व के कारण मैं हूं उसे जानना कहते हैं भूतार्थ। जो स्वयं अपने आपके सत् में निरपेक्षतया न हो उसे कहते हैं अभूतार्थ। जितने भी विभाव आदिक उत्पन्न होते हैं वे सब हैं अभूतार्थ। अगर एक पदार्थ को दूसरा पदार्थ कुछ कर दे तो बतावो वह स्वयं क्या रहा, और वह दूसरा पदार्थ भी क्या रहा ? इस तरह से तो सारा जगत शून्य हो जायेगा। आज भी जगत बना है वह इस बात को सिद्ध करता है कि कोई भी पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का कुछ नहीं कर सकता। निमित्तनैमित्तिक सम्बंध इस तरह चल रहा है। देखिये हम आप इस मनुष्य पर्याय में आज आये हैं। ऐसा श्रेष्ठ मनुष्यभव मिला है कि यदि चाहें तो सदा के लिए जन्म मरण के संकटों से छुटकारा प्राप्त कर लें। यहां हम आपको वही करना चाहिए जिससे अपना कल्याण हो। इसके लिए थोड़ा कर्तव्य यही है कि अपने आत्मतत्त्व का सही-सही निर्णय करके एक अपने सहज ज्ञान स्वभाव की दृष्टि करें। अगर ऐसा कर सके तो समझो अपना कल्याण है।

(२८) शान्तिका उपाय धर्मधारण—शान्ति का कारण क्या है, इस सम्बन्ध में अनेक वितर्क विचार अनुभव के बाद यह निर्णय पायेंगे कि शान्ति का कारण है धर्मधारण। धर्मधारण क्या वस्तु कहलाती है ? इस सम्बन्ध में शब्द की ओर से ही जानकारी बनायें। धर्मधारण, धर्मका धारण। धर्म क्या चीज है ? आत्माका धर्म आत्मा का जो स्वभाव है सो धर्म है। वस्तु का जो स्वभाव है वह आत्मा का धर्म है। लोक में भी लोग कहते हैं कि इसने अपने स्वभाव को छोड़ दिया। और, उसकी निन्दा बनाते हैं। इस चीज ने, इस पदार्थ ने अपने स्वभाव को छोड़ दिया, इसलिए तकलीफ हुई, ऐसा लोग बोला करते हैं। आत्मा ने अपने स्वभाव को छोड़ दिया इसलिए दुःखी हैं। अब देखो स्वभाव कभी छूटता नहीं है। स्वभाव तो स्वरूप है, छोड़ेगा कैसे यह आत्मा उसे ? अगर आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव के विपरीत कार्य करने लगे तो इसी के मायने हैं कि आत्मा ने अपने स्वभाव को छोड़ दिया। तो स्वभाव क्या ? स्वभाव कहते किसे हैं ? वस्तु का जो सहज भाव है अर्थात् जबसे वस्तु है तबसे ही जो भाव है, जब तक वस्तु रहेगी तब तक जो भाव रहेगा उसे कहते हैं स्वभाव। सहज का अर्थ क्या है ? सह जायते यति सहज, जो साथ-साथ हो उसे सहज कहते हैं। तो क्या यह उत्पन्न हुआ ? नहीं। वस्तु क्या उत्पन्न हुई ? नहीं। जब से वस्तु है तब से ही वह भाव है। इसलिए वह सहज भाव कहलाता है। तो मैं आत्मा क्या किसी के द्वारा पैदा किया गया था ? देखो जो लोग कर्तृत्व की बात कहते हैं कि ईश्वर करता है या और कोई करता है, और लोग ऐसा भी कहते हैं कि जो असत् है उसका कभी सद्‌भाव नहीं होता जो सत् है उसका कभी विनाश न होगा। अब आप सोचिये कि यह परस्पर विरुद्ध सी बात हो गई ना ? एक ओर तो कहते हैं कि जो है उसका कभी अभाव नहीं होता, जो नहीं है उसका कभी सद्‌भाव नहीं होता, फिर बनाने की

Report any errors at vikashd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बात कहां से आये ? तो अपना एक यह निर्णय करें कि मैं आत्मा हूं तो सदा से हूं, सदा तक रहूंगा, क्योंकि सत्ता का अभाव नहीं होता। तो वह मैं आत्मा किस रूप हूं जो सदा से है और सदा तक रहेगा ? चेतनारूप प्रतिभासरूप जानना देखना समझना, यह बात जिसमें हुआ करती है उसी को तो आत्मा कहते हैं और उस बात को प्राय: सब लोग जानते हैं। कोई पुरुष अगर भींत को लाठी मार रहा हो तो उस मारने वाले को कोई नहीं छेड़ता और अगर किसी कुत्ते को कोई मार रहा हो तो लोग कह बैठते हैं कि भाई क्यों इस कुत्ते को मारते हो ? मतलब यह है कि प्राय: सभी को यह मालूम है, कि इस कुत्ते में जान है, समझ है, ज्ञान है। जिसमें ज्ञान है वही तो आत्मा है। तो मेरे में ज्ञान स्वभाव, जानने का स्वभाव, प्रतिभास स्वभाव अनादि से है, अनन्तकाल तक है, वही मेरा धर्म है। मेरा चेतन, मेरा ज्ञानस्वभाव मेरा धर्म है। अब इस धर्म में हम रहते नहीं, विषय कषाय इच्छा आदि बहारी बातों में अपना लगाव रखते हैं, इसी के मायने हैं कि मैंने अपना धर्म छोड़ दिया। धर्म छोड़ दिया तो हम दु:खी होंगे और धर्म को ग्रहण कर लिया तो हम शान्त हो जायेंगे।

(२९) **धर्म धारण के प्रारम्भिक विधान के करने की प्रस्तावना**—धर्म को किसके द्वारा हम ग्रहण करेंगे ? आत्मा के हाथ पैर हैं नहीं। ग्रहण करता नहीं, तो किसके द्वारा ग्रहण करेगा ? ज्ञान में स्वभाव की बात आ जाय, ज्ञान में यह ज्ञान स्वभाव समा जाय याने यह ज्ञान सुधारस पीता है तो वह स्वधर्म का ग्रहण करता है। इस धर्म धारण के फल में इसको कभी अशान्ति नहीं मिल सकती। तो उस धर्म धारण की क्या रीति ? इस सम्बन्ध में भी सुनो। किसको सुनाना है ? धर्म धारण किसको कराने की बात कही जा रही है ? इसे भूले भटके संसारी दु:खी प्राणी को। तो जो भूले भटके प्राणी हैं इनकी पहिले श्रद्धा तो निरखो की क्या है ? तब यह रास्ता मिलेगा कि धर्म धारण किस तरह कर सकेंगे ? यह भूला भटका संसारी प्राणी क्या कर रहा है ? यह देह में आत्म बुद्धि कर रहा है। इस शरीर को ही मानता है कि यह मैं हूं। इस ही मान्यता के कारण यह नाना शरीरों में बंधता फिर रहा है। यह आत्मा अपनी भूल के कारण आजकल इस शरीर के बंधन में फंसा है। यह असली काम कहां कर रहा है ? इस शरीर के फंसाव में ही राजी है यह तो इस लिए इसको ये शरीर मिलते जा रहे हैं। आखिर हम आप भगवान स्वरूप ही तो हैं, जिस बात की हमें श्रद्धा होगी क्या उसे हम पा न सकेंगे ? अरे हम आपमें तो इतनी बड़ी शक्ति है कि जिसमें राजी हों उसे पाते रहें। जो शरीर के बंधन में राजी हैं इसलिए उन्हें शरीर मिलते जा रहे हैं। यही हमारे दु:ख का कारण बन रहा है। भले ही दु:ख के कारण हों, मगर जब यह प्रभु दु:ख के कारण में राजी हो गया तो चलो दु:ख के कारण मिलते ही रहेंगे।

हम आपकी दशा इस समय बड़ी दयनीय है। पर वस्तु को अपनी मानते हैं, पर वस्तु तो पर ही हैं वे हमारे आधीन नहीं हैं। वे हमारी इच्छा से अनुकूल परिणमते नहीं हैं। हम दु:खी होते हैं। जैसे बच्चे लोग व्यर्थ की बातों में दु:खी होते हैं। कोई एक बालक था। उसके सामने से एक हाथी निकला तो उसने अपने पिता से कहा—कि पिताजी मुझे हाथी ला दो। (अब हाथी तो हजारों लाखों रुपयों में मिलता है, कैसे ला दें ? तो पिता ने महावत को दो चार रुपये देकर अपनी दुकान के सामने हाथी खड़ा करवा दिया और कहा-लो बेटा हाथी आ गया। बालक बोला— पिता जी इसे तो खरीद दो और अपने बाड़े में खड़ा करा दो। पिता ने महावत को फिर दो चार रुपये दिये, हाथी को बाड़े में खड़ा करवा दिया और कहा—लो बेटे हाथी खरीद दिया। बालक फिर बोला—पिता जी अब इस हाथी को मेरी जेब में भर दो। भला बतलाओ हाथी को जेब में कौन भर सकेगा ?) आखिर जब पिता उस हाथी को जेब में न भर सका तो बालक रोता हैं, दु:खी होता है। भला बतलाओ बालक की उस हठ को कौन पूरा कर सके ? उस हठ के ही कारण वह बालक दु:खी होता है। ठीक ऐसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ही इन संसारी अज्ञानी प्राणियों ने पर वस्तुओं के पीछे बड़ा तेज हठ कर लिया है। आखिर परवस्तु का परिणमन उनके अनुकूल होता नहीं है। परिणमन उनके मनके अनुकूल हो भी कैसे ? पर पदार्थ तो आखिर पर ही हैं। आखिर ये संसारी प्राणी उन पर वस्तुओं के पीछे हठ करके दुःखी होते हैं। भला बतलाओ उनका यह दुःख कैसे मिटे ? वह दुःख मिटेगा धर्म धारण करने से।

(३०) धर्म धारण का प्रारम्भिक विधान—धर्म धारण का अर्थ क्या है ? अपने आप का जो एक जो चैतन्यस्वभाव है, प्रतिभास स्वरूप है, ज्ञानमात्र है, विज्ञान प्रकाश है उसे अपनायें, उसमें ही तृप्त हों, उसमें ही रमें तो हम धर्म धारण कर सकेंगे। यह काम किस तरह से कर सकेंगे, उसकी रीति यहां बतला रहे हैं। देखो जो व्यक्ति रास्ता भूल गया हो उसे उस सही रास्ते में आने के लिए पहिले क्या करना होगा कि जितना वह रास्ता भूल गयाहै उतना लौटकर वापिस आये। तो इसी प्रकार से ये संसारी प्राणी अपना सही मार्ग भूल चुके हैं, जिससे वे संसार में दुःखी होते फिर रहे हैं। इस दुःख को मिटाने के लिए उन्हें सही रास्ते पर आना होगा। सही रास्ते पर आने के लिए सबसे पहिले उन्हें क्या करना होगा कि जितना भूल गए हैं उतना वापिस लौट आयें, अर्थात् पर पदार्थों में जो 'यह मैं हूं' यह भ्रम कर रहे हैं तो पहिले अपनी इस श्रद्धा को छोड़ें। तब ही धर्म धारण का सही रास्ता मिल सकेगा। देखो जितना हम भूल चुके हैं उतना लौटकर आना हमारा सबसे पहिला काम है। लौटकर आना, किसके द्वारा आना ? ज्ञान द्वारा। ज्ञान की गली से हम भटक गए थे, ज्ञान का सही रास्ता मिल जाय तो हमारी संसार की भटकन समाप्त हो जाय। हम अपना ज्ञान सही बनाकर सही रास्ते में आयें तो हम शान्ति के पथ पर आ सकते हैं। यह बात किसको कही जा रही ? इस भूले भटके संसारी प्राणी को। यह भूला भटका संसारी प्राणी पहिले तो यह ही विश्वास रख रहा है कि मुझे घर से सुख होता, धन से सुख होता। इसलिए तो वे घर बनाना चाहते, धन जोड़ना चाहते। इन परपदार्थों के प्रति संसारी प्राणीयों को ममता हो गई है। अरे भाई अपने अन्दर तो यह श्रद्धा लानी होगी कि यह घर तो जेल है कटघरा है। ये धन वैभव आदि बेड़ी हैं। ये सब तो दुःख के ही हेतुभूत हैं। यहां मुझे कुछ न चाहिए, ये तो जेल खाना हैं। मेरे को तो केवल ज्ञान स्वरूप प्रकाश चाहिए, ऐसी मानसिक तैयारी धर्म धारण का प्रारम्भिक विधान है।

(३१) ज्ञान प्रकाश का प्रत्येक परिस्थिति में प्रसाद—अब रही एक समस्या की बात यह कि आज कदाचित् स्थिति ऐसी है कि घर में रहना पड़ रहा है, कमाई करना पड़ रहा है, लोगों से प्रेम व्यवहार रखना पड़ रहा है, तो ठीक है, ऐसा करें, पर श्रद्धा में ऐसा लायें कि ऐसी ही चक्की हम आपकी अनादि काल से चल रही है। जैसे घूमते हुए चाक से डंडा हटा लिया जाय फिर भी चाक कुछ समय तक यों ही घूमता रहता है ऐसे ही श्रद्धा सही बन जाने के बाद भी कुछ समय तक यह संसारचक्र चलता रहेगा। दूसरी बात यह है कि जिसकी श्रद्धा है, भीतर में धारणा है वह ग्रहस्थी के कामों को करता हुआ भी अंतरंग में प्रसन्न है। आप मन में यह शंका न रखें कि गृहस्थी में रहकर यह धर्म धारणा की बात, ज्ञान को रखने की बात कैसे बन सकती है ? यह तो आंखों देखी बात है कि कर कुछ रहे हैं, भाव कुछ रहता है। जैसे मुनीम का दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है। मुनीम किसी फर्म में काम करता है हजारों लाखों रुपयों का लेन देन करता है। वह यह भी कहता है कि हमारा तुम पर इतना है, तुम्हारा हम पर इतना, हमारे पास इस समय इतना माल है, हमें इतना लाभ हुआ...,पर उसकी श्रद्धा में यह बात बसी हुई है कि हमारा कुछ नहीं है, यह तो सब सेठ का है। हमें तो जो १००-१५०) माहवार मिल जाते हैं, बस वही मेरे हैं। अथवा दूसरा दृष्टान्त देखिये—कोई ससुराल जाने वाली लड़की २०-२५ बार मानो मायके ससुराल और ससुराल से मायके हो आयी है, पर जब अगली बार ससुराल जाती है तो यद्यपि पहिले से ही ससुराल चिट्ठी भेज देती है कि अब घर में काम काफी होगा, मुझे लिवा ले जावो, पर ससुराल जाते समय वह पहिले की ही भांति रोती है। बताओ उसे वास्तव में ससुराल जाने में दुःख

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होना है क्या ? अरे वह तो खुशी-खुशी से जाती है, पर बहारी दिखावे में रोती रहती है। भला बतलावो वह अन्दर से तो प्रसन्न है और बहार से रोती है तो क्या यह उसका रोना कहा जायगा ? रोना न कहा जायगा। ठीक इसी प्रकार कोई ज्ञानी गृहस्थ जो कि घर में रह रहा है तो यद्यपि गृहस्थी के सारे कार्य वह करता है, पर क्या, करता हुआ भी नहीं कर रहा है, क्योंकि उसके चित्त में यह बात बराबर बसी रहती है कि मेरे करने लायक ये काम वास्तव में है नहीं। परिस्थितिवश मुझे करना पड़ा रहा है। एक दृष्टान्त यहां और लीजिए—विवाह शादियों के प्रसंग में जब घुड़चड़ी होती है, दूल्हा अपने गांव में बड़े जुलूस के साथ घोडे पर बैठ कर जाता है, वहां गांव की सारी स्त्रियों का बुलावा होता है। वे स्त्रियां खूब उछल उछल कर गाने गाती हैं—मेरा दूल्हा मेरा बना, राम लखन सी जोड़ी आदि···। बहुत बहुत गीत गाती हैं और खुश होती हैं और उधर दूल्हे की मां को तो एक मिनट की फुरसत नहीं है। किसी को कुछ देना, किसी को बुलाना, किसी को खिलाना आदि अनेक काम मां को रहते हैं। उसे गाने बजाने खुश होने का मौका ही नहीं मिलता, पर बताओ कदाचित् वह दूल्हा घोडे से गिर जाय, उसकी टांग टूट जाय तो दुःखी कौन होगा ? वे गांव की स्त्रियां दुःखी होंगी या उस दूल्हे की माता ? अरे माता ही दुःखी होगी। वे गांव की स्त्रियां तो सिर्फ छटांक आधी छटांक बताशों के लिए इतना खुशी के गीत गा रही हैं। तो भाई ऐसे ही समझिये कि हम आपको उन गांव की स्त्रियों की भांति इस गृहस्थी के बीच काम करना पड़ रहा है पर इन नटखटों में पड़ने का मेरा कर्तव्य न था। श्रद्धा में यह बात बनी रहे तो समझो कि सब कुछ करते हुए भी आप कुछ नहीं कर रहे हैं। और, घर गृहस्थी के बीच रहकर भूख प्यास भी लगती है, सारे काम भी करने पड़ते हैं, सब कुछ करते हुए भी चित्त में अपना वह ज्ञान स्वभाव समाया हुआ हो तो समझिये कि आप कृतकृत्य हैं। यदि ज्ञान स्वभाव चित्त में समाया है तो समझिये कि मुझे किसी बात की तकलीफ ही नहीं है। मुझे बाहर में करने को कुछ पड़ा ही नहीं है। मैं जो कुछ कर रहा हूं वह अपने आपमें कर रहा हूं। ज्ञान को करता हूं, ज्ञान को भोगता हूं, ऐसी उस ज्ञानी पुरुष की दृष्टि लगी हुई है जिसके बल पर वह अन्तः प्रसन्न रहा करता है।

(३२) धर्म धारण के विधान में विवेक का सहयोग—भाई यहां धर्म धारण की बात कही जा रही है कि धर्म एक ऐसी चीज है कि यदि धर्म धारण कर लिया जाय तो आपका जीवन सफल हो गया यह समझिये। जिसकी जैसी दृष्टि है उस पर वैसी बीतती है। यदि दृष्टि अपवित्र रहे तो यहां अपवित्रता रहती है और यदि दृष्टि पवित्र रहे तो यहां पवित्रता रहती है। अगर दृष्टि ज्ञान स्वभाव की ओर लगी है तो वहां पवित्रता बर्तती है। उसके अनुसार इसे आनन्द मिलता है। कितना आनन्द मिलता है ? क्या लाख करोड़ रुपयों से मिलने वाले आनन्द के बराबर ? क्या यहां कि इज्जत प्रतिष्ठा के बराबर ? अरे ये तो दुःख के ही कारण हैं। इनमें आनन्द का नाम नहीं। तो क्या पुत्र के सपूत होने बराबर आनन्द मिलता है ? पुत्र के सपूत होने में भी क्या आनन्द ? जो दुःख कुपूत होने में है वही दुःख सपूत होने में है। बल्कि कपूत हुआ तो उसे छोड़ दिया, सबको सूचित कर दिया कि अब यह कुछ भी करे, यह मेरा पुत्र नहीं, लो उससे फुरसत मिल गई, पर सपूत हुआ तो जिंदगी भर उसके पीछे हैरान होते रहते हैं। लोग सोचते हैं कि मैं ऐसा मकान खड़ा कर दूँ, ऐसा धन जोड़ दूँ, ऐसे आराम के साधन बना दूँ कि मेरे पुत्र को कभी तकलीफ न हो। यों सपूतके पीछे जिन्दगी भर दुःखी होना पड़ता है। इज्जत प्रतिष्ठाकी बात ऐसी है कि इज्जत बढ़ जाने पर फिर उसकी सम्हाल के लिए रात-दिन चिन्तित रहना पड़ता है। कदाचित् इज्जत में कमी हुई तो वहां आत्महत्या तक करनी पड़ती है। तो इज्जत मिलने में भी सुख नहीं। और जिसे इज्जत नहीं मिलती वह दूसरों की इज्जत देखकर मन ही मन कुढ़ कुढ़ कर दुःखी होता रहता है। तो संसार की कोई ऐसी स्थिति नहीं जिसमें दुःख न हो। आनन्द तो केवल धर्म धारण में है, केवल एक स्वभाव दर्शन में आनन्द है। अन्य बाहरी बातों को छोड़ कर अन्तः ज्ञान प्रकाश का अनुभव करने में आनन्द है। हम भगवान की पूजा क्यों करते हैं ? इसलिए कि जिस आनन्द

Version

http://sahjanandvarnishastra.org/

को उन्होंने जिस विधि से प्राप्त किया वही आनन्द उस विधि से हमें भी प्राप्त होगा। जैसी उनकी स्थिति है, जैसा उनका पवित्र आनन्द है वैसा ही मुझे प्राप्त हो, इस स्वार्थ से हम प्रभु की पूजा करते हैं। कहीं इसलिये नहीं पूजते कि ये पूज्य हैं और हम इनके भक्त हैं। जिसका ऐसा ध्यान बनेगा वह अपनी उस प्रभुता को पा लेगा। तो हमको शान्ति मिल सकती है एक धर्मधारण से। देखो ज्ञानी होने का बड़ा महत्त्व है। ज्ञानी गृहस्थ घर के बीच रह रहा है, सारे काम कर रहा है फिर भी वह अन्तः प्रसन्न रहता है।

(३३) धर्मधारण में चहुंमुखी लाभ—और भी सुनो—मरण के बाद जब तक ज्ञानी पुरुषों को संसार में रहना पड़ेगा तब तक उसे पुण्य के कारण वैभव भी मिलेगा, इज्जत भी होगी, बड़ी बड़ी बातें भी होंगी। तो बतलाओ ज्ञानी होने में सांसारिक चीजों में कोई टोटा है क्या ? बल्कि फायदा यह है कि उसकी समाधि बनेगी, अनाकुलता प्राप्त होगी। जैसे किसान लोग भुस पैदा करने के उद्देश्य से खेती नहीं करते। उनका उद्देश्य होता है अनाज पैदा करने का। भुस तो उन्हें स्वमेव प्राप्त होता है। यदि कोई किसान भुस पैदा करने के उद्देश्य से खेती करे तो उसे मूर्ख कहा गया है। ठीक ऐसे ही ज्ञानी पुरुष धर्म करता है संसार के संकटों से छुटकारा प्राप्त करने के उद्देश्य से, न कि सांसारिक वैभव प्राप्त करने के उद्देश्य से, पर उसे ये चीजें स्वयमेव ही प्राप्त होती हैं। चक्रवर्ती इन्द्रादिक के पद उसे स्वयमेव भुस की तरह से प्राप्त होते हैं। तो भाई धर्मधारण का अपना हिसाब बनाओ और अपने चित्त को ऐसा बनाओ कि मेरे को राग, द्वेष, क्रोध, मान आदिक विकार करने लायक यहां कोई काम नहीं है। मैं तो अपने ज्ञान स्वरूप को समझ लूं और उसही को दृष्टि में लिये रहूं, बस यह ज्ञान स्वरूप, यह सहज-ज्ञानभाव, यह अन्तःदृष्टि, यही मेरे लिये सब कुछ है और इसका ही शरण गहना वास्तविक है। देखिये णमोकार मंत्र और चत्तारिण्डक को पढ़िये—वहां किसको नमस्कार किया गया है ? किसे मंगल, किसे लोकोत्तम और किसे शरणभूत बताया गया है ? देखिये णमोकार मंत्र में कोई पक्षपात की बात ही नहीं है। वहां तो आत्मा के गुणों को नमस्कार किया गया है, किसी व्यक्ति को उसमें नमस्कार नहीं किया गया। जिन साधुवों ने ज्ञान का मार्ग पाया उन साधुवों को नमस्कार किया गया है। उन साधुवों में जो पढ़ाने वाले साधु हैं उन्हें उपाध्याय कहा गया है। ऐसे उपाध्यायों को नमस्कार किया गया है। जो उन साधुवों को शिक्षा दीक्षा देने वाले हैं ऐसे आचार्यों को नमस्कार किया गया है। जो साधु अपनी समाधि में उत्कृष्टता पाते हैं, जिनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द और अनन्त शक्ति प्रकट होती है, जो अभी तक शरीर सहित होते हैं, ऐसे अरहंतदेव को नमस्कार किया है और जब शरीर भी छूट गया, केवल आत्मा ही ज्ञानमात्र रह गया उसी के मायने सिद्ध हैं तो उस सिद्ध को नमस्कार किया है। इसी प्रकार चत्तारिदण्डक में अरहंत, सिद्ध, साधु और केवलिप्रणीत धर्म को मंगल कहा है, उन्हीं को लोकोत्तम कहा है और उन्हीं को शरणभूत कहा है। बतलावो णमोकार मन्त्र और चत्तारिदण्डक में कहां कोई पक्षपात है ? देखो इस णमोकार मन्त्र और चत्तारिदण्डक को पढ़ें, उसी का चिन्तन करें और अपने अन्तःविराजमान आत्मदेव में उन्हीं गुणों का समावेश करें। यही हम आपके लिए सारभूत बात है।

(३४) हितार्थ अत्यावश्यक दो निर्णय—मैं कौन हूं और क्या करता रहता हूं ? इन दो बातों का निर्णय शांति के लिये बहुत साधक है। मैं कौन हूं—यह बात समझने के लिए इन्द्रिय का व्यापार बन्द करके अपने आपके अंतः अभिमुख उपयोग बनाकर निरखने पर यह विदित होगा कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानघन हूं। ज्ञान ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है। ज्ञानमय ही आत्मा है, ऐसा यह मैं ज्ञानस्वरूप मैं आत्मा क्या किया करता रहता हूं ? तो सीधा उत्तर यह है कि मैं जानता रहता हूं। अब यह जानना अभी विकल्पात्मक होने से कुछ कल्पना स्वरूप हो गया है, पर कल्पना होने पर भी आखिर यह ज्ञान की ही तो कोई बात है। तो मैं जानता रहता हूं। जानने में भी क्या किया करता हूं ? बस कल्पनायें ही करता चला आ रहा हूं। यही स्थिति आज तक रही। जिन जीवों के मन नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है या जब मेरी ऐसी स्थिति थी कि मैं एकेन्द्रिय था तब भी मैं मनकृत कल्पनायें तो नहीं बना सका, किन्तु, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह—इन चार संज्ञाओं के कारण इस ज्ञान का कुछ ऐसा ही परिणमन चल रहा था। तो यहां भी ज्ञान सिवाय और क्या करने में समर्थ हैं ? अद्वैतवाद में बताया गया है कि यह चेतन तो क्रोधादिक नहीं करता है किन्तु क्रोधादिक तो प्रकृति के विकार हैं और यह बुद्धि के अध्यवसित अर्थ को चेतता रहता है। भले ही एकान्तवाद होने से वह अग्राह्य हो गया, लेकिन फिर भी जिस दृष्टि से कहा गया है उस दृष्टि से सुनकर हमें यह शिक्षा मिल सकती है कि विकार मेरे स्वरूप नहीं हैं। अब देखिये—सर्व दृष्टियों से सुनना, सबकी सुनना, तत्त्व विषयक बात सुनने में अक्षमता न मानना और यह निर्णय बनाना कि मेरा तो स्वभाव दृष्टि ही एक कर्तव्य है। समयसार में बताया गया है कि "उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं। ण दु मज्झं सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को।" इसी से सम्बन्धित जब ज्ञानी का स्वरूप बताया है तो उसकी टीका में स्पष्ट किया है कि ये रागद्वेष सुख दुःख आदिक विकार आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, ये कर्मकृत हैं। तो देखो जो अद्वैतवादियों ने बात कही तो कुछ दिमाग में आया कि नहीं। समयसार में जो परभाव बताने के प्रसंग हैं वह वहां सर्व जगह यही बात विदित होगी, यह है कर्म का परिणाम और जब यह जीव उपयुक्त होता है तब यह क्रोधी कहलाता है। जैसे बाह्य पदार्थ के ज्ञान में क्या होता है ? एक झलक लिया। यहां कर्मविपाक से आच्छन्न होने में कुछ और प्रकार की झलक मिलती है। जीव के इन परिणामों को कर्म नहीं करते हैं। कर्म तो अपने आपमें करता है, किन्तु कर्म विपाक के सन्निधान बिना ये जीवविकार हो नहीं सकते। सुनने में लगता होगा तो परस्पर विरुद्ध बातें हैं। लेकिन जब जिस दृष्टि से निरखते हैं तब उस दृष्टि से उसका रहस्य विदित होता है। खैर कुछ भी नहीं, यह निश्चित है कि क्रोधादिक रागादिक विकार इनका सम्बन्ध पुद्गल से है तो ये पुद्गल में ही जाओ। मैं तो आत्मा शुद्ध स्वरूप रहूंगा। तब ही तो कहते हैं कि शुद्ध नय से च्युत न होना चाहिए। 'इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि। नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्यागाद्बंध एव हि॥' स्वभाव को शुद्ध निरखने का प्रयास बनाओ। मेरे लिए शरण एक यह ही भाव है, अन्य स्थिति, अन्य उपयोग ये मेरे लिए शरण नहीं हो सकते। मैं क्या करता रहता हूं—इस विषय पर बात चल रही है। मैं अपना उपयोग करता रहता हूं। बस उपयोग किया करता हूं। अनादि से यही करता आया हूं और यही करता जाऊंगा। बस उपयोग में यही बात रहे। उसमें कमजोरी नहीं हो। कमजोरी तो मैं जान-जानकर किया करता हूं, कल्पनायें करता चलता हूं। सो मैं इसके अतिरिक्त में और कुछ करने में समर्थ नहीं हूं।

(३५) शब्द और देहव्यापार के उदाहरण से निमित्तनैमित्तिक भाव का विश्लेषण—देखिये—देखने में तो ऐसा लगता होगा कि हम बोलते तो हैं। याने यह ज्ञानस्वरूप आत्मा बोलता तो है। पर ऐसी बात नहीं है। आत्मा बोलता नहीं है। देखिये निमित्तनैमित्तिक भाव से यह बस बात चल रही है। निमित्तनैमित्तिक भाव का दमन करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि निमित्त से भी निराला इस तरह का परिचय किया जा सकता है। ये जो शब्द निकलते हैं ये क्या हैं ? ये भाषावर्गणा के परिणमन हैं। ये भाषावर्गणा के परिणमन कैसे निकल आये ? इनका निमित्त क्या है ? वह दांत, कंठ, ओंठ, जिह्वा आदिक का सम्बन्ध, इनका स्पर्श, इनका संयोग यह है भाषावर्गणा का परिणमन, शब्दरूप उस परिणमन का निमित्त। है यह सब मुख के उपाङ्ग। तब ही तो देखो कैसी ठीक व्यवस्था बनी है कि ओंठ में ओंठ मिलाया तो प फ ब भ म आदि शब्द निकलने लगते हैं। जिह्वा को दांतों में लगाया तो त थ द ध आदि शब्द निकलने लगते हैं। जिह्वा को अगर ऊपर मसूढ़ों में लगा दिया तो ट ठ ड ढ आदि शब्द निकलने लगते हैं। इन शब्दों के निकलने के ऐसे ही स्थान हैं। यहां कोई यह पूछ सकता है कि अच्छा यदि मैं शब्द नहीं बोलता हूं तो ओठों को तो चलाता हूं। पर भाई ओंठ भी तुम नहीं चलाते, शरीर में इस प्रकार की वायु चली, उस ढंग से ये ओंठ जिह्वा आदिक चले। तो जिह्वा आदिक के इस प्रकार के हलन का निमित्त है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

शरीर की वायु की धड़कन। अच्छा तो सही। शरीर की वायु धड़कन तो मैं करने वाला हूं? नहीं भाई, नहीं। शरीर की वायु की जो धड़कन हुई है वह भी आत्मा के प्रदेशों का जो परिस्पंद हुआ यह परिस्पद इस वायु के संसरण का निमित्त हुआ है। अच्छा यह ही सही। अब यह बतलाओ की आत्मा के प्रदेशो का इस तरह से परिस्पंद कैसे हो गया है? तो सुनों—आत्मा में इच्छा हुई, जिस ढंग की इच्छा हुई, जिस ढंग का कम्पन हुआ, उसी अनुकूलता को लिए हुए निमित्त नैमित्तिक बात हो होकर यह शब्द वर्गणाओं की निष्पत्ति हुई। अच्छा, तो मैं इच्छा करने वाला रहा। और इच्छा के साथ लगा है ज्ञान। तो ज्ञान और इच्छा यहां तक तो मेरी करतूत हुई, इसके आगे मेरी करतूत नहीं है। और, तो सब निमित्त नैमित्तिक भाव में जैसा जो कुछ विधान है वह होता जा रहा है।

(३६) पारस्परिकता में भी वस्तुस्वातन्त्र्य का दिग्दर्शन—मैं तो एक जानने का काम करने वाला हूं। कर्म विपाक निमित्त बना तो इच्छायें कर रहा हूं। इष्ट अनिष्ट कल्पनायें जगीं, हमने अपराध किया। इतना अपराध होने पर भी मैं परवस्तुका कर्ता नहीं हूं। किन्तु अपने आपके प्रदेश में अपने-अपने आपका ही सब कुछ कर रहा हूं। तो जब हम जगत के किसी बाह्य पदार्थ का कुछ कर नहीं सकते तब इतने विकल्प क्यों किए जा रहे हैं? यह सब क्या है? अज्ञान है। समयसार में बताया हैं कि "णिंदिय संथु इवयणाणि पुग्गला वहुविहा परिणमंनि। ताणि सुणिऊग रूसदि तूसदि अहं पुणो भणिदो।" ये निन्दा और स्तुति के वचन ये पद्गल के नाना परिणमन हैं, इनको सुनकर यह मोही यों समझकर कि यह मुझकोकहा है सो रुष्ट होता है, तुष्ट होता है इनके सम्पर्क में जीव क्लिष्ट होता है, यह कल्पनायें करता है, इन शब्दों के द्वारा कहा गया है याने इसने मुझे कुछ कहा है ऐसा सोचकर यह रुष्ट तुष्ट होता है, क्लिष्ट होता है, पर बात क्या है कि वचन वचन है, जीव जीव है। क्या सम्बन्ध है? अत्यन्ताभाव वाले पदार्थ हैं। इसी सम्बन्ध में अमृतचन्द्र जी सूरि कहते हैं—यथेह वहिरर्थो घटपटादिः देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा मां प्रकाशय इति स्वप्रकाशने न प्रदीपं प्रयोजकति, न च प्रदीपोपि अयस्कान्तोपकृष्टाय सूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तान् प्रकाशयितुमायाति, किन्तु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात्परमुत्पादयितुमशक्यत्वाच्च यथा तदसंन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव प्रकाशते। स्वरूपेणैव प्रकाशमानस्य चास्य वस्तुवैचित्र्यवशेन नाना परिणतिमासादयन्तः कमनीयाः अकमनीया वा घटपटादयो न मनागपि विक्रियायै कल्प्येत। ये बाह्य पदार्थ घट पट आदिक जो प्रकाशित हुए हैं, ये दीपक को कोई जोर नहीं दे रहे हैं कि हे दीपक! तुम मुझे प्रकाशित करो। और दीपक भी जब जलता है तो ये पदार्थ प्रकाशित हो जाते हैं, सो वहां दीपक अपने स्थान से जा जाकर किसी पदार्थ को प्रकाशित करता हो ऐसी बात नहीं है। सामने ये घट पट आदिक पदार्थ हों तो, न हों तो, दीपक तो स्वयं प्रकाशमान हो रहा है। अब यहां निमित्तनैमित्तिक भाव की बात है यह कि अब इस तरह जब दीपक प्रकाशमान हो रहा है तो जो घट पट आदिक प्रकाशित होते हैं। वे प्रकाशित होने पर भी कहीं यह नहीं है कि घट को प्रकाशित किया तो दीपक को गोल बनाना पड़ा हो और कोयले को प्रकाशित किया तो उसे काला बनाना पड़ा हो। यह प्रकाशित पदार्थ दीपक के विकार के लिए नहीं बनता। इसी तरह जरा अपने अंतः देखो। यही बात रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक की है। ये आत्मा से कहीं यह नहीं कहते कि मुझे छुवो, चखो, सूंघो आदि और यह आत्मा भी अपने प्रदेशों से हटकर बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करने नहीं जाता है। यह बात यद्यपि निश्चित है कि ऐसी यह बात हो रही है कि चाहे बाह्य पदार्थ हों तो, न हों तो यह ज्ञान अपने आप जान रहा है। अब जान तो लिया, ये बाह्य पदार्थ विषयभूत तो हुए, लेकिन ये कभी आत्मा का बिगाड़ करने के लिए तैयार नहीं होते है। वस्तु को वस्तु में वस्तु का सर्वस्व निहारो। निमित्तनैमित्तिक भाव है, होने दो, मेटा नहीं जा सकता है। होता आया है होता रहेगा, पर अपने आपकी भी तो संभाल करो। मैं सबसे निराला केवल अपने आप में अपनी कल्पनायें करता हुआ नाना यात्रायें करता चला जा रहा हूं। ऐसा यत्न करें। अरे निमित्तनैमित्तिक भाव और वस्तुस्वातन्त्र्य दोनों एक साथ चलते जा रहे हैं। निमित्तनैमित्तिक भाव ने

Report any errors to ... @gmail.com

http://www.jainkosh.org

वस्तुस्वातंत्र्यका घात नहीं किया। वस्तुस्वातंत्र्यने निमित्तनैमित्तिक का घात नहीं किया। यों अनेक बातें सोचते जावो।

(३७) एक अन्य उदाहरण द्वारा ज्ञानवृत्ति के स्वातन्त्र्यका दिग्दर्शन—यहां फर्स में जो प्रकाश आ रहा है जरा बतलाओ तो सही कि यह किसका प्रकाश है ? सारी दुनिया यही कहेगी कि यह प्रकाश तो सूर्य का है। बतलाओ सूर्य कितना बड़ा है ? सूर्य का क्षेत्र करीब पौने दो हजार कोश का है। तो क्या सूर्य की चीज सूर्य में से निकल कर इतनी दूर आयगी ? जिसने वस्तु का स्वरूप परखा होगा उसका तो यही उत्तर आयगा कि सूर्य की चीज सूर्य में ही रहेगी। उसके बाहर उसकी चीज कैसे पहुंचेगी ? तो वह प्रकाश इतनी दूर पड़ा है, जो सूर्य लाखों योजन दूर है, क्या उसका प्रकाश यहां आ जायगा ? न आना चाहिए। तो फिर यह प्रकाश यहां हो कैसे गया ? हो ऐसे गया कि सूर्य तो है स्वयं प्रकाशमान और यह जो फर्श है, प्रकाशित है, वह स्वयं प्रकाशमान तो नहीं, किन्तु प्रकाशित पदार्थ का निमित्त सन्निधान पाकर प्रकाश अवस्था को प्राप्त हो ऐसा वाला है। यहां फर्श पर सूर्य का सन्निधान हुआ। अपने आपकी परिणति से इस निमित्तनैमित्तिक भाव में हुआ क्या, कि सूर्य का सन्निधान पाकर फर्श अंधकार की अवस्था को छोड़कर प्रकाश अवस्थारूप हो गया। तो देखो निमित्तनैमित्तिक भाव का इतना प्रबल उदाहरण होने पर भी वस्तुस्वातन्त्र्यका भी कैसा अनोखा उदाहरण है, इसी तरह बाह्य पदार्थ हमारे ज्ञान द्वारा ज्ञात होते हैं फिर बाह्य में हमारा कोई करतब नहीं, हम अपने आपमें ही ज्ञान की वृत्ति करते रहते ही हैं।

(३८) सुख दुःख आदि का आधार समझ—जगत में जितने सुख दुःख आदि हैं वे सब अपनी समझ के प्रकार हैं। कोई समझता है इस देह को निरखकर कि यह मैं हूं, कोई समझता अपने भीतर के कलुषित उपयोग को यह मैं हूं। कोई बाह्य क्षेत्र में रहने वाले पदार्थों को निरखकर सोच लेता है कि यह मैं हूं, लेकिन इस देह में परपदार्थ में, परभाव में अहं रूप से श्रद्धा करने वाले पुरुष क्लेश पाते हैं। और अपने आपके सहजस्वरूप में अहं की श्रद्धा करने वाले जीव सिद्धि प्राप्त करते हैं। सब कुछ विवेक से निरखने के बाद यह निर्णय होता है कि मैं तो एक ज्ञानमात्र पदार्थ हूं। देह मैं नहीं हूं, विकार मैं नहीं हूं। विचार तरंग आदिक जो होते हैं वे भी मैं नहीं हूं और समझ में तो आता है कि इसमें ज्ञान है, श्रद्धा है, चारित्र है, अन्य-अन्य अनेक गुण हैं, अनेक शक्तियां हैं, पर और अंतः प्रवेश करके अभेद हुआ करते हैं। जब श्रद्धा में आता है कि मैं ज्ञानमात्र हूं और अपने आपको जब केवल ज्ञान ज्ञान प्रकाशमात्र इस तरह से निरख जाय तो उसे अनुभव का मार्ग मिलता है।

३९) अनुभव का मूल अभेदभावदृष्टि—यद्यपि इस आत्म की समझ द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव चार पद्धतियों से होती है और परिचय भी होता है द्रव्य से—यह अनेक गुण पर्यायों का पिण्ड है। क्षेत्र से यह असंख्यात प्रदेशी, अभिन्न प्रदेशी काल से यह अपने आपकी प्रति समय की परिणति को करता रहता है और भाव से इसमें अनेक गुण हैं, लेकिन द्रव्य से परिचय तो हुआ, पर द्रव्यदृष्टि को याने यहां द्रव्य के मायने हैं भिन्न दृष्टि। भिन्न दृष्टि, के गुण पर्यायों के समूह को जब ज्ञान में रखते हैं तो चर्चा तो मिलती है पर एक अनुभूति का प्रथम समय नहीं है वह, याने उससे पूर्व ऐसा तर्क-वितर्क करने वाले को अनुभूति नहीं हो पाती। अनुभूति की प्राक् क्षणों में क्या स्थिति होती है, उसे लक्ष्य में लेकर कहा जा रहा है। आत्मा का परिचय तो मिलता है क्षेत्र दृष्टि से। यह बहुत लम्बा चौड़ा असंख्यात प्रदेशी है। देह के नख से लेकर मस्तिष्क की शिखा तक यह जीव है, ऐसा परिचय तो मिल गया, लेकिन इस परिचय के बाद हम अनुभूति में नहीं पहुंच पाते हैं, इसी तरह से काल दृष्टि से परिणमन को जब हम निरखते हैं, परिचय तो मिलता है इस जीव का कि इसमें रागद्वेषादिक अनेक परिणमन होते हैं। वह परिणमन भी क्या है ? चिदाभास। जब कर्म उदय में होता है तो कर्म भी उसी प्रकार की अवस्था को लिए हुए होता है, लेकिन वह अचेतन है इसलिए उसमें अनुभूति नहीं और वह पदार्थ है इसलिए यह आत्मा भी उनकी अनुभूति नहीं करता,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पर उस निमित्त सन्निधान में यह उपयोग क्रोधन आदिक अवस्था को धारण करता है, वह क्या है ? चिदाभास। जैसे स्फटिक मणि में कोई उपाधि लगा दी गयी तो उसमें लाल पीला आदिक अनेक रंग आ जाया करते हैं, वे परभाव कहे जाते हैं, क्योंकि वह स्फटिक स्वयं उस रूप नहीं परिणमा। वहाँ उनको भी निरखा जाय तो इतने से भी अनुभूतिका तुरन्त अवकाश नहीं मिलता। जब भावदृष्टि से देखते हैं तो भावदृष्टि में दो पद्धतियां होती हैं—एक पद्धति में तो श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदिक अनेक शक्तियों का परिचय होता है। सो यहां भी नाना विध शक्तियों के परिचय के या चिंतन के तुरँत बाद अनुभूति का अवकाश नहीं हो पाता है, किन्तु यह भाव दृष्टि जब अभेदरूप होती है और केवल ज्ञानमात्र, चैतन्यमात्र प्रकाशमात्र दृष्टि होती है और उसके बाद यह संकल्प छूटता है, ऐसी स्थिति पूर्व क्षण में होती है जहां कि अनुभूति हुआ करती है। तो अपने आपको अनुभवने में उसने क्या अनुभवा ? एक ज्ञान प्रकाश। तो यह एक श्रद्धा बनाले, निर्णय बनाले बड़ी दृढ़ता के साथ कि मैं तो ज्ञानमात्र हूं अन्य कुछ हूं ही नहीं। कभी भी किसी भी प्रसँग में इस श्रद्धा को, इस धारणा को न छोड़ें 'मैं ज्ञान मात्र हूं' तो समझ लीजिए कि जीवन में शान्ति होगी, सो तो है ही, मगर उद्धार हो जायगा। बहुत निकट काल में हम केवल ज्ञानमात्र व्यक्त हो जायेंगे। तो अपने आप को अपने पर ही दया करके ऐसा कुछ निरखते रहना चाहिए कि मैं ज्ञानमात्र हूं। देह भी मैं नहीं।

(४०) **बाह्य पदार्थ के व्यामोह का दुष्परिणाम**—भैया! विवेक करके देखो—बाह्यपदार्थों से सम्बन्ध ही क्या है ? उनके सम्बन्ध में ममता जगती हो, तृष्णा जगती हो, लगाव होता हो तो उसका खेद मानें। यहां मौज मानने लायक कोई चीज नहीं है। धन वैभव सम्पदा पायी, परिवार पाया, इष्ट समागम पाया, ये कोई मौज मानने लायक चीजें नहीं हैं। इनमें कोई मौज मानेगा तो वह बड़ा धक्का खायगा। एक तो धक्का यह है कि जिन जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग नियम से होता है। चाहे हम खुद पहिले मरें या हमारे सामने ही कोई इष्ट व्यक्ति मरे, पर मरण अवश्य होगा, वियोग अवश्य होगा। जहां संयोग है वहां वियोग है। जितना समागमों को पाकर बीसों वर्ष तक मौज माना उससे भी अधिक कष्ट तुरंत वियोगसे प्राप्त होगा। कभी-कभी तो ऐसा भी देखा गया है कि इतना अधिक वियोग हो जाता है किन्हीं-किन्हीं का तो हार्ट फेल हो जाता है। तो यहां का कोई भी समागम मौजमानने लायक नहीं। यहां के समागमों में यदि ममता होती है तो उसमें तो खेद होना चाहिए कि क्यों ममता होती है ? अरे मैं तो ज्ञानघन हूं, ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, जिसमें अन्य किसी का भी प्रवेश नहीं होता है, क्यों होता है इन बाह्य समागमों से मेरा लगाव, क्यों होता है ऐसा मोह ? यों उससे खेद मानें। अरे ये समागम लगाव के लिए नहीं हैं, यह मानव जीवन मौज मानने के लिए नहीं है, किन्तु आत्मोद्धार का मार्ग पा लेने के लिए है। चाहे ये मेरे सकल समागम छूट जावें—जैसे कि पूजन में भी कहते हैं ना कि—अस्मिञ्ज्वलद्विमलकेवलबोधवन्हौ पुण्यं समग्रमहमेकमना-जुहोमि अर्थात् मैं अपने सारे पुण्य को स्वाहा करता हूं। पुण्योदय से जो सम्पदा मिली उसे भी पुण्य कहा, जो पुण्यकर्म का कारण भूत है उसे भी पुण्य कहा, और जो भी पवित्र विचार तर्क आदि उत्पन्न होते हैं उन्हें भी पुण्य कहते हैं, तो मैं समस्त प्रकार के पुण्यों को स्वाहा करता हूं। अरे भाई पुण्य को स्वाहा करके कहाँ रहोगे ? क्या पाप में रहोगे ? नहीं भाई! इन पुण्य पाप दोनों को स्वाहा करके मैं तो अपने आपके ज्ञान प्रकाश में रहूंगा पुण्य पाप इन दोनों से निवृत्त होकर केवल एक ज्ञानप्रकाश में अपने ज्ञान को अवस्थित करना है वह है स्वका प्रकाश।

अपने आपका यह निर्णय रखें कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं, अन्य कुछ नहीं हूं। और और भी लगाव रहते हैं—मैं अमुक का पिता हूं, पुत्र हूं आदि। कुछ और और भी बातें चित्त में आती हैं उन सबको निकाल दीजिए। समय पर व्यवहार में बोलना पड़ता है तो बोल लो, लेकिन श्रद्धा में यह बात बैठी होनी चाहिए कि मुझे तो यों बोलना पड़ रहा है। जैसे फर्म का एक मुनीम ले लो—वह ग्राहकों से इसी तरह तो बोलता है कि हमारा तुम पर इतना चढ़ा,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

तुम्हारा हम पर इतना आया। अमुक से हमें इतना लेना है, इतना देना है, मुझे इतना लाभ हुआ, इतनी हानि हुई आदि यह सब वह बोलता तो है, मगर इसकी श्रद्धा में यह बात बसी हुई है कि यह मेरा कुछ नहीं है। मुझे तो इस तरह का वचन व्यवहार करना पड़ रहा है। यह तो मेरी डियूटी है। तो ऐसे ही इतनी बात हम आपकी श्रद्धा में रहनी चाहिए कि मैं तो ज्ञानमूर्ति हूं। मेरा तो मैं हूं। मेरा तो मैं ही सब कुछ हूं। मेरा मेरे सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है। ऐसे इस ज्ञानमात्र अनादि अनन्त सत्य सनातन निज अंतस्तत्त्व की दृष्टि हो तो यह मनुष्य जीवन सफल है। देखिये जितने भी धर्म के कार्य हैं हमारे व्यवहार में वे सब बाह्य साधन हैं। हम उन बाह्य साधनों का सही उपयोग करें तो उनसे हम लाभ भी लूट सकते हैं और बाह्य साधनों का सही उपयोग न करें तो करते रहें श्रम, हम उससे अपने धर्म का लाभ न उठा पायेंगे।

(४१) अनुलोम प्रतिलोम चिन्तना से तत्त्व की स्पष्टता—अब एक अन्तः चिन्तन की बात देखो—जैसे भावनायें होती हैं, अनित्यभावना में कहते हैं कि यह भी मिटेगा, यह भी मिटेगा। अरे मिटना मिटना ही भावना में रखा तो उससे आप घबड़ाहट ही पायेंगे। अरे इस मरने की, विनाशीकता की बात के साथ-साथ यह भी तो देखें कि मेरे अन्तः प्रकाशमान जो ज्ञान स्वरूप भगवान आत्मा है वह तो न मरेगा। अगर इस नित्यपने की बात भी साथ हो चित्त में हो तो फिर वह अनित्यभावना लाभदायक होगी। नहीं तो वह अनित्य भावना तो एक घबड़ाहट ही पैदा करेगी। यदि इस डोर को छोड़कर पतंग यहां वहां जाती है तो वह निराश्रय होकर कहीं न कहीं गिरेगी। अशरण भावना में बोलते हैं कि "दल बल देवी देवता मात पिता परिवार। मरती बिरिया जीव को कोई न राखनहार॥" तो ठीक है यह बात, लेकिन कोई इतना तक ही जानता हो कि हां ये कोई शरण नहीं हैं, सब स्वार्थ के साथी हैं और जब बड़े झझंट हो जाते हैं, आपस में झगड़े हो जाते हैं तो क्रोधी पुरुष भी यही बोलते हैं कि कोई किसी का रक्षक नहीं, सब स्वार्थ के साथी हैं। तो क्या वे सब अशरण भावना भाने वाले हो गए? अरे यह तो एक मोटी बात है, यह तो गुस्से में आकर भी कह दिया जा सकता है, लेकिन धर्मबुद्धि से तो वह ही कह सकेगा जिसको यह पता हो कि मेरे अन्तःप्रकाशमान जो ज्ञानस्वरूप है वह निश्चयतः मेरा शरण है। उसकी यह बात भी सही है "दल बल देवी देवता मात पिता परिवार। मरती बिरिया जीव को कोई न राखनहार।" सो यह बात तो ठीक है, लेकिन उसके साथ यह जुड़ा है कि मेरा मैं राखनहार हूं, कोई दूसरा राखनहार नहीं। संसार भावना में भी सोचते हैं कि सब कुछ असार है। सब बेकार है—"दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान्। कहुँ न सुख संसार में सब जग देखहु छान॥" बात ठीक है, लेकिन कोई इतना तक ही समझ रहा है, बाहर बाहर में तो ऐसा कहने वाले अनेक लोग मिलेंगे। यहां कौन सुखी है? सब दुःखी हैं, ऐसा कहने वाले तो प्रायः सभी मिलेंगे, एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक देख लो—प्रायः सभी लोग ऐसा ही बोलते हैं। कुछ थोड़ा जब विवेक करते हैं तो प्रायः सभी लोग यही कह बैठते हैं कि वास्तव में सारा संसार दुःखी है, सब असार है, लेकिन ऐसा कहना उसका सफल है जिसे यह विदित हो गया कि मेरे ज्ञान में मेरा ज्ञानस्वरूप भगवान अंतस्तत्त्व रहे, ऐसी स्थिति रहे, यही सारभूत है। ऐसा जिसका परिचय है उनकी इस बात में दम है कि सब असार है। नहीं तो झुंझलाने वाले लोग भी ऐसा ही बोला करते हैं और घर छोड़कर भी भाग जाते हैं। तो घर छोड़कर भगने पर क्या वे शान्त हो गए? उन्हें सब बेकार जंचा, लेकिन बेकार असार जंचा, इतने मात्र से बात न बनेगी, किन्तु अपना सार भी जंचना चाहिए कि सार क्या है, यही समयसार है। तो जो हमारे बाह्य साधन हैं और भाव विचार चिन्तन के साधन हैं ये सब साधन तब सही उपयोग में होते हैं जब एक ज्ञानमात्र निज अंतस्तत्त्व की ओर दृष्टि हो। जिसे यह पूर्ण धारणा है उसे कहां भय, कहां विकल्प, कहां चिन्ता? लोग डरते हैं, भय खाते हैं, पर इसे कहां भय?

(४२) आत्म वैभव के अधिकारी की निर्भयता—जिन्होंने अपने आपके आकाशवत् निर्लेप ज्ञानमूर्ति

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ऐसे इस ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व में अपने ज्ञान को खचित किया है उसे कहां भय है ? भला बतलाओ तो सही—किसी बड़े अफसर को जब किसी तबादले में जाना पड़ता है तो वह ठाठ के साथ जाता है। उसे एक रेलगाड़ी का डिब्बा मिलता है, मालगाड़ी का डिब्बा मिलता है, १०-२० नौकर माल चढ़ाने वाले इधर मिलते हैं, अनेक नौकर माल उतारने वाले वहां मिलते हैं। मकान खाली मिलेगा। उस आफीसर का स्वागत करने के लिए अनेक लोग वहां खड़े होंगे। तो बताइये वह अफसर क्या करता है ? सिर्फ यहां गाड़ी में चढ़ना और वहां उतरना। उसे क्या तकलीफ ? उसको तो सब आराम है। तो ऐसे ही समझिये कि जो ज्ञानी पुरुष है उसे भी मरण का क्या भय ? वह तो यहां भी आराम से रहेगा और मरण करके जिस जगह जायगा वहां भी आराम के समागमों के बीच रहेगा। जो आत्मज्ञानी पुरुष है वही वास्तव में अमीर है। जिसे अपने ज्ञानमात्र स्वरूप का परिचय हुआ है, ऐसे पुरुष को तबादला से अर्थात् मरण से क्या भय ? जहां जायगा वहां ही लोग उसका स्वागत करेंगे अर्थात् उसे वहां क्या तकलीफ ? और भी देखो—वह ज्ञानी पुरुष अपने साथ में सारे वैभव को लिए जा रहा है। अनन्त ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द का जो गुण है वह सब साथ लिए जा रहा है। यह ज्ञानदृष्टि साथ जा रही है, उसका कुछ भी नहीं छूट रहा है। वह निरख रहा है कि मेरा पूरा का पूरा वैभव मेरे साथ जा रहा है। वहां बाह्यदृष्टि का भी आनन्द है, ऐसे उस बड़े ज्ञानी अफसर को क्या कष्ट ? कष्ट तो होगा इन मोही मिथ्यात्वी क्लर्कों को, जीवों को। जो मरते समय भी कहते हैं कि भैया को दिखा दो, मुन्ना मुन्नी को दिखा दो, यों मोह में ही मर रहे हैं। वहां विग्रहगति में आकुलता है। इन्द्रियां नहीं हैं, मगर जायगा कहां ? यहां का झंझट मिटेगा कहां ? जहां जायगा वहां भी क्लेश और जहां पैदा होगा वहां सारे जीवन भर भी क्लेश। तो भाई बाह्य ममता में कोई सार नहीं है। ममता को छोड़ो और भीतर में सत्य श्रद्धा बनायें, चिन्तन बनायें, अनुभूति के लिए कमर कसकर बैठ जायें। मुझे तो अपने आपमें अपने आपको निरखना है, और मैं अपने भगवान से पूछकर रहूंगा। मुझे दूसरे की चिन्ता नहीं, किन्तु यह खुद जवाब दे तो दे। देखो जब भगवान ऋषभदेव विरक्त हो गये तो सबको राज्य तो दे दिया था, पर दो लोग रह गए थे। तो वे पहुंचे, बोले—महाराज आपने सब को तो सब कुछ दिया, पर मुझे कुछ नहीं दिया। तो वहां देवता आये, बोलें—चलो हम राज्य देते हैं, तो वे बोले कि हमें अन्य किसी से कुछ न चाहिए, वही दें तो दें। यों उनकी एक हठ थी। तो ऐसा ही हठ करके बैठ जावो कि हम तो अपने भीतर से सीखेंगे। तो भीतर से हम सब सीख सकेंगे। जो दूसरों से सुना है, खयाल किया है, यहां वहां का विचार है, तरंग है ये सब बातें छोड़ दें और ऐसा सरल होकर बैठ जावें कि जो यह भगवान उत्तर देगा बस वही चाहिए, अन्य से मुझे कुछ न चाहिए। उत्तर मिलेगा, समाधान मिलेगा, मगर यह तैयारी ईमानदारी के साथ हो। किसी का भी रंच विकल्प, ख्याल, ममता, लगाव न हो तो अपना भगवान अपने को उत्तर दे देगा।

(४३) आत्म वैभव के परिचयी के सहज वैराग्य—देखिये-बात यह है कि अपने आपकी ऐसी श्रद्धा धारणा बनाये रहें रात दिन सदा, घर में हों, दुकान में हों, कहीं भी हों कि मैं तो ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, ज्ञान-मूर्ति हूं। जो जानन है वह विचित्र पदार्थ है। संसार के समस्त पदार्थों से विलक्षण पदार्थ है केवल एक ज्ञानस्वरूप उपयोग मात्र, और मेरा कुछ नहीं है और मैं कुछ नहीं। यह बात अगर चित्त में जमी रहेगी तो आप पवित्र हैं। अवश्य ही कल्याण होगा। इसकी आवश्यकता ही है मनुष्यभव में। ऐसे इस ज्ञानतत्व को जिसने निरख पाया ऐसा कोई मनुष्य, आत्मा अगर विषयकषायों के प्रसंग में फंस रहा है, पूर्वबद्ध कर्मोदयवश ऐसा हो रहा है कि भोगों में, खान-पान में, इन्द्रिय के अन्य विषयों में उसे पड़ना पड़ रहा है तो वह उसमें तीव्र अरतिभाव के लिए रहता है, जिसे लोग झट कह देते हैं कि भाई चरित्र मोह का उदय है इसलिये रहता है। मौज में तो बोल रहे हैं —"भाई चरित्र मोह का उदय है याने बोलने का भी मौज आ रहा है और वह असंयम चारित्र मोह छूटता भी नहीं है, और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हम सम्यग्दृष्टि भी कहायें, धर्मात्मा कहायें, ऐसा अनेक लोग सोचते हैं, तो भाई ऐसी पद्धति से काम न चलेगा। अपनी परीक्षा करें तो उस विषय प्रसंग में रहते हुए तुम्हारा मुख कहां रहता है ? तुम्हारा लगाव कहां रहता है ? अगर उसकी ओर लगाव है तो यह बोलना बेकार है। एक तो अरतिभाव रहता है— कैसे फंस गए ? जैसे किसी विपत्ति में कोई फंस जाय तो यहां वहां का ध्यान रहता है—कहां फंसे ? कैसे निकलें ? इसी तरह उन भोग प्रसंगों में हुआ करता। जिसे यह बुद्धि रहती है कि मैं कब निकलूं, यह ठीक स्थिति नहीं है, ऐसी तीव्र अरति जिसे रहती है उसे कहते हैं विरक्त। तो ऐसे विरक्त ज्ञानी पुरुष का उपभोग भी कर्मनिर्जरा के लिए होता है, उसका अनन्त संसार कटता है, कर्मबन्धन टूटता है। यह बात मिलेगी ज्ञान और वैराग्य की कलासे। दो ही तो बातें हैं—ज्ञान और वैराग्य। इनमें भी मुख्यता है ज्ञान की। ज्ञानसहित जो वैराग्य होगा वह कार्यकारी होगा। कोई ज्ञान की बात रखे है तो उसका वह शुद्ध वैराग्य हो गया। तो इन दो बातों की आवश्यकता है—ज्ञान और वैराग्य। जिसका यह ज्ञान सतत जागरूक रहता है उसके वैराग्य भाव भी बना रहता है। जिसके वैराग्य है, जिसके ज्ञान है वह क्रोधादिक कषायों से हटा हुआ रहता है, लगा हुआ नहीं रहता। कभी देखा होगा कि आप किसी रास्ते में खूब तेजी से दौड़ते चले जा रहे हैं, काफी दूर तक दौड़ गए, सहसा आपको पता पड़ा कि हम तो गलत मार्ग में आ गए तो आप वहीं रुक जाते हैं। उस रुकते हुए में भी आप काफी दूर तक तेजी में भागते जाते हैं। आप अपने को एकदम रोक नहीं पाते हैं। उस दौड़ते हुए की स्थिति में आप अपने पैरों की मुद्रा तो देखिये, यद्यपि अभी आप कुछ आगे बढ़ते तो जा रहे हैं लेकिन उस समय आपके पैरों की मुद्रा कुछ और हो रही है। आपके पैरों की मुद्रा उस समय हटती हुई है, लगती हुई नहीं है। ऐसे ही जब कोई पुरुष ज्ञानी हो जाता है तो उसी सिलसिले में यद्यपि वह कुछ विषय कषायों में भी प्रवृत्ति करता है फिर भी उसकी मुद्रा उनसे हटती हुई रहती है, लगती हुई नहीं रहती। परिजनों के पालन पोषण के कार्य भी करता है, सबसे प्रेम का व्यवहार भी करता है फिर भी वह वास्तव में पालन-पोषण कर रहा है अपने ज्ञान स्वरूप का, प्रेम कर रहा है अपने ज्ञान स्वरूप से। वह जानता है कि ये सब लोग मेरे कुछ नहीं। मेरा तो मात्र यह ज्ञान स्वरूप है, मैं तो ज्ञान मात्र हूं। ये तो सब व्यर्थ के नटखट हैं। इस प्रकार का पवित्र ध्यान उस ज्ञानी पुरुष के समस्त संकटों को टालकर कल्याण का पात्र बना देता है।

(४४) मूल क्लेश और विडम्बना—लोकमें यदि कुछ विडम्बना है तो वह है जन्म मरण की स्थिति। जन्मते हैं, मरते हैं, फिर जन्मते हैं फिर मरते हैं, इस तरह जन्म मरण की जो परम्परा चली आ रही उसमें नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते चले आ रहे और उस जीवन में नाना प्रकार के इष्ट अनिष्ट संयोग वियोग के क्षण माने जा रहे हैं। यह जो पद्धति है, यह बड़ी विडम्बना की पद्धति है। लोग थोड़े से जीवन की सुख सुविधावों की बात तो सोचते हैं—मेरा मकान अच्छा बने, दुकान अच्छी चले, व्यवहार की इज्जत वगैरह अच्छी बन जाय, इसकी तो फिक्र करते हैं, मगर मूल जो क्लेश है जन्म मरण का, उसका विनाश करने की भावना उत्पन्न नहीं होती है। यदि जन्म मरण के संकटों का विनाश करने की भावना बन जाय तो बहुत सी बातों में अन्तर आ जाय, कषायें कम हो जायें, मोह तो रहेगा ही नहीं और अपने आपके स्वरूप की ओर दृष्टि इसकी अधिकतर जायगी। तो यह निर्णय रखें कि मेरे पर संकट है तो जन्म मरणका संकट है। निर्धन हैं तो कोई संकट नहीं अथवा संतान नहीं हैं या कम हैं या आज्ञाकारी नहीं हैं या कुपूत हैं, तो यह भी कोई संकट नहीं। शरीर में कोई वेदना है, रोग है तो यह भी कोई संकट नहीं। शरीर तो शरीर है, संकट तो जन्म मरण का है। और जन्म मरण के बीच जितना जीवन है उसमें नाना विकल्प करने का संकट लगा हुआ है। बतलाओ इन संकटों को मेटने का कोई सहयोगी हो सकता है ? मित्र तो हमारा वह है जो इन संकटों को मेटने में समर्थ हो। कुटुम्बी जनों में कौन मेट सकेगा इन संकटों को ? और तो जाने दो, प्रभु भी हमारे इन संकटों को मेट न पायेंगे, लेकिन प्रभु के स्वरूप के स्मरण से, प्रभु की वाणी के स्वाध्याय

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मनन से जो मेरे में ज्ञानप्रकाश होगा यह मेरा ज्ञान प्रकाश ही मेरे संकट मेट सकेगा। तो अपना यह लक्ष्य बनायें कि मेरे को तो वह काम करना है कि मेरे संकटों की जड़ ही समाप्त हो जाय। पहिले यह विचारें कि ये जन्ममरण के संकट किस आधार पर लगे हैं ? क्या कारण है कि जन्म मरण करना पड़ता है ? वह संकट है देह में लगाव रखने का। अगर देह में लगाव है, देह को माना कि यह मैं हूं और उससे ममता है, उस ही रूप से अनुभव है तो यह तो देह में अहंपने की बुद्धि हुई। इस अहंबुद्धि के कारण फल यह होगा कि खूब देह मिलते चले जायेंगे। क्यों न मिलेंगे ?-आखिर आप ईश्वरस्वरूप हैं ही, भगवत स्वरूप हैं ही। अगर देह चाहा तो बराबर देह मिलते रहेंगे। तो यह तो अनुकूल बात हुई। जो इसने चाहा, जिसमें इसकी प्रीति गई वह देह मिलता जायगा। अब यह उल्टी लीला जरूर हो गई। यदि इसके मन में यह बात समा जाय कि मुझे तो यह देह न चाहिए। इस शरीर के सम्बन्ध से ही तो ये सारे संकट बन रहे हैं। शरीर है तभी तो भूख प्यास, सर्दी गर्मी, इष्ट अनिष्ट का संयोग आदि नाना संकट लग रहे हैं। अगर यह बात चित्त में आ जाय कि मुझे शरीर न चाहिए, मैं तो शरीर से न्यारा रहकर केवल रह जाऊंगा, तो फिर करना क्या है कि इस देह से निराला अपने को तकें। ये देह से न्यारा हूं। मुझे देह न चाहिए। अगर ऐसी बुद्धि जगती है कि इस देह से निराला जो निज ज्ञान प्रकाश है उसमें अहंरूप से अनुभव बनता है तो यह निश्चित है कि देह की परंपरा दूर हो जायगी याने सिद्ध पद की प्राप्ति हो जायगी।

(४५) देहात्मबुद्धि के दूर होने पर सकल विडम्बनाओं का कारण—देह मिलने का मूल कारण है देह में लगाव। देह में लगाव होने का कारण क्या है ? देह में लगाव होना यह कहलाता है एक प्रकार का राग और मोह। उस राग और मोह में लगाव बना है। यही कारण है कि इस देह में लगाव चलता है और जन्म मरण की परम्परा चलती है। तो इसका अर्थ यह है कि जो मेरा राग मोह उत्पन्न होता है उसको हम उपयोग में लेते हैं और उसको अपनाते हैं, उसको दृढ़ करते हैं तो यह इसको देह की परम्परा मिलती है। तो मूल बात यह हुई कि विकार हम अपनाते हैं। यह मैं हूं—इस प्रकार हम उनके उपयोग का आश्रय देते हैं तो ये सारी विडम्बनायें, सारे क्लेश बनते चले जाते हैं। तब क्या करना ? इतना सावधान होना चाहिए अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव की भावना दृढ़ बना बनाकर। इतना अन्दर में साहस होना चाहिए कि स्पष्ट झलकता रहे कि मैं तो ज्ञानमात्र हूं, मेरे स्वरूप में अन्य का प्रवेश नहीं। मैं ज्ञानमात्र हूं—ऐसी धुन बने, ऐसी धारणा बने, ऐसा अपने आपके सत्य का आग्रह बने तो सब संकट दूर हो सकेंगे। बच्चे लोग तो एक कथानक बोलते हैं—एक बार गीदड़ी ने गीदड़ से कहा कि बच्चे पैदा होने को हैं तो कोई ऐसा स्थान बताओ कि जहां प्रसव कर सकें। तो गीदड़ ने कोई गुफा बतायी। वह गुफा थी किसी शेर की। पहिले तो गीदड़ी डरी कि कहीं शेर बच्चों को व हम सबको न खा जाय पर गीदड़ ने समझाया तुम चिंता न करो, जब शेर आये तो तुम बच्चों को रुला देना और जब हम पूछें कि ये बच्चे क्यों रोते तो बोल देना कि ये बच्चे शेर का मांस खाना चाहते हैं, बस हम सब सम्हाल लेंगे। गीदड़ी ने उस गुफा में बच्चे दिए। गीदड़ गुफा के ऊपर की चोटी पर बैठा करता था। एक बार शेर आया तो गीदड़ ने क्या किया कि बच्चों को रुला दिया। ऊपर से गीदड़ ने पूछा —ये बच्चे क्यों रोते हैं ? तो गिदड़ी बोली कि ये बच्चे शेर का मांस खाना चाहते हैं। इस बात को सुनकर शेर डर गया समझा कि यहां तो मेरे खाने वाला भी कोई रहता है। सो वह डर कर भाग गया। अब दूसरा शेर आया तो फिर गीदड़ी ने अपने बच्चों को रुला दिया, गीदड़ ने पूछा कि ये बच्चे क्यों रोते हैं ? तो गीदड़ी बोली कि ये बच्चे शेर का मांस खाना चाहते हैं। तो इस बात को सुनकर वह शेर भी डर कर भाग गया। यों बीसों शेर डर डरकर भाग गए। एक बार बहुत से शेरों ने मिलकर अपनी अपनी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सम्मति दी कि देखो यह जो पहाड़ी की चोटी पर ऊपर गीदड़ बैठा है उसकी सारी करामात है जो वहां अपनमें से कोई टिकने नहीं पाता। तो क्या करना चाहिए? सलाह हुई कि देखो—उस ऊपर चोटी पर बैठे हुए गीदड को मार दिया जाय तो बस काम बन जायगा। अच्छी बात। अब ऊपर चढ़ा कैसे जाय? सो सलाह हुई कि एक शेर पर दूसरा, दूसरे पर तीसरा यों क्रम से चढ़कर उसके पास जाकर मारा जा सकता है। ठीक है। पर नीचे कौन रहे? सलाह हुई कि यह जो लंगड़ा शेर है यह ऊपर चढ़ भी नहीं सकता, इसको नीचे रखा जाय। ठीक है। सो वह लंगड़ा शेर नीचे रहा, उसके ऊपर क्रम क्रम से अन्य शेर चढ़ते गए। जब गीदड़ के कुछ निकट पहुंच गए तो गीदड़ी ने फिर बच्चों को रुला दिया। गीदड़ ने पूछा कि ये बच्चे क्यों रोते हैं? तो गीदड़ी बोली कि ये बच्चे लंगड़े शेर का मांस खाना चाहते हैं। सो लंगड़ा शेर डरकर भागा और सभी शेर एक पर एक भद-भद कर गिरे। तो ऐसे हीं समझिये कि हम आपके साथ लगा हुआ है यह लंगड़ा भ्रम। इसे लंगड़ा यों कहा कि इसमें कुछ भी तो दम नहीं है। यह भ्रम कल्पना से बना है। और इस भ्रम के ही कारण हम आप पर जन्म मरण के अनेक संकट छाये हैं। इस देह में आत्मीयता का जो भ्रम लगा हुआ है उस ही भ्रम के कारण हम आपके ये सारे संकट चल रहे हैं। यह भ्रम खिसका नहीं कि बस सारे संकट समाप्त। जरा सोचो तो सही कि इस जन्म मरण का कितना बड़ा दुःख है? फिर इस जन्म-मरण के बीच का जो थोड़ा सा समय है उसमें भी हम आपकी क्या स्थिति है? अरे जैसे बांस के ओर छोर में लगी हो आग और बीच में कोई कीड़ा पड़ा हो तो जो स्थिति उस कीड़े की है ठीक वैसी ही स्थिति हम आपकी है। इस थोड़े से जीवन में राग द्वेष मोह, ममता, संकल्प, विकल्प आदि के नाना क्लेश हैं। इस जीवन में वस्तुतः सुखी कोई नहीं है। सुखी तो केवल ज्ञानी पुरुष ही हैं। जिसने यह निर्णय बना लिया कि मैं तो सबसे निराला ज्ञानमात्र हूं। मेरा किसी भी पदार्थ से रंच भी सम्बन्ध नहीं। यहां तक कि यह जो दिखने वाला देह है इस तक से भी हमारा सम्बन्ध नहीं। ऐसा विवेकी पुरुष इतना धैर्यवान होता है कि चाहे कैसे ही उपद्रव उस पर टूट पड़ें फिर भी वह अधीर नहीं होता है। यहां तो ये अज्ञानी मोही प्राणी इन संकट के मेटने व सुख शान्ति पाने का जो कुछ भी प्रयत्न करते हैं बस सब उल्टा करते हैं। बल्कि होता क्यों है कि ज्यों ज्यों वे अपनी समस्यायें सुलझाने का प्रयत्न करते हैं त्यों त्यों वे और भी फंसते जाते हैं। फंसने का मुख्य कारण यही है कि करना तो चाहिए था काम आत्मदया का, पर कर बैठते हैं आशा तृष्णा का काम।

(४६) स्वपरविवेक की आत्मदयारूपता—आत्मदया वास्तव में यही है कि जिन बातों से कर्म-बन्धन होता है उन बातों से दूर रहें। तभी हमारे संकट दूर हो सकते हैं। कर्म बन्धन किस तरह से होता है—उसके लिए एक दृष्टान्त लीजिए। जैसे किसी धूल भरे अखाड़े में तैल लगाकर तलवार लेकर कोई पहलवान केला के पेड़ अथवा बांस काटने का व्यायाम करता है, सीखता है, तो वहां होता क्या है कि उसका सारा शरीर धूल से लथपथ हो जाता है। अगर पूछा जाय कि बताओ उसके शरीर में धूल चिपकने का कारण क्या है? तो कोई कहेगा कि साहब उसने धूल भरे अखाड़े में घुसने का काम किया इसलिए चिपकी, कोई कहेगा कि तलवार चलाने का व्यापार किया इसलिए चिपकी, कोई कहेगा कि साहब वह छोटे-छोटे पेड़ काटने का बुरा काम करने आया इसलिए चिपकी, लेकिन विवेकी पुरुष तो यह कहेगा कि तुम सब लोगों की ये बातें गलत हैं। देखो बिना तैल लगाये कोई पुरुष अखाड़े में जाता है तो उसके शरीर में तो धूल नहीं चिपकती, शरीर में तैल लगाये बिना कोई पुरुष तलवार चलाने का व्यापार करता है तो उसके तो धूल नहीं चिपकती, अथवा बिना तैल लगाये कोई पुरुष अखाड़े में कदली आदि के पेड़ काटता है तो उसका शरीर तो धूल से लथपथ नहीं होता तो तुम लोगों कि ये सब बातें गलत हैं। अरे धूल

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चिपकने का मुख्य कारण था वह तैल (स्नेह)। तो इसी प्रकार कर्म बन्धन की भी बात समझिये। अगर पूछा जाय कि बताओ इस संसार में कर्म बन्धन क्यों होता है ? तो कोई कहेगा कि इस कर्म भरे संसार में ये प्राणी रह रहे हैं इसलिए कर्म बंध रहे हैं। कोई कहेगा कि यह प्राणी साज श्रृंगार के बड़े बड़े साधन लिए है इसलिए कर्म बंधते हैं। कोई कहेगा कि यह प्राणी मन, वचन कायकी चेष्टायें करता है इस लिए कर्मबन्ध होता है, पर ज्ञानी पुरुष कहता है कि तुम सबकी ये बातें झूठ हैं, इस तरह से कर्मबन्ध नहीं होता। अरे अगर कर्म भरे संसार में कर्मबन्ध होता तो फिर सिद्धों के भी कर्मबन्ध होना चाहिये था, पर ऐसा तो नहीं होता अगर साज श्रृंङ्गार के साधन होने से कर्मबन्ध होता तब तो देखिये—तीर्थंकर भगवान के समवशरण में कितनी शोभा होती है बड़े बड़े चमर छत्र सिंहासन बड़ा साज श्रृंङ्गार होता है। तब तो उनके भी कर्मबन्ध होना चाहिये था, पर ऐसा तो नहीं होता और अगर यह कहो कि मन, वचन, कायकी क्रियायें करने से कर्मबन्ध होता है तो यह भी तुम्हारी बात झूठ है। देखो भगवान अरहंतदेव के ये मन, वचन, कायकृत सभी क्रियायें चलती हैं, उनकी दिव्य ध्वनि खिरती है, उनका विहार होता है, पर उनके तो कर्मबन्ध नहीं बताया गया, अथवा मन, वचन, कायकी क्रियायें करने वाले मुनिजनों की बात ले लीजिए—वह मन से भला सोचकर, वचनों से भला सोचकर ईर्यासमिति से चलते हैं, कदाचित् उनके विहार करते हुए में किसी छोटे जीव जन्तु की हिंसा हो जाती है, उनके पैरों के नीचे आकर कोई जीव मर जाता है तो वहां तो हिंसा नहीं बतायी गई। तो विवेकी पुरुष कहता है कि तुम सबकी बातें झूठ हैं। देखो—जो ये रागादिक विकार उत्पन्न होते हैं उनको यह जीव अपने उपयोग में बसाता है, उनका लगाव करता है, उन रागादिक में मौज मानता है, उनके अधीन होकर यह अपनी रचना बनाता है। यही कारण है कि कर्मबन्ध होता है। यदि कर्मबन्ध न चाहिए तो प्रबल भेदविज्ञान की आवश्यकता होती है।

(४७) अवशिष्ट जीवन काल के सदुपयोग का अनुरोध—देखो भैया ! जीवन का समय तो गुजर रहा है। आप सबका दिन का समय तो व्यापार आदिक के कार्यों में व्यतीत हो जाता है, पर रात्रि का जो खाली समय है उसमें तो आपके पास काफी अवकाश है। आप शान्ति से कुछ समय के लिए बैठ कर आत्मचिन्तन का कार्य कर लिया करें। मैं क्या हूं ? मैं एक ज्ञानमूर्ति हूं। मेरा अन्य किसी से प्रयोजन क्या ? संबंध क्या? मैं तो अपने ज्ञान को ही करता हूं, भोगता हूं। यह ही मैं करता चला आया उल्टा मानता आया, इसलिए दुःखी हुआ। अगर मैं सहजशुद्धज्ञान को मानूं कि यह मैं हूं और इससे जो सहज प्रतिभासन हुआ, यह मेरा कार्य है और वही मेरा भोगना है। यह ही मैं चाहता हूं, अन्य मुझे कुछ न चाहिए। आखिर यहां से भी बिदा होना पड़ेगा। मरण होगा, पर्याय बदलेगी। पता नहीं कहां रहेंगे, फिर इसका उठेगा क्या? जो यहां रखा, जो यहां ममतामें लगाया इसका क्या उठेगा? ये मेरे क्या काम आयेंगे? मेरे को तो आत्मस्वरूपका जो भान है वह तो मेरे साथ जायगा, बाकी सब बेकार है। मेरा आत्मज्ञान ही मेरा शरण है, अन्य कुछ मेरा शरण नहीं। अन्य कुछ भी मुझे सन्तुष्ट कर सकने वाला नहीं। ऐसी वास्तविक अशरण भावना बनायें और अपने अन्तः विराजमान प्रभु को अपना शरण मानकर भावना बनायें। ऐसा क्षण कभी मेरा व्यतीत हो तो वह हितकारी जीवन है और इसके अतिरिक्त जो यथातथा जीवन बिताया जाता है वह इसके लिए लाभकारी नहीं है। जरा कुछ गम्भीर हृदय से अपने को सोचना चाहिए। दूसरों को देखकर, दूसरों के कहने में आकर अपनी चेष्टाओं में मौज नहीं मानना चाहिए। जैसे किसी बालक से किसी ने कह दिया कि अरे देख तो सही, तेरा कान तो कौवा ले गया। तो वह अबोध बालक रोता है, दुःखी होता है कौवा के पीछे दौड़ लगाता है। किसी ने पूछा कि बेटे क्यों रोते हो ? तो वह कहता है—अरे भाई चुप रहो, मेरा कान कौवा ले गया।...अरे कहां ले गया तेरा कान कौवा ? जरा अपने हाथों से टटोलकर देख तो सही। जब वह अपने हाथों से टटोलकर देखता है तो उसे अपने दोनों कान मिल जाते हैं। सोचता है—अरे कहां कौवा ले गया मेरे कान ?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लो उसका रोना बन्द हो जाता है। उसका वह सारा दुःख मिट जाता है तो इसी तरह ये संसारी अज्ञानी प्राणी एक दूसरे के बहकाये हुए हैं। वे यह जानते हैं कि हमारे विषयों से सुख मिलेगा, धन-वैभव, इज्जत पोजीशन आदिक से सुख मिलेगा। बस इन्हींसे सुखकी आशा करके हम रात दिन इनके पीछे दौड़ लगाते रहते हैं और रात दिन दुःखी रहा करते हैं। ज्ञानी संतजन समझाते हैं कि अरे भाई कहां इन बाह्य पदार्थों के पीछे दौड़ लगा रहे हो? तुम्हारी शान्ति तो तुम्हारे ही पास है, तुम्हारा सुख तुम्हारा आनन्द तो तुम्हारे ही पास है। जरा अपने अन्दर टटोलकर देखो तो सही। अरे चुप रहो—मेरा सुख, मेरी शान्ति, मेरा आनन्द तो इन बाह्य चीजों में ही है।...अरे भाई जरा अपने अन्तः स्वरूप को निहारो तो सही। जब यह संसारी प्राणी अपने अन्तः स्वरूप को टटोलकर देखता तो कह उठता है—ओह! मिल गया मेरा सुख, मिल गया मेरा आनन्द, मिल गया मेरा शान्ति का धाम। मेरा सब कुछ तो मेरे पास ही है। कहां मेरा कुछ भी मेरे से बाहर गया? लो उसका सारा दुःख मिट जाता है, तो बात क्या करना है? मूल बात यह करना है कि हमें सदा सावधान रहना है, जागरूप रहना है। मेरा मात्र यह मैं ज्ञान ज्योति प्रकाश मात्र हूं। इस ज्ञान ज्योति से अतिरिक्त मैं अन्य कुछ भी नहीं हूं। ऐसा अपने को अनुभवना है, ऐसा अनुभव करने के लिए बहुत से त्याग बनेंगे। बहुत सी चीजों की बलि देनी होगी। जैसे अनेक लोग ऐसा कहने लगते हैं कि भाई इस काम को करने के लिए बलिदान करो, बलि दो। किसका? यही शत्रु है, यही विपदा है, यही इन्द्रिय विषय है, यही दुश्मन है।

(४८) विविध अनुभूतियों की आधारशिला ज्ञानवृत्ति—अपने आपको ज्ञानस्वरूपमय देखने पर यह भली भांति परिचय हो जाता है कि मैं ज्ञान पुञ्ज हूं, ज्ञानघन हूं। ज्ञान जो है सो ही मैं हूं और इस तरह के निर्णय के बाद जब आगे परिणति पर दृष्टि देते हैं तो विदित होता है कि मैं ज्ञान को ही करता हूं। जब कभी अशुद्ध परिणति भी हो रही हो तो स्वरूप की ओर से देखिये—यहां क्या किया जा रहा है? कुछ न कुछ ज्ञान ही किया जा रहा है। एक ज्ञान द्वारा देखिये अपने सारे जीवन में तो विदित होगा कि मैं कुछ ज्ञान ही ऐसा करता हूं जिसमें दुःख होता है, ज्ञान को ही इस प्रकार करूं कि सुख होता है और ज्ञान को ही इस प्रकार करूं तो आनन्द होता है। परिणतियां ये तीन हैं—सुख, दुःख और आनन्द वैसे तो दो ही परिणति हैं—आनंद और निरानन्द, क्योंकि सांसारिक सुख में और दुःख में खेद बराबर है। सुख भी क्षोभपरिपूर्ण है और दुःख भी क्षोभ परिपूर्ण है। वैषयिक सुख को भोगते हुए सब लोग अनुभव करते होंगे कि बहुत क्षोभ होता है जब वैषयिक सुख के लिए प्रवृत्ति की बात करनी पड़ी। विषय भोगते हुए क्षोभ होता है तब तृष्णा के कारण उसमें प्रवृति हो रही है और विषय भोगने के बाद भी क्षोभ महसूस करते हैं। तो वैषयिक सुख भी क्षोभ से भरे हैं और दुःख भी। एक मोहभाव लगा है इस कारण सुख में हर्ष मानते हैं और दुःख में विषाद मानते हैं, पर देखा जाय तो सुख भी व्याकुलता से पूर्ण है और दुःख भी व्याकुलता से पूर्ण है। अतः सांसारिक सुख और दुःख दोनों एक समान हैं और उनकी तुलना में आनन्द दीखे तो इन दोनों परिणतियों में महान अन्तर है। तो ये सब बातें हमारे ज्ञान के मूल पर निर्भर हैं कि मैं कैसा ज्ञान करूं कि सुख हो, कैसा ज्ञान करूं कि दुःख हो और कैसा ज्ञान करूं कि आनन्द हो। यद्यपि भेद दृष्टि से यह बात है कि ज्ञान के साथ जो एक रागद्वेष का परिणाम लगा है, इष्ट अनिष्ट की बुद्धि लगी है उससे ये दुख होते हैं, किन्तु एक आत्मा को ज्ञानस्वरूप देखकर जब इतनी सारी विचित्रतायें देखते हैं तो एक ज्ञानद्वार से ही देखें। किसी जीव को जब दुःख होता है तो यह मेरे लिए भला था, इसके बिना मेरा क्या जीवन है, आदिक कोई कल्पनायें हो रही हैं जो कि ज्ञान में एक तरंग हो रही है। उन कल्पनाओं से दुःख हो रहा है और जो सुखी होता है वह भी अपने मन में कोई कल्पना कर रहा है जिससे उसे सुख हो रहा है और जिन संतों को आनन्द हो रहा है, प्रभु को आनन्द हो रहा है तो उनका ज्ञान एक अविशिष्ट सामान्य ज्ञातादृष्टा मात्र एक जाननहार स्थिति का ज्ञान चल रहा है उसमे कोई आनन्द हो रहा है, तो हमको एक निर्णय बना लेना चाहिये कि हमें ज्ञान की ही

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दृष्टि मोड़ना है, ऐसा ज्ञान न करें जिससे दुःख हो या झूठा सुख हो, किन्तु ऐसा ज्ञान करें कि जिससे आनन्दभाव आये। ऐसा ज्ञान है स्वभाव ज्ञान, स्वभावदृष्टि। तो हम सबको व्याकुलता से छूटने के लिए स्वभावदृष्टि की आवश्यकता है। स्वभावदृष्टि में स्वभाव ज्ञात होता है। स्वभाव कैसे जाना जाता है? स्वभाव होता है अनादि अनन्त। जो वस्तु का प्राण है वही मेरा स्वभाव है। तो ज्ञान, दर्शन, चेतना ये मेरे स्वभाव हैं, यह स्वभाव अनादि अनन्त हैं, उसमें परिणाम होते रहेंगे, फिर भी किसी परिणमनरूप न कह पायेंगे, क्योंकि उसके बाद फिर एक स्वभाव तो न रहा, परिणति तो दूर हो गई। जैसे किसी मनुष्य का सही ज्ञान करना है कि मनुष्य कहते किसे हैं? तो जो बच्चा है उसका नाम मनुष्य न पड़ेगा। बचपन एक अवस्था है। बचपन मिटने के बाद भी मनुष्य रहता है। जवान भी मनुष्य न कहलायगा, वह भी एक अवस्था है, बुढ़ापा भी मनुष्य न कहलायगा, वह भी एक अवस्था है। तब कहना होगा कि इन तीनों अवस्थाओं में रहने वाला जो एक है वह मनुष्य है। इन सब अवस्थाओं में रहकर भी किसी एक अवस्था रूप नहीं बता सकते। इसीप्रकार यह आत्मा यह ज्ञानस्वरूप मैं नाना परिणतियों में रहता हुआ भी जो एक अनादि अनन्त शाश्वत है उसे कहते हैं स्वभाव। इस स्वभाव की दृष्टि होने के प्रसंग में जो एक ज्ञानधारा चलती है उस ज्ञान धारा में आनन्द बसता है और कर्मक्षय हो, सुख दुःख दूर हों, संसार के दुःख दूर हों, ये सब कलायें इस स्वभाव दर्शन में हैं।

(४९) स्वभाव दृष्टि के लिये समस्त नयविज्ञानों की उपयोगिता—परम, उपकारक स्वभाव दृष्टि के लिए क्या प्रयास करना है? देखिये विज्ञान परिचय होता है नयों द्वारा। जब हमने अपने जीवन में एक उद्देश्य बनाया है कि स्वभाव दृष्टि ही एक कर्तव्य है, मैं अपने अन्दर अन्तः प्रकाशमान परम ब्रह्मस्वरूप को ज्ञान द्वारा देखूं, उसको प्रतिभासूं, ऐसी जब हमने एक प्रतिज्ञा की है चित्त में कि मुझे ऐसा करना चाहिये, स्वभावदर्शन के लिए ही हमारे समस्त विज्ञानों का उपयोग होना चाहिए, परिचय होता है नयों के द्वारा, और उन नयों का मूल विस्तार है निश्चयनय और व्यवहारनय। निश्चयनय के वर्णन से भी हम स्वभावदृष्टि का उपयोग करें और व्यवहारनय के वर्णन से भी हम स्वभाव दृष्टि का प्रयोग करें जब हमारा केवल एक ध्येय हो जायगा तो हमारे लिए कहीं विवाद न रहेगा। प्रत्येक कथनों से, निश्चय व्यवहार के समस्त कथनों से, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग आदि समस्त कथनों से हम एक स्वभाव दृष्टि का उपयोग बना सकते हैं। हम उसे ऐसा ढालें कि जिससे हम स्वभाव दृष्टि के अभिमुख हों। जैसे जब जीवों का वर्णन आता है कि इतनी बड़ी अवगाहना के जीव होते हैं—एक हजार १००० योजन लम्बा ५०० योजन चौड़ा और २५० योजन मोटा एक महामत्स होता है, अथवा यह कहा जाय कि इतनी छोटी अवगाहना का जीव होता है जो कि तंदुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है, तो इस सब वर्णन से हमें यही सारांश निकालना है कि अहो एक ब्रह्म स्वरूप के दर्शन बिना इस जीव की ऐसी ऐसी दशायें हो जाया करती हैं। उससे भी हम स्वभाव दृष्टि का उपयोग कर सकते हैं। यों प्रत्येक वर्णन से हम स्वभाव दृष्टि का उपयोग करें। चित्त में जब यह धारणा बन जाय कि मुझे तो सर्वत्र स्वभाव दृष्टि का ही कार्य करना है तो उसे सब जगह से यह बात मिल जायगी। जैसे श्रोता के लक्षणों में बताया है कि जिसके चित्त में यह है कि कैसे मैं कल्याण पाऊं तो फिर उसकी बाह्य परिस्थिति भी इस तरहकी हो जाती है कि वह राग में नहीं पड़ता। अपने हित के लिए उसका प्रयोग कर लेता है। देखिये वस्तु का परिचय कराया जाता है निश्चयनय से और व्यवहारनय से। निश्चयनय बनाता है एक वस्तु का सब कुछ उस एक ही वस्तु में निहारने को। इस पद्धति से जब हम निहारते हैं तो हम पर क्या प्रभाव होता है कोई अन्य वस्तु हमारे ख्याल में नहीं रहती। निमित्त कहो, उपाधि कहो, अन्य भी इससे सम्बन्धित पदार्थ कहो कुछ हमारी दृष्टि में नहीं रहता और हम केवल उस एक वस्तु को निहारते रहते हैं। यद्यपि निश्चय के दो भेद हैं—शुद्ध और अशुद्ध, और एक उन दोनों से

Report any errors at rikesnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

परे है परमशुद्ध निश्चयनय। तो परमशुद्ध निश्चयनय की बात स्पष्ट है और शुद्ध निश्चय दृष्टि में जब यह निहारा जाता है कि यह केवल ज्ञानी जीव, इसका केवल ज्ञान इसमें अपने स्वभाव का उत्पादन करके वह केवल ज्ञान निरन्तर परिणमता रहता है। देखो ना तो उस दृष्टि में उस पर्यायमुखेन भी ज्ञान किया जा रहा, लेकिन स्वभाव के ऊपर हम शीघ्रता से पहुंच जाते हैं। जिससे पर्याय निकली उसका स्रोत यह मुख्य रह जाता है और जब अशुद्ध निश्चय की पद्धति से विचारते हैं तो वहां बद्ध अबद्ध आदिक बातें न देखकर देखा जा रहा है शुद्धपरिणमन मगर जैसे सामने दर्पण है और पीछे लड़के खड़े हैं तो यद्यपि लड़कों का सन्निधान पाकर दर्पण में छाया हुई, लेकिन यह कोई जरूरी तो नहीं कि देखने वाला उन बच्चों का ख्याल करता हुआ ही देखे। न ख्याल करे। जैसा वर्तमान परिणमन है वह देख रहा है और यह समझ रहा है कि यह परिणमन तो इसका पर्याय का है। है वह अशुद्ध परिणमन, लेकिन बाहरी उपाधि का ध्यान न होने से वह एक द्रव्य में देखता रहता है तो उसे अवकाश मिलेगा। एक द्रव्य में देखने के कारण, परद्रव्य को न निहारने के कारण अब एक व्यवहार पद्धति से देखो—जैसे बताया है स्वयं समयसार में कि उदय विकार नाना प्रकार का है और वह कर्मविपाक है तो वह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो एक टंकोत्कीर्णवत् ज्ञानस्वभावी हूं। मुझमें जो रागद्वेष क्रोधादिक विभाव हो रहे है ये पुद्गल कर्म के उदय से निष्पन्न हैं तब ही तो इतना तक कहा जाता कि ये पौद्गलिक हैं, उनको देखें तो किसलिए देखें? इससे हमें यह शिक्षा मिली कि यह मैं नहीं हूं। यह पुद्गलकर्म का ठाठ है। इससे मैं निराला एक अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। उस व्यवहारनय के प्रयोग से भी जान सकते। मैं ज्ञानमात्र हूं, मैं क्रोधादिक भाव नहीं, क्योंकि ये पुद्गलकर्म के विपाक हैं। इस तरह जब देखा तो इस स्वभाव दृष्टि के प्रयोग के लिए हमारा ज्ञान बना। तो हम नयों का नाना प्रकार से ज्ञान करके प्रयास करें स्वभाव दृष्टि को निहारने का।

(५०) आत्मशान्ति के अर्थ ज्ञान सुधार की आवश्यकता—देखो ज्ञान की बदल से बहुत बदल हो जाती है। जैसे किसी बालक को जब हुचकी आती है तो कुछ बालक क्या उपाय करते हैं कि कोई ऐसी बात उसके प्रति कह देते हैं कि वह सोचने में लग जाता है। कोई अपराध लगा दिया, कोई और गड़बड़ बात कह दी, तो उसका ज्ञानोपयोग बदल जाता है और उसकी हुचकी बन्द हो जाती है। ज्ञानकी बदल का लोक में भी बड़ा प्रभाव देखा जाता है, अगर अध्यात्म बदल जाय तो फिर उसके प्रभाव का तो कहना ही क्या है। तो हमें स्वभाव दृष्टि के लिए प्रयास करना है। एक दृष्टान्त लो—यमुना नदी में रहने वाला कोई कछुवा अपनी चोंच को पानी से बाहर निकाल कर तैर रहा था। उसकी चोंच को चोंटने के लिए सैकड़ों पक्षी उस पर मंडरा रहे थे। वह कछुवा इधर उधर भागता फिरता था और दुःखी होता फिरता था। पर अरे कछुवे तू क्यों व्यर्थ में दुःखी होता फिरता है। अरे तेरे पास तो ऐसी कला है कि अगर उसका उपयोग कर ले तो सारे दुःख तुरन्त ही समाप्त हो जायें। मानो कछुवा पूछ बैठे कि बताओ वह क्या कला है? तो कहेंगे कि अरे तू ८ १० अंगुल पानी में जरा डूब तो जा, बस तेरे सारे संकट खतम। फिर तो हजारों लाखों कितने ही पक्षी तेरा कुछ बिगाड़ न कर सकेंगे, ठीक यही बात अपने आप में देखिये—हम ज्ञानहंस हैं, ज्ञानसागर में ही रहते हैं, ज्ञान ही ज्ञान मेरा स्वरूप है। ज्ञान में ही हम बसते हैं। इतना भी भेद क्यों करें? ज्ञान ही ज्ञान रूप हैं हम। तो ऐसे ज्ञानरूप होकर, ज्ञानसरोवर होकर हमने क्या किया? उपयोग की चोंच को इस ज्ञानसागर से बाहर निकाल रखा है, मायने पर-वस्तुवों में हम नेह लगाये हैं, ध्येय लगाये हैं, ये ही मेरे प्राण हैं, ये ही मेरे सर्वस्व है, इनसे मेरे को सुख होगा, इनसे मेरे को मंगल आनन्द है, इनसे मेरा जीवन है। कितनी ही बातें सोच रहे हैं। मान प्रतिष्ठा आदिक अनेक बातों में यह उपयोग की चोंच लग रही है। जिसने अपने उपयोग की चोंच को बाहर निकाल रखा है जो परद्रव्यों में फंसाव रखे है उसे हजारों संकट आयेंगे ही। मित्र लोग सतायें, राजा सतायें, चोर सतायें, डाकू सतायें, रिस्तेदार लोग सतायें, इष्ट

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अनिष्ट संयोग वियोग आदि के अनेक संकट आते हैं। क्यों ये संकट आते है कि इसने अपने उपयोग की चोंच को बाहर निकाल रखा है। इसे कोई समझाये—जैसे हमारे आचार्यों ने नये नये ढंगों से समझाया है कि रे जीव तू क्यों दुःखी होता है ? अरे तेरे अन्दर तो एक ऐसी कला है कि हजारों लाखों कितने ही संकट आ जायें तो भी तेरा कोई बिगाड़ नहीं कर सकते। क्या है वह कला ? अरे अपने उपयोग की चोंच जो बाहर निकाल रखी है उसे अपने ज्ञान सागर में डूबो दे अर्थात् उपयोग जो इतना बाहर बाहर चल रहा है उस उपयोग को तू अपने आप में प्रवेश करा दे, फिर तेरे पर कोई भी संकट नहीं आ सकते हैं।

(५१) अज्ञान संकट के विनाश का उपाय सम्यग्ज्ञान—देखो—यद्यपि कहने को संकट नाना हैं, क्योंकि किसी से पूछो कि भाई तुम्हें क्या दुःख है ? तो वह अपना दुःख अलग ही बतायगा। हमारे सामने यह विरोधी आ गया, मेरा अमुक काम अभी पूरा नहीं बन रहा यों नाना कष्ट बतावेगा, लेकिन वे सब कष्ट नाना कुछ नहीं हैं। वे सब कष्ट एक ही हैं। कितने ही कष्ट इकट्ठे कर लें, करोड़ों दुःखियों से पूछो की भाई तुम्हें क्या कष्ट है ? तो सभी लोग अपना अपना अलग अलग दुःख बतावेंगे। तो उन सब कष्टो का मूल कारण क्या है ? मूल कारण यही है कि एक अपने आपके स्वभाव से चिगकर पर तत्वों में लग गए, यही कष्ट है। चाहे धन की बात हो चाहे परिजन की, सभी कष्टों का मूल कारण यही है। इन समस्त कष्टों को मिटाने का उपाय केवल एक ही है, जो व्यक्ति लाइन पर है उसे तो इन कष्टों का मिटाना सरल है और जो व्यक्ति लाइन पर नहीं है उसे इन कष्टों का मिटाना अति सुगम है। तो हम स्वभाव दृष्टि के लिए अधिकाधिक प्रयास करें, यही धर्म है, यही धर्म का पालन है। पर यह प्रयास कैसे होगा ? देखो सभी उद्यम एक इस ही उपाय के लिए हैं। गृहस्थधर्म, मुनिव्रत, व्रतसंयम आदिक जो भी इसके उपाय हैं वे सब इसलिए हैं कि स्वभाव दर्शन में मेरी स्थिरता हो जाय। स्वभावदर्शन कहो, प्रभुदर्शन कहो, यह अहंकार मेटे बिना नहीं हो सकता। अहंकार के मायने हैं कि जो मैं नहीं हूं। देह मैं नहीं हूं, पर माना कि यह मैं हूं, तो यह अहंकार हो गया। जैसे लोग कहते हैं कि नाक रखना, अपनी टेक रखना यह कहलाता है अहंकार। जब तक अहंकार है तब तक हम प्रभुदर्शन के पात्र नहीं हो सकते। सब जीव मेरे ही स्वरूप के समान हैं। मेरे स्वरूप में किसी अन्य जीव के स्वरूप से कोई विशिष्टता नहीं है, ऐसा जब परिचय होता है तो फिर अहंकार नहीं रहता। अहंकार तब होता है जब बाह्यदृष्टि हो। यह कार्य ही होना चाहिये, ऐसे इस अहंकार के जीवन में चलने वाला प्राणी न तो कभी अपने को शान्त कर सकता और न उसके जीवन में कभी अध्यात्म प्रगति ही हो सकती।

(५२) शान्ति मार्ग के तथ्यचतुष्क में प्रथम तथ्य—जिसको शान्ति होने की अभिलाषा हुई हो उसको इन चार तथ्यों का निर्णय कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। मैं क्या हूं, मेरा क्या है, मैं क्या करता हूं, मैं क्या भोगता हूं ? इन चार समस्यावों का सही निर्णय कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। अब इन बातों पर क्रम से ध्यान दीजिए। मैं क्या हूं ? इसका उत्तर चाहेंगे तो मोटे रूप से समझ लीजिए कि कोई भी जीव यह नहीं चाहता कि मैं मिट जाऊं। किसी बाह्यवस्तु के प्रसंग में भी जैसे किसी से कहा जाय कि भाई तुम खोम्चा फेरते हो, तुम हमसे यह लाखों की जायदाद ले लो, मगर एक वर्ष के बाद में सब कुछ तुम से छुड़ा लिया जायगा, तो क्या वह उस स्थिति को पसन्द करेगा, मैं थोड़े दिनों को अच्छा बन जाऊं और फिर पहिले जैसा गरीब बन जाऊं ऐसी स्थिति वह नहीं चाहता। ऐसे ही परख लीजिए कि मैं वह हूं, जो कभी मिटता नहीं। मैं ध्रुव हूं, सदा रहने वाला हूं। यह भ्रम लगा हुआ है कि मैं मिट जाया करता हूं। मिट जाने वाली चीज दशा है, और जिस पर लोगों की दृष्टि है वह एक विकार दशा है, औपाधिक है, नैमित्तिक है, परभाव है, वह मिटने की चीज है। उसकी भावना करो कि जड़ से मिट जाय, लेकिन मैं स्वयं क्या हूं ? मैं वह हूं जो कभी मिटता नहीं अच्छा कुछ अनुभव से भी विचारो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

कि मैं क्या हूं ? ये तो सभी पदार्थ हैं जो मिटते नहीं हैं। जो मिटता है वे सब दशायें हैं। जो पदार्थ है वह कभी मिटता नहीं। तो यह तो सब पदार्थों में पाये जाने वाली बात है। कुछ असाधारण बात तो देखिये जिससे अनुभव जगे कि मैं क्या हूं ? मैं तो कुछ समझ रहा हूं, जान रहा हूं, कुछ तो बात जानकारी की बन ही रही है। सभी में यही बात है यदि कोई पुरुष यह कहता है कि आत्मा नहीं है, मैं नहीं हूं, यह झूठा भ्रम बना रखा है कि यह आत्मा है, यह भौतिक चीज और भूत चतुष्टय से एक यह बिजली पैदा हुई है। मैं कुछ नही हूं। जो ऐसा जानता है कि मैं कुछ नहीं हूं, आत्मा नहीं हूं यह जानकारी तो कम से कम बन रही है ना ? चाहे निषेध रूप में रही। जिसे यह जानकारी है वह आत्मा है। मैं क्या हूं ? एक ज्ञानमय पदार्थ। जिसमें जानन बना हुआ है वह मैं आत्मा हूं, जिसमें जानन बना है उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श तो हो नहीं सकते क्योंकि वह ज्ञानमय पदार्थ हैं, तो मैं जानने वाला पदार्थ हूं, जानता हूं इसी से यह सिद्ध है कि मैं रूप, रस, गंध, स्पर्श ये मैं नहीं। उपयोग है एक जानन। तो इसका विशिष्ट परिचय पाने के लिए जानन स्वरूप को ही ध्यान में लाना होगा। जानन का क्या स्वरूप है ? जानन क्या कहलता है ? जानन क्या स्थिति है ? वह रूप जानन के द्वारा जानने की स्थिति को पहिचानने चलेंगे तो पहिचान में आ जायगा। तो आत्मा में ऐसी ज्ञान कला है कि जिसमें यह जानने के लिए चले तो उसे जानकर रहेगा। पर जानने के लिए चलें तो सही। जैसे एक्सरा यंत्र होता है हड्डी का फोटो लेने वाला, उससे फोटो लिया जाय तो वह यन्त्र चाम मांस मज्जा, खून आदि सबको छोड़ करके सिर्फ हड्डियों का फोटो लेता है, इसी तरह हमारा एक ज्ञानयन्त्र है। हम जिसे जानना चाहें, बीच में चाहे कितने ही आड़े आयें, कितनी ही बाधायें आयें उनको न जानेंगे किन्तु जिसका हमने लक्ष्य किया है उसे जानकर रहेंगे। मैं अगर अपने इस जानन स्वरूप को जानने चलूं। दृढ़ संकल्प बन जाय तो मैं अपने जानन स्वरूप को जानकर रह सकता हूं, पर जीवों की बुद्धि बाह्य पदार्थों की ओर लगी है, वह एक ऐसी बड़ी बाधा है कि ज्ञानस्वरूप की ओर यह चल ही नहीं पाया। मैं ज्ञानमय पदार्थ हूं, आकाशवत् निर्लेप अमूर्त हूं, किन्तु ज्ञान से अधिष्ठित हूं, ऐसा मैं ज्ञानमय पदार्थ हूं, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ अपने को मत समझें, जैसे माना कि मैं देह हूं, देह को मत माने कि मैं देह हूं। शरीर तो शरीर है। शरीर को तो उर्दू में कहते हैं दुष्ट प्रकृति वाला। इस ही शरीर के कारण हम आपको नाना दुःख लगे हैं। भूख प्यास, ठंडी गर्मी, सम्मान अपमान आदिक ये सब दुःख इस शरीर के कारण ही तो लगे हैं। यह शरीर मैं नही हूं। यह शरीर रूप, रस, गंध, स्पर्श का पिण्ड है। शरीर भी क्या है ? एक माया रूप। यह मैं नहीं हूं। मैं तो एक ज्ञान-प्रकाश मात्र हूं, ऐसा ज्ञानस्वरूपमय अपने आपका बोध हो तो बहुत सी समस्यायें इसकी दूर हो जाया करती हैं। मैं यह ज्ञानमय पदार्थ हूं और और रूप नहीं हूं।

(५३) शान्ति मार्ग के तथ्यचतुष्क में द्वितीय तथ्य—दूसरी बात सोचिये—मेरा क्या है ? लोग कहा करते हैं कि यह मेरा धन है, मेरा मकान है, मेरा वैभव है, मेरा परिवार है, मेरा शरीर है,…यों पर पदार्थों को अपना बताते हैं। जरा विचार तो करो—मकान तो ईंट पत्थरों का है वह तो आपसे दूर जगह पड़ा है, वह आपका क्या हो सकता है ? आपका मकान कुछ नहीं है, आप यहां मन्दिर में बैठे हैं तो मकान आपके साथ चिपट कर तो नहीं आया। धन वैभव भी आपका कुछ नहीं है, वह भी एक पौद्गलिक पिण्ड है। जरा निकट आया, आपने ममता कर ली, पर ममता करने से वह आपका न बन जायगा। वह तो भिन्न चीज है। और, ममता करके खुश तो होते हैं, मगर ममता करके क्लेश मिलता है जीवों को। सुख की बात नहीं मिलती। जिसके पास धन है उसमें ममता है, वह जानता है कि रात दिन यह उपयोग ऐसा बाहर भटकता है कि अपने अन्तः प्रकाशमान प्रभु के दर्शन नहीं कर पाता। ये बाह्य पदार्थ धन वैभव आदिक मेरे कुछ नहीं हैं। ये नहीं हैं तो शरीर तो मेरा कुछ है ? शरीर के साथ आया हूं, शरीर के साथ रहता हूं, शरीर में वेदना होती है तो मेरे में कष्ट होता है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

शरीर से सारी बात लगी है और नीतिकार यहां तक लिखते हैं कि शरीरमाद्यं खलुधर्मसाधनं। तो शरीर तो मेरा हुआ, इस पर तो विचार करो। देखो जैसे किसी दुष्ट से फंस जाय तो उससे बचने का जो रास्ता बनाया जाता है वह कुछ और है, मगर यह कुछ और है। इस शरीर से हम फंसे हैं तो इससे निपटना है, मगर इससे दुश्मनी करके हम नहीं निकल सकते। इस शरीर का घात कर दें तो दूसरा शरीर मिलेगा। कैसे निपटे? इसे तो विधिवत् ही निपटाना पड़ेगा तब ही इससे पिण्ड छूट सकता है। हमारा जब तक जीवन है तब तक आहार करना और ढंग से रहना यह सब करना पड़ता है, मगर यह सब कुछ करते हुए भी मैं क्या हूं, मेरा क्या है, इसका सही निर्णय बनाना होगा। तब ही इससे निपट सकेंगे। मेरा देह नहीं। देह जड़ है, पौद्गलिक है। मैं ज्ञानमय पदार्थ हूं, सारे क्लेश इस देह के सम्बन्ध से हैं, यह देह जो कि किसी दिन परिजनों, मित्रजनों द्वारा मरघट में जलाकर राख बना दिया जायगा उस देह से क्या ममता करना? अरे जिस शरीर को पक्षी लोग चोंट खायेंगे। जो शरीर अत्यन्त घिनावना है, क्या मैं ऐसा हूं? मैं ऐसा निराला ज्ञानमय पदार्थ हूं। अब समझ में आया कि देह मेरा नहीं है लेकिन कषाय, विचार, उद्यम ये तो सब मेरे हैं? अरे कषाय भी मेरे नहीं हैं, कषाय क्या चीज है? पूर्व बद्ध कर्म उदय में आते हैं, उनमें एक विलक्षण दशा बनती है, उसको यह जीव चेतता है, अनुभवता है, अपना मानता है। इसने अपने उपयोग में एक ऐसी कल्पना बना ली है कि बस यही तो कषाय है। तो यह कषाय मेरी नहीं है। जैसे दर्पण में बाहरी पदार्थों की छाया प्रतिबिम्बित हुई तो दुनिया के लोग कहते हैं कि यह दर्पण की छाया नहीं है, यह तो अमुक की है। उसका निमित्त पाकर दर्पण में स्वच्छता का विकार हुआ है, ऐसे ही कर्म विपाक का निमित्त पाकर इन विकारों में स्वच्छता का विकार हुआ है, वह मेरा नहीं है। अच्छा रागद्वेषादिक भाव मेरे न सही, मगर जो विचार बनते हैं, वे विचार तो मेरे होंगे? तो विचार भी मेरे नहीं।

(५४) विकल्पों की अनात्मीयता—देखो बहुत मोटी दृष्टि से यह कहा जाता है कि बाहरी पदार्थ मेरे कुछ नहीं। पुद्गल मेरे नहीं, अन्य जीव मेरे नहीं, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य मेरे नहीं, उनसे ममता हटाने का जहां उपदेश दिया जाता है वहां यह तर्क उत्पन्न होता है कि भाई पुद्गल को तो लोग कहते हैं कि यह मेरा है इसलिए इसको तो मना करने का उपदेश दें कि ये मेरे नहीं है, मगर धर्म, अधर्म, आकाश, काल के बारे में कौन विचार करता है ऐसा कि यह धर्मद्रव्य मेरा है, अधर्मद्रव्य मेरा है। कोई ऐसा कहता है क्या? कोई नहीं कहता, फिर क्यों निषेध किया जाता है कि यह समझ लें कि धर्मद्रव्य मेरा नहीं, अधर्मद्रव्य मेरा नहीं? तो उसका उत्तर यह बनेगा कि यद्यपि कोई धर्मद्रव्य के बारे में सीधा तो नहीं बोलता कि धर्मद्रव्य मेरा है मगर एक बात तो बतलाओ की धर्मद्रव्य के स्वरूप के बारे में अगर तत्त्व चर्चा हो रही हो और उस तत्त्व चर्चा में कोई हमारे जाने हुए तत्त्व के मुताबिक न बोले तो वहां क्रोध उमड़ जाता है, लड़ाई हो सकती है, बातचीत बढ़ जाती है, यह क्यों बढ़ गई? धर्मद्रव्य तो तुम्हारा है ही नहीं, पर धर्मद्रव्य की बातचीत के प्रसंग में इतना बड़ा झगड़ा क्यों बन जाता है? यों बन जाता है कि धर्मद्रव्य के बारे में जो मेरा विकल्प हुआ, जो विचार हुआ, जो जानकारी बन रही उस विकल्प में यह मेरा है, यह मैं जानता हूं यह मेरी चीज है, वहां ममता लगी है। धर्मद्रव्य के बारे में सीधी ममता तो नहीं लोगों को मालूम होती मगर उसके सम्बन्ध में जो विकल्प उत्पन्न होता उस विकल्प में तो ममता है ना। कैसे जाना अगर विकल्प में ममता न होती तो धर्मद्रव्य की चर्चा के प्रसंग में लड़ाई झगड़ा क्यों यह ठानता? अब समझ लीजिए कि विकल्प भी मेरा नहीं, ये विचार भी मेरे नहीं। तब मैं क्या हूं? एक सहज प्रतिभास मात्र ज्ञानतत्त्व हूं। अहो विशिष्ट प्रतिभास होना, किसी वस्तु की जानकारी होना, कोई तर्क उत्पन्न होना, यह विशिष्ट जानन भी जब मैं नहीं हूं मेरा नहीं है तब फिर जगत में मेरा क्या है? मेरा शाश्वत् सहज ज्ञानस्वरूप, यही मेरा है, अन्य कुछ नहीं। ये जड़ वैभव तो प्रकट पर हैं, ये मेरे हो ही सकते हैं? और जिन शरीर में मैं ऐसा घुला

Report any errors at, vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मिला अनादि कालसे चला आया हूं वह घुला मिला शरीर भी जब मेरा नहीं रहता है तो इन प्रकट भिन्न ढलोंकी तो बात ही क्या है ? और तो जाने दो। ये रागादिक भाव भी मेरे बनकर नहीं रह पाते। ये मिट जाते हैं। ये सब मैं नहीं हूं। ये सब मेरे नहीं हैं। मैं ज्ञानस्वरूप हूं और जो मेरा ज्ञानस्वभाव है वह ही मेरा वैभव है। दूसरे प्रश्न का यह निर्णय है कि मेरा क्या है ?

(५५) शान्ति मार्ग के तथ्यचतुष्क में तृतीय तथ्य—अब तीसरी बात पर विचार करें मैं क्या करता हूं ? तो इसका उत्तर तो तब ही बनेगा जब पहिले उस "मैं" को तो समझ लूं। मैं समझ में आयगा तो इसका करना भी सही समझ में आयगा। मैं क्या करता हूं ? मैं हूं ज्ञानस्वरूप जानन मात्र। तो स्पष्ट बात यह है कि मैं उपयोग का काम करता हूं, मैं जानने का काम करता हूं। देखो हर समय यह जीव जानने का काम करता है। जानने का काम हो तो उसे आकुलता नहीं, अशुद्ध जानने का काम हो तो इसे आकुलता है, जितने भी जीव को सुख दुःख होते हैं वे पर वस्तु से नहीं होते या बाह्य वस्तु से सुख दुःख नहीं प्राप्त करता यह जीव, किन्तु अपने आपकी कल्पना में कुछ ऐसी बात बनायें कि जिससे सुख महसूस करता, दुःख महसूस करता। जैसे मानो कहीं बहुत दूर पर किसी की दुकान है, वहां हुआ तो हो फायदा और यहां आपके पास खबर ऐसी आ जाय कि लाख का नुक्सान हो गया है तो आप यहां बैठे हुए दुःखी हो गए और मान लो हुआ तो हो एक लाख का नुक्सान, पर खबर आ जाय कि इस बार एक लाख रुपये का फायदा हुआ तो आप सुखी हो जाते हैं। तो भाई किसी पर वस्तु से सुख दुःख नहीं होता। किन्तु सुख दुःख होता है आपकी कल्पना से जैसी आपकी कल्पना बनी उसके अनुसार सुख दुःख मानते। तो सुख दुःख भी क्या चीज है ? कल्पना का ही नाम सुख है और कल्पना का ही नाम दुःख है। कल्पना क्या चीज है ? उपयोगकी ही एक लीला है तो मैं प्रति समय उपयोग ही करता हूं, जानन ही करता हूं। कल्पनायें करूं या कल्पनायें न करके शुद्धज्ञाताद्रष्टा रहूं, मैं एक ज्ञाता द्रष्टा रहूं तो शांतिहै या कल्पनायें करूं तो अशांति है, पर करता हूं मैं उपयोग का ही काम। मैं बाह्य पदार्थोंको कुछ नहीं करता। जो लोग ऐसा ख्याल करते हैं कि मैंने मकान बनाया, मैंने दूकान बनाया, मैंने अमुक काम किया तो ये मेरी सारी बातें केवल एक कल्पना मात्र हैं। मैं उनको करता नहीं। तो मैं क्या करता हूं ? मैं केवल अपने में अपने भावों को करता हूं। भावों के सिवाय मैं और कुछ नहीं करता। अशुद्ध श्रद्धा है तो अध्यवसान करताहूं, शुद्ध श्रद्धा है तो ज्ञाताद्रष्टारूप परिणमन करता हूं मगर उपयोगकी कला करनेके अतिरिक्तमैं और कुछ नहीं किया करता हूं, ये सारे भ्रम हैं मैंने मकान बनाया, दूकान बनाया, मैंने अमुक को यों पढ़ाया लिखाया। बहुत से दुःख तो यह जीव व्यर्थ ही मुफ्त में लेता रहता है। अज्ञान बने, भ्रम बनें, दुःखी हो गये। बात सत्य समझें। मैं बच्चों को पालता पोषता हूं, पढ़ाता लिखाता हूं, बड़ा बनाता हूं, धनी बनाता हूं आदिक ये सब भ्रम हैं। अभी कोई साल दो साल का ही बच्चा है, उसे देखकर यह पिता क्या क्या बातें सोचता है ? यह सुखी रहे, यह खूब फले फूले, यह आनन्दमग्न रहा करे और उनकी सेवा के लिए बाई भी रख देते हैं, रिस्तेदार भी बुला लेते हैं। हर समय यही चाहता है कि यह बच्चा खुश रहे। और वह बच्चा उस पिता के बारे में कुछ नहीं सोचता कि यह सुखी रहे। उस बच्चे को अपने पिता के प्रति तो कुछ भी चिन्ता नहीं है। तो भला बतलावो कि जिस बच्चे के लिए पिता इतने विकल्प करे, इतना पुरुषार्थ करे, इतनी नौकरी करे, तो इसमें पुण्य किसका बड़ा है ? उस पिता का पुण्य बड़ा है या पुत्र का ? पुण्य तो उस पुत्र का ही बड़ा है जिसकी कि पिता चिन्ता करता है। अरे जिसका पुण्य बड़ा है उसकी तो चिन्ता करते हैं और जो खुद नौकर बने फिर रहे हैं, गरीब बन रहे हैं उसकी कुछ भी चिन्ता नहीं करते। मैं क्या किया करता हूं। मैं बाहर में कुछ नहीं किया करता। इस जीव के शुभ अशुभ कर्म लगे हैं उनके उदयानुसार इसे सुख दुःख होते है। इनको करने में मैं समर्थ नहीं। इन सुख दुःखों को मैंने नहीं किया। सुख दुःख करने में मैं समर्थ नहीं, मुक्ति दिलाने में समर्थ नहीं। उनका ही वीतराग परिणाम होगा तो मुक्ति पा लेंगे, उनका

Version 1

उनका सराग परिणाम होगा तो वे संसार में फसे रहेंगे।

(५६) परपरिणति करने की अशक्यता का दिग्दर्शन—बाहरी पदार्थों का कुछ भी करने में मैं समर्थ नहीं। कहेंगे वाह ! मैं बोल रहा हूं इतना तो मानोगे। क्यों तुम कहते कि मैं कुछ भी करने में समर्थ नहीं हूं ? अरे भाई तुम बोलते भी नहीं हो। तो फिर ये शब्द कैसे निकल रहे ? यों निकल रहे कि मैं उपयोग स्वरूप आत्मा अपने भावों को बनाता हूं। इच्छायें करता हूं। यहां तक तो मेरा काम है, अब इच्छा किया तो इच्छा का निमित्त पाकर प्रदेशों में परिस्पंद हुआ। यह ही काम मान लीजिए मगर इसके बाद तो कुछ काम ही नहीं है मुझ आत्मा का तो फिर हो कैसे गया ? हो यों गया कि शरीर के बन्धन में है आत्मा। उसने इच्छा की। इच्छा के अनुकूल शरीर में प्रदेश परिस्पद हुआ। परिस्पंद के अनुकूल इस शरीर में रहने वाली वायु चली, और वायु के चलने के अनुकूल ये होंठ, दंत, जिह्वा आदिक चल पड़े। बस ये शब्द निकल पड़े। यह मुख तो एक हरमोनियम है। ओंठ में ओंठ मिलाकर प फ ब भ आदि शब्द निकले, दांतों में जिह्वा लगाने से त थ द ध आदि शब्द निकले, जिह्वा को ऊपर के मूर्धा में लगाने से ट ठ ड ढ आदि शब्द निकले। यों निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध से ये शब्द निकल पड़े। तो इन शब्दों का भी कर्ता मैं नहीं हूं। शरीर की क्रियायें भी मैं नहीं करता हूं। इच्छा हुई फिर उस इच्छा के अनुकूल प्रदेश परिस्पंद हुआ, उसके अनुकूल शरीर में वायु चली, फिर उसके अनुरूप ये हाथ पैर चले। तत्त्वस्वरूप पर दृष्टि भेद कर देखो—मैं क्या करता हूं ? मैं केवल अपने भाव करता हूं। भावों के अलावा मैं जरा और कुछ नहीं कर सकता। देखो जब मैं भाव ही करता हूं तो फिर क्यों न बुद्धिमानी करूं। ऐसे भाव बनायें किजिससे संसार के संकट टल जायें। ऐसे भाव क्यों बनायें कि जिससे मुझे संकलेश क्लेश हो ? देखा होगा कि ये बच्चे लोग परस्पर में प्रतिभोज का नाटक रचते हैं। वहां खाने पीने को कुछ नहीं रखते पर वह तो उनका खेल है। किसी पेड़ की पत्तियां तोड़ लिया, कहीं से कुछ कंकड़ उठा लाये बस प्रतिभोज का खेल चालू कर दिया। उन पत्तों को वे बच्चे यह कहकर परोसते हैं कि लो रोटी, कंकड़ों को ये कह कर परोसते हैं कि लो गुड़। वहां केवल भाव ही बनाते हैं वे बच्चे। कहीं वहां रोटी नहीं रखी कहीं वहां गुड़ नहीं रखा। अरे भाई जब भावों का ही प्रीतिभोज है तो वहां रोटी के बजाय कचौड़ी क्यों नहीं कहते ? गुड़ की जगह लड्डू क्यों नहीं कहते ? पर यह तो उनके उपादान की बात है। उनमें जैसी योग्यता है वैसे वे भाव बनाते हैं। तो उसी प्रकार हम आप जब केवल भाव ही बनाते हैं, भाव बनाने के अतिरिक्त और कुछ करते नहीं तो फिर अच्छे भाव क्यों नहीं बनाते जिससे अपना कल्याण हो ? अपने भाव शुद्ध बनावें। अपने आत्मा का सत्य स्वरूप का निर्णय बना लें। मैं क्या हूं ? क्या करता हूं ? सिर्फ भाव ही करता हूं। बाहर में मैं और कुछ करता नहीं। देखो सम्यग्दृष्टि को कृतकृत्य बताया है क्योंकि वह जानता है कि मेरा बाहर में कुछ भी काम किया नहीं जा सकता है। जो होना है होता है। जो होता है होने दो, होता स्वयं जगत परिणाम।' उपादान से निमित्तनैमित्तिक विधान से जो होता है हो, पर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता। मेरे को कुछ करने को पड़ा ही नहीं है। अच्छा तीसरे प्रश्न का कुछ कुछ उत्तर दिया।

(५७) शान्ति मार्ग के तथ्यचतुष्क में चतुर्थ तथ्य—अब जरा चौथे प्रश्न पर कुछ विचार कीजिए। क्या मैं भोगता हूं ? लोग तो ऐसा कहते हैं कि मैं भोजन को भोगता हूं, कपड़ों को भोगता हूं, परिवार को भोगता हूं, धन वैभव को भोगता हूं, इस तरह के अनेक विचार बनाते हैं। लेकिन मैं क्या हूं ? इसका सही निर्णय हो जाय तब फिर क्या मैं भोगता हूं, इसका सही निर्णय हो जायगा। मैं एक ज्ञानस्वरूप हूं, मैं क्या कर सकता हूं ? मैं तो एक अपना परिणमन कर सकता हूं, अपना अनुभव कर सकता हूं। जो उपयोग जमाया, जैसी कल्पना उठाया, जैसी जानकारी बनी उस प्रकार का ही भोगना मेरे में होता रहता है और कुछ भोगना मेरे में नहीं होता।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

यह बात भ्रम की है कि मैं अमुक का स्वाद भोगता हूं। कोई फल खाये तो वह सोचता है कि मैंने फल को भोगा, फल को नहीं भोगा। फल को रसनाइन्द्रिय द्वारा चखकर जो रस का ज्ञान किया उस ज्ञान में इष्ट बुद्धि हुई। उस रस के विषय को आपने कल्पना से भोगा, रस को नहीं भोगा। रस को तो वह फल ही भोगेगा, रस का तो फल ही परिणमन करेगा, आप न भोग सकेंगे। मैं बाहरी किसी भी पदार्थ को नहीं भोगता, मैं केवल अपनी कल्पना को भोगता हूं, तो देखो भाई, सुख शान्ति पाने के लिए बड़े बड़े परिश्रम किए जाते हैं, बड़े बड़े पौरुष बनाये जाते हैं, मगर सुख शान्ति का पाना कितना सुगम है। यह तो देखिये कि अपने आपके स्वरूप का सही परिचय पा लें, ऊधम छोड़ दें, उद्दण्डता छोड़ दें। ऊधम क्या है ? ऊधम यही है कि खटपट बनाना, बाहरी वस्तुवों का संग्रह विग्रह करना ये ही सब खटपट हैं, यह ही ऊधम है। जैसे कोई ऊधमी संतान स्कूल का बालक कहीं बैंच तोड़ता है। कहीं कुछ तोड़ता है, बड़ा ऊधम मचाता है तो मास्टर उसे पीटता है। समझाता है, तो इसी तरह ये संसारी अज्ञानी प्राणी इन परपदार्थों के पीछे ऊधम मचा रहे हैं तो हमारे ये ऋषि संत जन समझाते हैं कि अरे भाई, भाई तुम इन परपदार्थों के पीछे ऊधम क्यों मचा रहे हो ? तुम तो अपने को जानो और अपने आपमें रहो, बस तुम प्रसन्न हो। तुम शान्त हो। तुम्हें किसी प्रकार का क्लेश न होगा। यह जीव व्यर्थ ही बाह्य पदार्थों में अपना उपयोग लगाता है, उनके संग्रह विग्रह की भावना करता है, तोड़फोड़ करता है। तोड़ फोड़ तो करेगा क्या, पर उसका भाव बनाता रहता है, उसका ही फल है कि यह बड़े क्लेश पाता है।

(५८) शान्ति लाभ की दिशा में साधक आत्मस्वरूप निर्णय की प्राथमिकता—सब जीवों की समस्या एक यह ही है कि क्लेश दूर हो और शान्ति मिले और जितने भी प्रयत्न करते हैं वे इसी प्रयोजन से करते हैं कि क्लेश टलें, शान्ति प्राप्त हो, लेकिन बहुत से प्रयत्न करने पर भी शान्ति नहीं मिली। यह बात सभी लोग सोच रहे होंगे। क्या वजह है, क्या कारण है ? देखिए जिसको शान्ति चाहिए न तो उसका सही पता है और न जो शान्ति चाहिए उसका पता है सही। तो बतलावो जब न पात्र का पता है और न वस्तु का पता है तो प्राप्ति कैसे हो सकती ? उन दो बातों पर विचार करना है कि शान्ति कौन भीतर में चाह रहा है ? यद्यपि सभी लोग कहेंगे कि मैं चाह रहा हूं, अरे उस मैं का अभी निर्णय कहां लिया ? कोई कहेगा कि मैं अमुक जाति का हूं, शान्ति चाहता हूं, मैं निर्बल हूं, सबल हूं, गोरा हूं, कुरुप हूं यह मैं आनन्द चाहता हूं। देह को निरखकर, उसे मैं मानकर शान्ति चाहने की बात सोच रहे होंगे। वह तो मैं हूं ही नहीं। मैं क्या हूं ? पहिले इसका ठीक ठीक निर्णय करो। मैं क्या और मेरा है क्या ? तो देखिये—जगत में जितने बाहरी पदार्थ हैं मकान धन सोना चांदि आदिक ये तो मैं नहीं हूं। इतना तो सभी लोग सोच लेते हैं कि ये मैं नहीं हूं, ये जड़ हैं, बाहर रहने वाले हैं, मैं तो जो कुछ हूं देह के अन्दर हूं, वह मैं नहीं हूं और वे मेरे हैं क्या ? वे भिन्न जगह में ठहरे हुए हैं, आप यहां पड़े हैं। आपके साथ कुछ भी चिपक कर नहीं आया। आपका कुछ होता तो कम से कम यहां तक तो साथ आता। इतना तक नहीं बन रहा है तो फिर बाहरी धन वैभव कैसे कहा जा सकेगा कि यह मेरा है ? और कुछ थोड़ा भीतरी जड़ से हटकर अन्दर में आयें, घर में रहने वाले परिजन ये मेरे हैं, यह बात सब गलत है, ये भिन्न क्षेत्र में हैं, जुदे जुदे ठहरे हुए हैं। मैं चाहता हूं कि ये सुखी हों मगर होते नहीं, मैं चाहता हूं कि दुःखी हों, किन्तु मेरे सोचने से नहीं होता। कभी कभी हो भी जाता है तो मेरे करने सोचने से नहीं होता। उनका उदय उस प्रकार का है, वे अपने ज्ञानस्वभाव से सुखी होते हैं। बाहरी परिजन ये भी मेरे नहीं, ये भी मैं नहीं। जरा और अन्दर में आयें—यह देह, यह शरीर क्या यह मैं हूं ? अरे यह तो किसी दिन खाक हो जायेगा, लोग जला डालेंगे, इसका तो पता ही न पड़ेगा। हमने दूसरों को भी तो जलाया जाते देखा। यह मैं नहीं हूं, यह तो जड़ है, मैं तो एक भीतर चेतन हूं, शरीर तो कुछ समझता नहीं। मैं समझनहार कोई वस्तु हूं। अच्छा तो अब समझ गए।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भीतर जो गुनगुनाहट कर रहा है, कषाय कर रहा, विचार बना रहा, क्या ये मैं हूं ? अरे वे भी मैं नहीं हूं। ये क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक जो कषायें उत्पन्न होती हैं और विषय सम्बन्धी इच्छायें जगती हैं, ये तो मल हैं कलंक हैं, पुद्गल कर्म का विपाक है , यह कहो कि सब कर्म की छाया है, वह सब कर्म का नाच है, मैं तो एक सहज अपने अस्तित्त्व वाला चैतन्यमात्र हूं। तो कोई सोचे कि अब मैं समझ गया—जो एक ज्ञान हो रहा, जानना बन रहा, मूल में अमुक चीज है, अमुक चीज है, यह जो जानकारी हो रही, यह मैं नहीं हूं। अब कुछ ठिकाने आये कि जो यह जानकारी है वह मैं नहीं हूं, लेकिन यह जानकारी क्षण-क्षण में बदलती रहती है। क्या मैं बदलने वाला हूं ? क्या मेरा स्वरूप चलित होता है ? उन सब जानकारियों का आधारभूत जो एक ज्ञायकस्वरूप है सो मैं हूं। अच्छा, मुझे चाहिए शान्ति। अब समझ गए। तो मुझे क्या शान्ति चाहिए। वह तो स्वयं शान्त है। शान्त तो है, किन्तु उस पर दृष्टि आये तब शान्त है। नहीं दृष्टि है तो भीतर भगवान परमात्मतत्त्व अनादि अनन्त शाश्वत अन्तः प्रकाशमान होकर भी करे क्या ? जैसे किसी की गांठ में लाल बंधा है, पर पता नहीं है तो वह तो उसका गौरव नहीं समझता, वह तो अपने को दीन समझता है। इसी तरह हम आप अनादि निधन प्राणी स्वरक्षित जहां रंच भी बाधा नहीं है। ऐसा होकर भी हम अपने स्वरूप को नहीं सम्हालते। सम्हालते हैं जड़ पदार्थों को' इस भिन्न अशुचि शरीर को, जिससे आकुलतायें ही होती हैं। शान्ति प्राप्त नहीं होती। तो यह मैं हूं, इसे चाहिए शान्ति।

(५९) शान्ति लाभ की दिशा में साधक द्वितीय निर्णय—अब शान्ति का भी निर्णय करें। कैसे शान्ति मिले ? भोजन करने में कैसे आनन्द आता, जैसे स्त्री प्रसंग में सुख होता। जैसे खेल खेलने में सुख माना जाता तो वही तो शान्ति है। अरे वह शान्ति नहीं है, उनमें तो क्लेश भरे हैं। तो भोग भोगने के पहिले क्लेश, भोग भोगने के समय भी क्लेश और भोग भोगने के बाद भी क्लेश। खूब अनुभव कर लो—अगर क्लेश न चाहिए तो फिर ये इच्छायें न करें, विषयों में प्रवृत्त होने के लिए कोशिश न करें। कोई सुखी हो, शान्त हो तो वह किसी प्रवृति के लिए क्यों उद्यम करे ? विषयों में प्रवृत्ति का उद्यम करते हैं। यह ही एक प्रमाण है कि हम दुःखी हैं, आकुलित हैं। इच्छावों के द्वारा पीड़ित किए गए हैं तब ही विषयों में प्रवृत्ति करते हैं। अच्छा तो विषयों में जिस समय प्रवृत्ति कर रहे हैं उस समय देखो कि शान्ति है कि आकुलता। तो भोग भोगने वाले लोग समझते हैं कि कितनी व्याकुलतायें होती हैं। कैसा झट झट भोगना चाहते हैं, विषय प्रसंग करना चाहते हैं, कितना क्षोभ करना होता है। बल्कि कोई दूसरा तके या खुद साक्षी बनकर देख सके तो उसे विदित होगा कि इतनी आकुलतायें तो भोगने से पहिले भी न थीं। इतनी आकुलतायें भोगने के बाद भी नहीं होती जितनी कि भोगते समय होती हैं। सभी लोग अन्दाज कर लेंगे। एक खाने पीने के स्वाद का ही विषय ले लो, उस समय कितना यह जीव हड़प करना चाहता है। कैसी इसकी प्रवृत्ति होती है। कोई समता से खाता है क्या ? विषयों के भोगने के समय भी क्लेश है और बाद में भी बड़ा क्लेश है। खूब खाया, पेट भर गया तो अब प्रमाद आयगा ही क्योंकि डट कर खाया है। ज्यादा खा गया, पेट दर्द करने लगा, दुःखी हो गया। और विषयों के प्रसंग के बाद देखो—जैसे एक स्पर्शन इन्द्रिय का प्रसंग देखो। भोग भोगने के बाद जब यह दुर्बल, कमजोर, हताश होता है तो यह क्लेश मानता है, तो भोग भोगने से पहिले क्लेश, भोग भोगते समय क्लेश और भोग भोगने के अन्त में क्लेश। ये कोई शान्ति के उपाय नहीं। ये तो जैसे सुख वैसे दुःख। सिर्फ नाम बदल गया। जैसे नागनाथ कहो, या सांपनाथ कहो, काटेंगे दोनो। कहीं नागनाथ कह देने से वह मेहरबानी न करेगा, ऐसे ही चाहे सुख कहो चाहे दुःख कहो, परन्तु क्लेश दोनों में है। फर्क इतना है कि सुख इन्द्रियों को सुहावना लगता है, सु का अर्थ है सुहावना और ख का अर्थ है इन्द्रिय, जो इन्द्रिय को सुहावना लगे उसका नाम सुख है। और दुःख इन्द्रियों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

को बुरा लगता है, दु का अर्थ है बुरा और ख का अर्थ है इन्द्रिय। जो इन्द्रिय को बुरा लगे उसका नाम दुःख है। मगर "दु" की जगह "सु" धर देने से फायदा क्या हुआ ? भले ही लोग कहते हैं कि कु बुरा कहलाता है और सु अच्छा, जैसे कुपूत कहा तो कु का अर्थ है बुरा और सुपूत कहा तो सु का अर्थ है अच्छा। पर कु की जगह सु धर दिया जाय तो उससे फायदा क्या हुआ ? जैसे एक बार कोई पढ़ा लिखा लड़का था, वह हिन्दी अच्छी जानता था उसकी सगाई की बात हुई, लोग लड़का देखने आये तो देखने वालों ने उसके आदर के लिए कहा— आइये कुँवर साहब बैठिये तो लड़के ने सोचा कि ये ता मुझे कुँवर साहब कह रहे। कु का अर्थ तो होता है खराब। तो झट बोल उठा कि साहब मैं कुवर नहीं हूं मैं तो अच्छा हूं। तो ठीक ऐसे ही चाहे सुख कहो, चाहे दुःख कहो याने दु की जगह सु लगा दो तो उसमें फायदा क्या हुआ ? ये सुख दुःख दोनों हेय हैं।

(६०) प्रभुभक्ति में आत्मज्ञान की प्रयोजकता—प्रभु की भक्ति करके अगर मांगों तो सुख न मांगों, यह मांगों कि हे भगवान मैं कष्ट सहिष्णु बनूं, बस मुझे और कुछ न चाहिए। इस दुःख से परे जो एक विश्राम की अवस्था है, उनमें कोई कल्पना न उठे, जहां रंच मात्र भी आकुलता व्याकुलता नहीं है, ऐसी अपने आत्म की स्थिति चाहिए। यह होगा आत्मज्ञान से। सो आत्मदर्शन चाहो। मैं निजका दर्शन चाहता हूं, इसका अर्थ यह लगावो कि मैं ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूं, मुझे तो स्वभाव के अनुरूप स्थिति चाहिए और न चाहिए और इस विधि से कोई पौरुष करेगा तो उसे अवश्य सफलता मिलेगी। अब जरा दुबारा विचार करें एक साधारण शब्दों में। हम दुःखी हैं, हम कष्ट में है। क्या कष्ट है ? बाहरी पदार्थ मेरे पास नहीं हैं इसलिए कष्ट है ? ये तो बाहरी परिणतियां हैं। 'सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुःख की खान'। ये रागद्वेष मोह, इनकी वजह से मैं दुःखी हूं। मोह क्या चीज है ? मोह कैसे मिटे ? मोह मिटाने के लिए बहुत से लोगों ने बहुत-बहुत प्रयास किए। किसीने सोचा कि ऐसा मान लो कि यह दुनिया एक ईश्वर का बगीचा है, इस बगीचे में हाथ न दो, मोह खत्म हो जायगा। किसी ने सोचा कि शरीर में ही कोई उद्यम करें, शरीर में श्वांस लें, भीतर प्राणायाम करें, तो इससे शान्ति मिल जायगी, किसी ने सोचा कि समाधि ले लें, कुछ समय के लिए जमीन में गड़कर ऊपर से मिट्टी बिछा दें, तो वहां शान्ति मिल जायगी, मोह दूर हो जायगा। यों मोह दूर करने के लिए लोगों ने अनेक उपाय किये पर वे उपाय काम न कर सके। यह दुनिया ईश्वर का बाग है, इसमें हाथ न दो ऐसा सोचने से दुःख तो न मिट पायगा। अरे अपने ज्ञानस्वरूप से च्युत होकर कहीं बाहर में अपनी दृष्टि लगाया तो उस का फल क्या होगा ? जैसे मछली जल से बाहर निकल जाय तो उसकी कुशलता नहीं, इसी प्रकार यह ज्ञानस्वरूप अपने ज्ञान बाहर निकल जाय तो वहां भी उसकी कुशलता नहीं है। कहां पाया शान्ति। किसने बताया कि प्राणायाम करो, योग साधन करो, उससे मोह हट जायगा अरे उससे मन एक जगह तो हो जायगा मगर मन कहां टिके ? उसके द्वारा लक्ष्य भी तो बनाना चाहिए। वह ज्ञान द्वारा सुख है। कोई कहे कि खूब श्वांस भरें। तो ठीक है, उससे स्वास्थ्य तो कुछ अच्छा हो जायगा, कुछ रोग दूर हो जायेंगे मगर उस परमात्मतत्त्व ज्ञानमूर्ति के तो दर्शन न हो पायेंगे। शान्ति कैसे मिलेगी ? ये तो थोड़े समय के उपाय हैं। मान लो कि सुखी हो गए, मगर इसका निभाव तो नहीं होगा। सत्य शाश्वत शान्ति के लिये शान्ति क्या है और किसे चाहिए, इन दो बातों का निर्णय बना ही लेना चाहिए।

(६१) सकल कष्टों का मूल भ्रम—जितने भी क्लेश होते हैं वे भ्रम से होते हैं। मोह कहो, भ्रम कहो, अज्ञान कहो, एक ही बात है। प्रत्येक पदार्थ जुदे जुदे हैं, अपना द्रव्य, क्षेत्र काल भाव सबका अपने आप में है। किसी का किसी से कोई सम्बन्ध नहीं, याने न द्रव्य मिला, न क्षेत्र मिला, न काल मिला, न भाव मिला। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है। रहे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध पर यह तो देखिये कि पदार्थ जो कुछ भी परिणम रहा है वह अपने आपमें ही परिणम रहा है या निमित्त में ? या निमित्त उपादान में लेकर परिणम

Version 1

रहा। निमित्तनैमित्तिक भाव का निषेध करने में कुछ पौरूष मत बनावो। वह तो है। उसी का फल संसार है। ये सब स्वाभव विकार चल रहे हैं, है पर उसे जान लीजिए। है ऐसा। उपाधि के समय में है, संसार चल रहा है लेकिन उससे निकलने का उपाय क्या है? इस पर अधिक दृष्टि डालें। उपाय क्या है? देखो मूल में एक गल्ती होती है कि हममें जो कषायभाव जागृत होते हैं उन्हें अपना लेते हैं। मैं हूं, ठीक कर रहा हूं। इतनी भीतरी गल्ती के फल में ये सब दुःख भोगने पड़ते हैं, पशु बनें, पक्षी बने, पेड़ पौधे बनें, नाना प्रकार की कुयोनियों में जन्ममरण करना पड़ रहा, उसका मूल कारण यह है कि हम विभाव पर्यायों को अपना लेते हैं। तब फिर न अपनायें ऐसा उपाय बनावो। सोचिये—उपाय यह है कि पहिले अपना स्वरूप जान लें और विभावों का स्वरूप जानें, विभाव मेरे स्वरूप नहीं, विभाव मेरे स्वभाव नहीं। ये विभाव तो मेरी बिगड़ी हुई दशायें हैं। और बिगड़ी दिशायें हुआ करती हैं किसी पर सम्बन्ध में। तो कर्मउपाधि का सम्बन्ध है उस सन्निधान में हम बिगड़ी दशाओं में बने चल रहे हैं। तो यहां आत्म दृष्टि बनायें। निमित्तदृष्टि से यह निर्णय करें कि ये विभाव मेरे नहीं हैं, ये तो पौद्गलिक हैं। और स्वभाव दृष्टि से यह निर्णय करें कि ये विभाव मेरे नहीं। मैं तो एक ज्ञानमात्र हूं। आप पहुंचें, स्वभाव दृष्टि की ओर हों, यह मैं हूं, जो सहज ज्ञानमात्र है सो मैं हूं, ऐसा अपने आपका निर्णय कर लेने पर सारा नक्शा बदल जाता है। एक बार कोई दो चित्रकार राजा के पास आये, मानो उनमें से एक तो था जापानी और एक था यूनानी। तो दोनों चित्रकारों ने कहा—महाराज हम भींत पर बहुत बढ़िया चित्र बनाते हैं। आप अपने महल में बहुत बढ़िया चित्र हमसे बनवावें।—अच्छी बात। अब राजा ने क्या किया कि महल के एक हाल में बीच में पर्दा डाल दिया और दोनों चित्रकारों से एक एक ओर की भींत में चित्रकारी करने को कहा तो जो यूनानी चित्रकार था वह भींत को ६ माह तक कुछ मसाले लगाकर रगड़ने का काम करता रहा और जो जापानी चित्रकार था वह ६ माह तक रंग बिरंगे सुन्दर चित्र उस भींत पर बनाता रहा। जब ६ माह पूर्ण हो गए तो दोनों चित्रकारों ने कहा—महाराज अब आप हम दोनों चित्रकारों की चित्रकारी का मुकाबला देखिये। राजा ने हाल के अन्दर लगा हुआ पर्दा निकलवा दिया। वहां क्या देखा कि जिस जापानी चित्रकार ने रंगों से रंग कर चित्र बनाया था वे तो भद्दे मालूम हो रहे थे और जिसने केवल भींत में रगड़ने का काम किया था उसकी भींत में दूसरी ओर के बने हुए चित्र झलक रहे थे। उनमें एक सुन्दर चमक थी। राजा ने यूनानी चित्रकार को पुरस्कार देकर सहर्ष विदा किया। यहां हमें शिक्षा यह लेना है कि हम आप धर्म के लिए बहुत-बहुत प्रवृत्तियां करते हैं तो करें, ठीक है, लेकिन पहिले अपने हृदय को, उपयोग की भूमि को स्वच्छ कर लें। स्वच्छ होगा ज्ञान से। यहां खूब निरख लो—देखिये—जितने भी जो कुछ तत्वज्ञान के मार्ग में प्रयास किये जाते हैं, वे स्वभावदृष्टि के लिए किये जाते हैं। आप यहां देखो—इस तत्त्वज्ञान से हमको स्वभावदृष्टि के लिए बाधा तो नहीं पड़ती। नहीं पड़ती बाधा तो बस ठीक है, उसे ग्रहण करें, और यदि बाधा पड़ती है तो वह ग्रहण करने के योग्य नहीं है, हां तो स्वभावदृष्टि में बाधा देने वाला है मोह। मोह कहते हैं दो वस्तुवों को एक मानकर और उसके समान मानकर अपना परिचय बनाना। यही है अज्ञान, मोह, भ्रम।

(६२) भ्रमज दुःख के विनाश का उपाय भ्रमविनाश—भ्रम से उत्पन्न हुआ दुःख भ्रम के नाश से ही दूर हो सकता है, अन्य उपाय से नहीं। वेदान्त की जागदीशी टीका में एक कथा दिया है कि कोई १० जुलाहे थे, वे एक दूसरे के घनिष्ट मित्र थे। वे सभी जुलाहे पास के दूसरे गांव में कपड़ा बेचने जाया करते थे। बीच में एक नदी मिलती थी, उसको पार करके वे प्रतिदिन आया जाया करते थे। एक दिन शाम के समय कपड़ाबेचकर लौटे, रास्ते में नदी पार किया, नदी पार करके उस दूसरे तटपर उन्होंने सोचा कि देखो अपने १० लोग गए थे, गिन लिया जाय कि अपने सब लोग हैं या नहीं। जब वे गिनने लगे तो सभी को गिन लेते थे, पर अपने को न

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गिनते थे। इससे उन्हें ९ मित्र मिल रहे थे, पर एक न मिल पाता था। यों ही सभी ने अपने को छोड़कर बाकी सबको गिना तो वे ९ दीखे, सब घबड़ा गए। सोचा कि देखो अपने १० लोग तो गए थे और अब रह गए ९ ही। हमारा पता नहीं एक मित्र कहां गया? नदी में बह गया या कहीं गायब हो गया। वे सभी जुलाहे उस जगह बड़े दु:खी हो रहे थे—वहां से एक घुड़सवार निकला, उसने एक सरसरी निगाह में हो देख लिया कि ये १० लोग हैं और समझ गया कि ये सब दु:खी हो रहे हैं। तो उनके दु:खी होने का कारण पूछा। तो उन जुलाहों ने बताया कि देखो हम लोग १० मित्र आये तो थे कपड़ा बेचने पर पता नहीं हमारा एक मित्र कहां चला गया? तो उसने सोचा कि हैं तो ये 10 के 10, पर समझ लिया कि ये सब भ्रम में हैं, इसलिए कहा कि देखो अगर हम तुम्हारा 10 वां मित्र बता दें तो?…अरे हम सब आपके बड़े आभारी होंगे। सो हाथ में बेंत लिए ही था। सबको एक लाइन में खड़ा कर दिया और एक तरफ से धीरे धीरे बेंत मारकर गिनाना शुरू किया। देखो 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9 और जो 10 वां होता उसे जोर से मारकर कहता—तू ही तो 10 वां है। यों ही एक एक को बारी बारी से गिनकर और जोर से मारकर बता दिया कि तू ही तो 10 वां है। यों सभी को मार मार कर बता दिया कि तू ही तो 10 वां है। तो वे जुलाहे समझ गए कि हम अभी तक भ्रम में थे। हम लोग अपने अपने को नहीं गिन रहे थे। तो सही जानकारी बनी नहीं कि उनका सारा दु:ख खतम। अभी स्कूल के बच्चों को ही ले लो कोई पूछे तो बताओ बच्चों 8×8=कितने होते हैं? तो जब तक वे सही सही नहीं जान पाते तब तक आकुल व्याकुल रहते हैं और जब सही जानकारी हो जाती है तो वे प्रसन्न हो जाते हैं। उनकी वह प्रसन्नता किस बात से आयी? क्या कोई मिठाई वगैरह खाने से? नहीं अरे वह प्रसन्नता है भ्रम के मिटने से और सही जानकारी बनने से। भ्रम मिटा कि सब दु:ख खतम।

(६३) आत्मज्ञान की आवश्यकता का कारण—प्राचीन और अर्वाचीन सभी संतों का यह उपदेश होता है कि आत्मज्ञान करें, अध्यात्मज्ञानी बनें। तो यहां यह सोचना है कि आत्मज्ञान कि आवश्यकता है क्या? जिस पर सभी लोग इस प्रकार बहुत जोर दिया करते हैं। अच्छा, मान लो आत्मज्ञान की आवश्यकता तो नहीं है क्यों व्यर्थ में एक ज्ञान का व्यायाम कराया जाय, तकलीफ दी जाय, पर यह तो बतलावो कि दु:ख दूर करने की भी आवश्यकता मालूम होती है या नहीं? आत्मज्ञान न सही, आत्मज्ञान के यत्न में यदि बाधा आती है तो उसे छोड़ो, आत्मज्ञान के पौरुष में तकलीफ होती है तो उसे छोड़ दो, पर यह तो सोच लीजिए कि दु:ख दूर करने की आवश्यकता भी मालूम होती है या नहीं। इतना तो सभी कह देंगे कि दु:ख दूर करने की आवश्यकता तो जरूर है और दु:ख भी सब जानते हैं कि हमें दु:ख लग तो रहे हैं प्रतिदिन: महीनों दु:खी रहते हैं, कभी थोड़ा एक झूठा मौज ले लेते हैं, वह झूठी हंसी है। अज्ञानीजन तो नहीं समझ पाते कि यह हमारा झूठा मौज है, वे तो बड़ा मौज मानते हैं, लेकिन वे अन्दर में बड़े दु:खी रहते हैं। और प्रकट में कुछ ही समय बाद जब कोई बड़ा दु:ख ख्याल में आ जाता है तो दु:खी हो जाते हैं। तो जब सुखी हो रहे हों, जब मौज मान रहे हों, जब खूब सम्पदा आ रही है, परिवार का बड़ा ठीक काम चल रहा है, लोग बड़ाई भी करते हैं ये ही तो सुख (मौज) मानने की चीजें हैं। तो लो पर से ऐसी सुख और मौज की चीजों से भी भीतर में निरन्तर क्लेश बना हुआ है। उसे कोई लोग पहिचान सकते हैं और कोई नहीं पहचान सकते। इतना तो सब कोई जान जाते हैं कि उस समय यदि क्लेश नहीं है तो थोड़ी देर बाद अनेक समस्यायें आ जाती हैं। उन समस्यावों में दु:खी हो जाते हैं। वह तो एक व्यक्त दु:ख है, प्रकट दु:ख है, लेकिन जिस वक्त सुख भोगा जा रहा हो उस वक्त भी अन्दर में क्लेश बना हुआ है, जिसके कारण पाप का ही बन्ध होता है। मतलब यह है कि व्यक्त अव्यक्त सब ही क्लेश हमारे दूर हों इसकी आवश्यकता जरूर मालूम होती है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(६४) वर्तमान क्लेशों पर एक विहंगम दृष्टि—अब यहां देखो कि क्लेश क्या है और कैसे दूर वह होता है ? मोटी बात सोचो कि हम इस भव में जी रहे हैं कुछ दिन को जी रहे हैं। मरण हो जाने के बाद यह जीव यहां से बिदा हो जायगा पता नहीं कहां पैदा हो जाय किसी भी जगह पैदा हो अच्छी जगह पैदा हो या दुर्गति में जाय। पर इतना तो निश्चित है ना सबको कि यहां का समागम, यहां की सम्पदा, यहां की कुछ भी चीज मेरा साथ न देगी। जिस बच्चा बच्चीयों पर, नाती पोतों पर इतना लाड़प्यार किया जा रहा है, जिनसे बड़ी ममता की जा रही है, जिनको देख देखकर बड़ा मौज माना जा रहा है, लोग समझ लें कि इनका बड़ा अच्छा परिवार है, उनमें से कोई भी जीव क्या इसका मरण होने पर थोड़ा भी साथ दे सकेंगे ? इतना तो प्रकट सिद्ध है कि मरण होने पर ये कोई लोग साथ न दे सकेंगे। अच्छा तो अब दूसरी बात विचारो कि जब तक हम जिन्दा हैं तब तक भी क्या ये मेरा कुछ भी साथ दे रहे हैं ? अरे जब विवेक से विचारेंगे तो यह बात विदित हो जायगी की ये साथ दे ही नहीं सकते, क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि पर से परको कुछ मिलता नहीं है। इसमें किसी कि निन्दा नहीं की जा रही है कि सभी लोग बड़े खुदगर्ज हैं, कोई किसी का साथ नहीं देता, कोई किसी का शरण नहीं। अरे यह तो वस्तु का स्वरूप बताया जा रहा है कि किसी भी परवस्तु से मेरे को कुछ मिल सकने का है ही नहीं। जब कभी परिजनों की बड़ाई करके या उनका कुछ महत्व देखकर हम दुःखी होते हों उस वक्त भी हम अपनी कल्पनायें करके अपने वर्तित ज्ञान से ही सुखी हो रहे हैं, उन बच्चों के कारण सुखी नहीं हो रहे हैं। तो न इस जीवन में, न मरण के बाद कोई पर जीव मेरा कुछ भी पूरा निभाव न कर सकेंगे, साथ न दे सकेंगे। जब इतनी बात सोचते हैं तब तो ऐसा लगता होगा कि ये तो सब बेकार की बातें हैं। जब मरण पर भी ये साथ नहीं दे सकते और वस्तु का स्वरूप ऐसा है कि जीवन में अब भी साथ नहीं दे रहे, तो इनसे मोह करना बिल्कुल बेकार है,

(६५) ज्ञानी गृहस्थ में निर्मोहता व सरागता का समन्वय—हां सोचो—बात सही है, समागम प्राप्त अर्थों से मोह करना बिल्कुल बेकार है, लेकिन फिर बात सामने आती कि इसके बिना गृहस्थी में चलता भी तो नहीं। तो दूसरी भी बात सुनो—मोह के बिना तो चल जायगा पर राग के बिना न चलेगा गृहस्थों को, यह है उसका समाधान। लोग समझते हैं कि मोह किए बिना गृहस्थी न चलेगी, पर भाई मोह किए बिना तो सब चल जायगा हां राग किए बिना घर में चल नहीं सकता। और घर में न चल सकें, राग भी न करें ऐसा बल है तो यह तो बहुत अच्छी बात है। कोई अपने को फदे में चलाने की जरूरत भी नहीं है कि घर में हम रहें, चलायें, करें, मगर परिस्थिति ऐसी है कि आप सबको छोड़ नहीं सकते। क्या करें, किस जगह जायेंगे ? कष्ट सहने का अभ्यास नहीं है अथवा अन्दर में ऐसा ज्ञानप्रकाश भी प्रकट नहीं हुआ है कि जिसमें तृप्त रहें, तो समय कैसे कटेगा ? घर छोड़ दें, कमायी छोड़ दें तो समय कैसे कटेगा ? इसलिए गृहस्थी है, ठीक है, यह एक कमेटी है, जैसे किसी संस्था की कमेटी में १०-१२ सदस्य होते हैं, मीटिंग होती है, निर्णय होता है, विचारों का आदान प्रदान होता है अपना जैसा लगता है, इतना होने पर भी किसी सदस्य को किसी दूसरे सदस्य से मोह भी होता है क्या ? संस्था चले, इस ढंग से चले, जीवों का कल्याण हो, इस ढंग की बात चले। इस एक लक्ष्य से पीछे १०-१२ सहयोगी सदस्य बने हुए हैं तो वह एक प्रयोजन से ही तो है। कहीं मोहवश नहीं है। इसी तरह घर गृहस्थी में प्रयोजन से हैं, यह कुटुम्ब का सहवास मोहवश नहीं है। घर में रहना पड़ेगा, भोजनादि का प्रबन्ध भी ढंग से करना होगा, कुछ जीवन भी आराम से गुजरे, शरीर को बहुत कष्ट न हो, इसकी भी कुछ जरूरत सी समझी जा रही है। ये घर के लोग क्या हैं ? वे भी एक कमेटी के मेम्बर हैं। कोई निर्वाचित मेम्बर होते हैं कोई अनिर्वाचित, पद्धति भिन्न-भिन्न है। घर के सभी लोग आराम से जीवन गुजारें, इस उद्देश्य को लेकर एक गृह नामकी संस्था

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कमेटी के मेम्बर हैं, इससे अधिक उनका और कोई महत्व नहीं है, जिनके अज्ञान है वे इस परिवार का बड़ा महत्व समझते हैं वे भ्रम में हैं, दुःखी होते हैं और सार बढ़ावा का काम करते हैं। मिल गए, मेरे ये सब सहयोगी हैं। इस प्रसंग में हमें भी उनका ख्याल करना है, वे भी हमारा कुछ ख्याल रखें, यह बात व्यवहार की है। तो राग तो रहा, राग बिना गृहस्थी तो न चलेगी, मगर मोह बिना गृहस्थी चल सकती है। जैसे कि जानते रहो कि सब द्रव्य न्यारे हैं कोई वस्तु किसी वस्तु का कुछ कर सकती नहीं है, ऐसा वस्तु का परिचय बना रहे। बात बन जायगी, निर्मोहता आ जायगी। काम भी होते रहेंगे।

(६६) निर्मोहता में विलक्षण उपलब्धि—जिसके निर्मोहता होती है उसके चूंकि यह आग्रह नहीं होता कि इतनी सम्पदा हो तब मेरा जीवन है अन्यथा मेरा क्या जीवन? इतना ही लाभ हो इतना ही वैभव हो तब ही मेरा जीवन है, अन्यथा मेरा क्या जीवन है? यह बात है निर्मोह ज्ञानी गृहस्थ की। उसका तो यह भाव रहता है कि पुण्य के अनुसार जितने जीवों के पालन पोषण में यह कमाई हुई है वह इन सब जीवों के पुण्य से हुई है। हममें तो ऐसी कला है कि जितनी आय होगी उसी के अन्दर विभाग बनाकर हम अपना गुजारा कर लेंगे। ज्ञानी का भाव यह रहता है। पर होता क्या है कि जो निर्मोह पुरुष होता है उस के सम्पदा अटूट आती है और जो मोही पुरुष होता है तो चूंकि वह तुरन्त बड़ा पाप कर रहा है, अज्ञान का पाप बना रहा है, भ्रम और मोह कर रहा है तो उसके पाप का क्षय बहुत देर से होगा, उसके सम्पदा अटूट नहीं हो सकती। कदाचित् यह भी दिख जाय कि जो कुछ लोग पाप कार्य करते हैं फिर भी सम्पदा आती है तो यह समझिये कि उनके पूर्व पुण्य का संग्रह विशेष है, लेकिन बुरा काम करने वाला सम्पन्न हो जाय, यह बात एक आम बात नहीं है। आम बात यह है कि जो निर्मोह है, ज्ञानी है वह पुरुष जब तक संसार में रहता है तब तक उसके सम्पदा भी अटूट चला करती है। ऐसे ही लोग तो चक्रवर्ती, तीर्थंकर, नारायण आदिक बड़े-बड़े पद प्राप्त करते हैं जहां विपुल सम्पदा होती है। होता सब कुछ है मगर ज्ञानी पुरुष को उनसे मोह नहीं रहता। निर्मोह होने का सदा महत्व है। सबके बीच रहकर भी इन सबसे निराला मैं ज्ञानमात्र हूं, ऐसा जिसके बोध रहता है उसके मोह नहीं रहता। मोह न रहने से उसे दुःख नहीं रहता।

(६७) दुःख दूर होने का उपाय भ्रमविनाश—हमें आवश्यकता है दुःख दूर करने की ये दुःख दूर होंगे। भ्रम में कोई सुखी नहीं हो सकता। भ्रम तो भ्रम ही है। तो भ्रम को नाश करने की आवश्यकता तो आयी ना। दुःख दूर करने की तो आवश्यकता तो है पर दुःख दूर हो सकेगा तो भ्रम के नाश से ही हो सकेगा। भ्रम रहते हुए दुःख दूर नहीं हो सकता। जब ऐसा जाना कि घर मेरा ही है, और किसका है मेरे से बंधा है, मेरे साथ है, मेरा सब कुछ है, तब अनेक विकल्प चलेंगे, अज्ञान रहेगा, क्लेश रहेगा। मोह का दुख निरन्तर बना रहेगा और जब जान जायेंगे कि मैं तो एक मुसाफिर हूं। बड़ी मुसाफिरी करते-करते अनादि काल से अब यहां आया हूं तो एक धर्मशाला में इस घर में, मकान में, इसमें मैं कुछ दिनों को ही ठहरने वाला तो हूं। सदा तो नहीं ठहर सकता। सोच लीजिए। मोही लोग मरे जा रहे हैं लौकिक सम्पन्नता बनाने के लिए। मेरा सब जगह खूब यश हो, मान हो, सब लोग मुझे खूब जान जायें समाज के सभी लोग मेरी प्रतिष्ठा करें, अरे ये सब बेकार जानों। कैसी इज्जत ? मरने के बाद ये सब बेकार हैं। दूसरी बात यह है कि जब तक जी रहे हैं तब तक भी ये मेरी शान्ति के कारण तो न बनेंगे। कोई किसी को निन्दा करके दुःखी करता है तो कोई किसी की प्रशंसा करके उसे दुःखी करता है। दुःखी करने के दोनों उपाय हैं। निन्दा करने वाले ने तो कुछ समय के लिए ही दुःखी किया, वह अधिक समय तक कष्ट न पायगा जिसने निन्दा सुना है। पर प्रशंसा सुनने वाला और उस प्रशंसा में राजी होने वाला व्यक्ति तो उस प्रशंसा करने वाले का बड़ा कृतज्ञ बनेगा और उसको सुखी करने के लिए बड़ा परिश्रम भी करेगा। अब यह बड़ा लम्बा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

काम खिच जायगा। तो प्रशंसा से दु:ख अधिक हुआ या निन्दा से सभी जगह देखो दु:ख दोनो स्थितियों में हैं, और जिससे समझते हैं कि मुझे सुख मिलता है वह और भी अधिक दु:ख का कारण है। यह बात इसलिए बतायी जा रही है कि जिससे चित्त में यह बात आ जाय कि ये सब दु:ख हैं और दु:ख दूर करने की हमें आवश्यकता है। जैसे पुत्र कपूत हुआ तो उससे कम दु:ख है, पर पुत्र सपूत हुआ तो उससे दु:ख अधिक होता है। मोह में यह जीव समझता नहीं है। कपूत हुआ तो थोड़ा सोच लिया और निपटारा कर लिया कि इससे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं। लोगों को भी बता दिया कि मेरा इससे कोई मतलब नहीं, लो दु:ख से बहुत बच गए, और अगर पुत्र सपूत तो उसके लिए जीवनभर मरते समय तक बड़ा संकल्प विकल्प करते हैं. बड़ा राग करते हैं। यह बड़ा अच्छा बने, बड़ा सुखी हो, बड़े मोज में रहे, ऐसा भाव बनता रहता है वह तो दु:ख निरन्तर शल्य की तरह इसके चुभते रहते हैं। तो भैया ! लोग विवेक नहीं करते। दु:ख इन सभी साधनों से हैं। जितने परवस्तु के समागम हैं वे सब समागम हमारे क्लेश के ही कारण हैं, शान्ति के कोई कारण नहीं। तो जब सारे परवस्तु हमारे दु:ख के ही कारण बनते हैं निश्चित समझ लीजिए तब आवयश्यकता है कि उन परवस्तुओं का हम ध्यान छोड़ें, उनका आश्रय छोड़ें, जब सब परवस्तुओं का समागम व्यक्त और अव्यक्त रूप से हमारे दु:ख के ही कारण बन रहे हैं तो हमारा कर्तव्य है कि हम उन सब समागमों में मोह न करें। रागी न हों।

(६८) **सन्मार्ग के निर्णय का प्रभाव**—परवस्तुवों में राग न जगे यह बात जब बने तब सही मगर वर्तमान में इतना निर्णय तो बना लें कि ये सब समागम मेरे कुछ नहीं हैं। इनसे मेरा कुछ भी पूरा न पड़ेगा। मरकर तो जैसा मेरा धर्म है, जैसा मेरा ज्ञान बना है, जैसी मेरी भावना बनी है उसके अनुरूप बीतेगा अगले भव में। ऐसा नहीं है कि यह मनुष्य ही बने। कीट पतंगा आदि कुछ भी बन सकता है। इन बाहरी समागमों के कारण मेरे को परभव में कुछ सुविधा रहेगी यह बात गलत है, किन्तु भीतर में आत्मज्ञान के कारण, ज्ञानसंस्कार के कारण, शुद्ध भावना बनाने के कारण और प्रभुभक्ति के कारण, प्रभुता के स्वरूप को चित्त में बसाने के कारण जो ज्ञानसंस्कार होगा उसके अनुरूप अगले भव में बीतेगी, सुख की बात बनेगी, शान्ति का साधक बनेगा। बात यह पूरे निर्णय की है इसमें रंचमात्र सन्देह नहीं। तब अगर अगले भव की बात, अगले अनन्त काल की बात ठीक बनाना है तब तो आत्मज्ञानी की ओर आयें। अपने को पहिचानें जिससे कि इस भव में भी शान्ति रहे और निकट काल में सारे दु:ख से मुक्त होकर मैं परमात्मत्वका अनुभव करता रहूं। इसके लिए आवश्यकता है बाह्य पदार्थों का आलम्बन छोड़ने की, बाह्य पदार्थों में मोह त्यागने की, बाह्य पदार्थों में भ्रम न ठानने की। क्या-क्या भ्रम ठाने जाते हैं ? यह मेरी वस्तु है. यह मुझे सुख देती है, यह मेरे लिए हितकारी है, इसके बिना मेरे प्राण नहीं रह सकते, आदिक जो धारणा बनती है वह सब भ्रम है, अज्ञान है, अंधेरा है। जिसका फल दुर्गतियों में भ्रमण करना है। एक ही बात सोच लो—अगर कोई नुस्खा ऐसा मिलता है बात ऐसी प्राप्त होती है कि जिसके कारण अभी इस जीवन के अन्त तक भी हम शान्त रह सकेंगे और इसके बाद भी हम शान्त सुखी रह सकेंगे, अगला भव भी हमारा अच्छा गुजरे और निकट काल में मैं सदा के लिए संकटों से छूट जाऊं, इन सब लाभों का उपाय केवल एक है, वह उपाय अगर हम करें तो उसमें आनाकानी क्यों होनी चाहिए ? कारण बतलाओ—एक इस आत्मज्ञान के उपाय से वर्तमान में शान्ति रहेगी। सम्पदा तो उदयानुसार आयगी, जैसी आनी है आयगी, उसमें बाधा नहीं आती, बल्कि उसमें भी बहुत सहयोग मिलता है। वर्तमान जीवन भी सही गुजरेगा, आगे का जीवन भी सही गुजरेगा और सारे संकटों से मुक्ति पा ली जायगी, ऐसी बात यदि मिल जाती है तो उसकी उत्सुकता होनी चाहिए। उससे तो आनाकानी न होनी चाहिए। बल्कि एक चित्त होकर उसी के लिए ठन जाना चाहिए। मेरे को जीवन में आत्मानुभव का ही रहना है। इसके बिना जीवन बेकार

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है, और ज्ञानानुभूति हो जाय तो मेरे सारे क्षण सफल हैं। संपदा से जीवन सफल नहीं होता, परिजनों से जीवन सफल नहीं होता, लौकिक यश से जीवन सफल नहीं होता। यहां बड़प्पन मानने वाला है भी कौन ? बड़प्पन जो मानता है वह भी अपने स्वार्थ सिद्धि के कारण मानता है। यहां कौन किसका बड़प्न मानने वाला है ? तो हैं ना सारी बातें ये वेकारसी। तो यह बात चित्त में ठान लीजिए कि तन, मन, धन, वचन और प्राण ये सब कुछ न्यौछावर करने के बाद भी हमको आत्मज्ञान मिलता है तो मैंने बड़ी सरलता से सर्वोच्च वैभव पा लिया इतना निर्णय चित्त में रखना।

(६९) सत्य श्रद्धालु के लोकभय का आभाव—भैया ! सम्पदा की बात यहां बीच बीच यों करनी पड़ती है कि चूंकि संस्कार ऐसा ही बना है, उस ओर ही बराबर चित्त जाता है, और जीवन में काम भी कुछ दे रहा है, जब तक गृहस्थी में है, इसलिए कहना पड़ता है। यह लक्ष्मी तो आपके आंगन में बरषेगी, आपके घर में आयगी, वह कहीं आपके मोह करने से न आयगी। वह तो उदयानुसार सब लोगों के पुण्योदय के कारण आयगी। आपका कर्तव्य यह है कि निर्णय ऐसा बना लें कि जो आयगा उसमें भी हम सात्विक रहन सहन के हिसाब से अपना खर्च करेंगे, ताकि कभी इतना न आये तो हमें विपदा न आये, उसी ढंग का रहन सहन, खान पान रखें और अधिक धन आता है तो उसे अच्छे कामों में खर्च करना। वह भी एक यश बढ़ाने वाली बात है। सम्पदा को तो यश बढ़ाने के लिए ही ना लोग जोड़ते हैं। पर सम्पदा जोड़ने से यश नहीं होता, किन्तु अपनी आवश्यकता से अधिक धन आ जाय तो उसे अच्छे कामों में व्यय करने में यश होता है और सम्पदा जोड़ी, अचानक मिट गई तो उस का कुछ भी फल हाथ न लगेगा, किन्तु उस धन को अनेक प्रकार के धर्मकार्यों में खर्च करने पर जो यश बनेगा वह निकट काल में मिटेगा नहीं। तो इसके लिए अपना एक नया निर्णय बनाये रहें। पर अन्तरंग में अपनी यह धुन बनाये रहें कि बस मुझे तो यह समझना है कि मैं क्या हूं, मेरा क्या है, मैं क्या करता हूं, मैं क्या भोगता हूं ? मेरी दुनिया कितनी है ? बस सबका उत्तर है एक। क्या ? ज्ञानस्वरूप। मैं क्या हूं ? ज्ञानस्वरूप। मेरा क्या हैं ? ज्ञानस्वरूप। मैं क्या करता हूं ? ज्ञान को। मैं क्या भोगता हूं ? ज्ञान को। मेरी दुनिया कितनी ? जितना कि यह ज्ञान। मेरा परलोक कहां ? जितना यह ज्ञान। मेरा सर्वस्व, मेरी निधि मेरा यह ज्ञान ही है। इसके आगे मेरा कहीं कुछ नहीं। इसको चिन्तन में लेवें। एक बार सबका विकल्प छोड़कर विश्राम से बैठ जावें तो अपने आप यहां से उत्तर मिलेगा। सहज ही ऐसा उत्तर मिलेगा कि जिसके बाद फिर कभी भूलेंगे नहीं। अपने आपके परम विश्राम के प्रयोग से जो आप अपने भीतर के स्वरूप का ज्ञान करेंगे वह आपका ठोस ज्ञान होगा मुझे उसके लिए बढ़ना है। बाहरी बेकार बातों के लिए मुझे उपयोग नहीं लगाना है। वे तो आयेंगे उदयानुसार। चित्त लगाना है इस आत्म की ओर। तो दुःख दूर किए जाने के लिए आवश्यकता है आत्मज्ञान की। इसलिए संत महंत आत्मज्ञान के उपदेश की बड़ी चर्चा किया करते हैं।

(७०) अनर्थ का कारण निजका अदर्शन—अब तक संसार में रुलते-रुलते इन प्राणियों ने सब कुछ देखा बाहरी अनेक बातें देखी, किन्तु एक निज को न देख सका। इसका परिणाम यह है कि यह जन्ममरण के दुःख भोगता चला आ रहा है। इस एक को देख लेना, अपने आपको पहिचान लेना और अपने आप में लीन रहना बस इसी का नाम धर्म है। आज धर्म के नाम पर कितने ही विवाद, कितने ही सम्प्रदाय, कितने ही भेदभाव बन गए, लेकिन धर्म तो वस्तु का रूप है। धर्म तो एक ही कहलायगा। धर्म अनेक नहीं हो सकते। जिसमें जो बात स्वभाव की हो बस वही उसका धर्म है। हमारा धर्म क्या ? आत्मा का धर्म क्या ? मेरे में जो स्वभाव हो वही मेरा धर्म है। क्या है मेरा स्वभाव ? जाननहार रहना, ज्ञाता दृष्टा रहना, प्रतिभास करना, जानना, याने ज्ञानतत्त्व यही मेरा स्वभाव है। तो क्या क्रोध, मान आदिक कषायें करना मेरा स्वभाव नहीं है ?

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वह मेरा स्वभाव नहीं है। स्वभाव जो होता है वह सदा रहता है, निरन्तर रहता है। जो स्वभाव नहीं है वह कभी होता है कभी नहीं होता है, वह निमित्ताधीन बात है, तो देखिये जीव जब क्रोध कर रहा है तब भी उसमें ज्ञान चल रहा है। जब मान, माया, लोभ आदिक कुछ भी कर रहा है तब भी ज्ञान चल रहा है, कषाय नहीं कर रहा है तो भी ज्ञान चल रहा है। तो ज्ञान प्रति समय जीवन में रहता है, कषाय हमेशा नहीं रहती इससे जानना चाहिए कि कषाय तो धर्म नहीं है. किन्तु ज्ञान मेरा धर्म है। अब इस ज्ञान धर्म को जिन संत महंतों ने, जिन महापुरुषों ने, भगवन्तों ने बताया है कृतज्ञ होकर हम उनकी महिमा गाते हैं और वे हमारे पुराण पुरुष कहलाते हैं। इतना सम्बन्ध है पुराण पुरुषों से, पर धर्म के नाते से सम्बन्ध तो हमारा हमारे स्वभाव से है, यह बात जिन जीवों ने पा लिया उनका कल्याण हो गया।

(७१) एक चिद्ब्रह्म का तथ्य – यह शरण्य चित्स्वभाव ब्रह्म एक है, स्वभाव एक है। जगत में जितने भी जीव हैं सबकी अनुभूति जुदी-जुदी है। जिस सुख का एक व्यक्ति अनुभव करता है, उसे दूसरा नहीं करता। दुःख का, क्लेश का, समाधिका जो एक जीव अनुभव करता है वह दूसरा नहीं करता। सबका अनुभव जुदा-जुदा है, जीव जुदे-जुदे हैं, व्यक्ति जुदे जुदे है, फिर भी हम सभी जीवों के स्वभाव पर दृष्टि देंगे तो वह एक नजर आयगा। एक स्वभाव है केवल ज्ञानस्वभाव जाननहार रहना यही एकमात्र स्वभाव है। तो जब स्वभाव दृष्टि से निरखते हैं सब जीव एक विदित होते हैं। एक को देखने की बड़ी महिमा है। एक में विकल्प नहीं होते। किसी का एक पुत्र है, आराम से जीवन व्यतीत करता है। समझता है कि सारा धन इसका ही तो है। जहां दो पुत्र हुए वहां विचार विकल्प होने लगते कि अब दो अलग-अलग मकान हों। उन दोनो पुत्रों मे परस्पर मे कलह रहती है तो उसे निपटाना। मतलब यह है कि लोक में भी देखो, अपने आपकेभीतर में भी देखो एक रहेगा तो उस में अनाकुलता रहती है, जहां दो बातें आयी वहीं विवाद हो जाता है। और देखो–एक गणित शास्त्रकी बातको १को संख्या में ही नहीं गिना। संख्या दो से शुरू मानी जाती है। जिसमें परस्पर गुणा करने से कोई वृद्धि ही नहीं हो उसे गणना नहीं कही जाती है। यद्यपि १के बाद २ कहे जाते हैं, मगर संख्या १ नहीं मानी गई है। १ संख्याविहीन चीज होती है, वह है, एक है, जो है सो है, क्योंकि संख्या जहां होगी वहां दुविधा होगी। संख्यारहित बात में दुविधा नहीं होती। तो इस जीव ने सब कुछ जाना, किन्तु उस एक स्वभाव को नहीं जाना। उस एक स्वभाव की परख में कोई पक्ष नहीं, कोई आकुलता नहीं। वही धर्म है। उस ही धर्म के पालन में इस जीव का मोक्ष होगा, कल्याण होगा। धर्म कहां पालना है? स्वयं में स्वयं का निरखना, विश्राम पाना यही धर्मपालन है, पर इतना ज्ञान इतनी बात सबकी समझ में कैसे आ सकती? लोग तो केवल अपने पुराण पुरुषों के नाम पर धर्म के अलग-अलग रूप रेखा बना लेते हैं, चाहे बात सब में एक हो। जैसे दया अहिंसा, सत्य। प्रायः बहुत सी बातें एक समान हैं, तिसपर भी चूंकि यह हमारे पुरुषों ने कहा है, यह उनके पुरुषों ने कहा है इस तरह पुराण लोगों के नाम पर धर्म की धारणा जुदी जुदी हो गयी है। एक स्वरूप की दृष्टि से देखो तो धर्म एक स्वरूप है और इससे भी जब हम एक आन्तरिक स्वरूप को देखे तो वह जो एक स्वरूप है, वहां जब तक उसके प्रति एक का भी ध्यान रहता है तब तक भी उसमें कमी रहती है। उस एक को भी भूल जाय और जो स्वरूप जाना है उस ही में मग्न हो जाय तब एक धर्म का स्वाद आया समझिये। तो धर्म नाना नहीं है। धर्म एक रूप है। वह प्रत्येक आत्मा का धर्म है। जो अपने धर्म को संभाल लेगा उसका कल्याण हो जायगा। इसमें किसी पर ऐहसान की बात नहीं है, और न किसी का इसमें कोई अपने पर ऐहसान है। हां कृतज्ञता जरूर है कि पुराण पुरुषों ने यह बात समझाया और हमारी समझ में आ गया है, स्वभाव एक है जैसे जल भिन्न-भिन्न स्थितियों में हो, पर जब स्वभाव की दृष्टि से कहा जायगा तो यह कहा जायगा कि जल का शीत स्वभाव है। ऐसे ही जीव कितने ही हों, जब स्वभाव की दृष्टि से बोला जायगा तो यह ही कहा जायगा यह ज्ञानस्वरूप ही है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

(७२) अनेकों में एकत्व के दर्शन की विधि—अब देखिये—जो और मन्तव्य उत्पन्न हुए हैं सबका आधार यह ही बैठता है। हैं तो वे स्वभाव से एक लेकिन कुछ लोगों ने मान लिया व्यक्तिशः एक तो उनका हो गया अद्वैत वाद। जैसे सारा जगत एक ब्रह्मस्वरूप है। एक ब्रह्म क्या ? जैसे कोई आदमी, जैसे कोई एक पदार्थ, इसी तरह वह सब कुछ एक ब्रह्म है। बात यह सत्य है, पर स्वभावदृष्टि से सत्य है, अनुभूति की दृष्टि से सत्य नहीं। अनुभव तो सबमें जुदा-जुदा है। यदि सारा जगत एक ब्रह्म होता तो एक का परिणमन तो पूरे एक में होता है। अगर एक जीव सुखी होता तो सब जीव सुखी रहते, तब समझिये कि एक ब्रह्म है। एक दुःखी होता तो सब दुःखी होते। जब कहा जाय कि एक ब्रह्म है तो यह बात तथ्य की है लेकिन यह स्वभाव दृष्टि से परखी होने पर तथ्य है, अनुभूति दृष्टि से नहीं, व्यक्तित्व की दृष्टि से जुदे-जुदे हैं। कहने का भाव यह है कि हम अपने आपमें प्रकाशमान एक ज्ञानस्वरूप को देखें तो वहां कोई विवाद नहीं है। वहां न धर्म का झगड़ा रहता है न समुदाय का झगड़ा रहता है। मैं आत्मा जैसा मेरे में स्वरूप है, ज्ञानमात्र है उसको मैं देखूं उसमें ही मग्न होऊं, उसी का सहारा लूँ, इसी को कहते हैं समाधिभाव। जितना बन सके उतना झुकाव हो। जो जितना इस ओर झुके उसे उतना ही लाभ है, ऐसा स्वरूप जब नहीं जानते तो क्या दशा होती है ? नाना विकल्प होते हैं। यह घर मेरा, सम्पदा मेरी, मेरे परिजन, मित्रजन। लोग तारीफ करते हैं कि ईसा जी ने यह बताया कि दुश्मन से भी प्यार करो। लेकिन उनको यह नहीं समझाया किसी ने कि आत्मधर्म ने यह बताया है कि जगत में कोई दुश्मन ही नहीं है। प्यार करने की, विरोध करने की नौबत ही न आनी चाहिए। एक को माना कि यह शत्रु है तो इस से प्यार करो, यह सेवाभाव है, तो उससे उत्कृष्ट चीज यह है कि सब जीव भगवत्स्वरूप हैं। कोई जीव मेरा शत्रु नहीं, जो मैं हूं सो सब हैं, अगर कोई मेरे को पीटता भी है, गाली भी देता है, विरोध करता है तो वह नहीं करता, उसके साथ प्रकृति लगी है, उस प्रकृति का विकार है। कर्म का उदय है, वह प्रकृति की लीला है, वह अज्ञान का नाच है। यह जो सहज स्वरूप चैतन्य है यह तो निरपराध है. उस स्वरूप को देखना है। उसे शत्रु नहीं मानना है और कैसी विलक्षण आन्तरिक दृष्टि होती है कि कदाचित विरोधी का मुकाबला भी करना पड़े, उसका प्रतिकार भी करना पड़े तो प्रतिकार करते हुए भी, युद्ध करते हुए भी भीतर में यह बात रहती है कि यह तो भगवत्-स्वरूप है। इसका कोई अपराध नहीं है। जो जानने में आ गया वह कैसे मिट सकेगा ? वह तो ज्ञान में आ ही चुका है।

(७३) ज्ञानी का आन्तरिक समत्व—जिसने अपने एक स्वरूप को जाना उसके सब जीवों में समता बुद्धि हो जाती है। सर्व जीव समान है। यह मेरा है, यह गैर है, ऐसी बुद्धि उसके नहीं रहती। उसकी निगाह में गैर हैं तो सब गैर हैं, जो परिवार में पैदा हुए वे भी गैर हैं। जैसे अन्य कीड़ा, मकोड़ा, आदमी और पशु पक्षी हैं इसी तरह के ये भी मुझ से गैर ही हैं। और अगर मेरे हैं तो सब जीव मेरे हैं, क्योंकि मेरे स्वरूप के समान उनका स्वरूप है, और जगत के सब जीवों का स्वरूप मेरे ही स्वरूप के समान है। समताभाव बर्त जाता है। ऐसा पुरुष दुनिया में लोगों के द्वारा चाहे बेवकूफ, कर्महीन कहा जायगा, किसी भी शब्द से कहा जायगा, यों समझिये कि दुनिया की दृष्टि में वह पागल है, लेकिन इस ज्ञानी की दृष्टि में तो सभी पागल हैं। परवाह नही करता कि कौन किस तरह मुझे देखेगा। उसने तो जो अपने में देखा सो सब जीवों में देखा। इसके लिए सब जीव इसके ही समान हैं। नीतिकार भी कहते हैं कि "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः" जो सर्व प्राणियों में अपने स्वरूप की तरह निगाह डाले—ये भी मेरे ही समान हैं, उसे पंडित कहते हैं, विद्वान कहते हैं, ज्ञानी कहते हैं। जैसे गेहूं का बहुत बड़ा ढेर लगा है तो लोग यही तो कहते हैं कि इस गेहूं का क्या भाव है ? इस तरह थोड़े ही बोलते हैं कि इन गेहुवों का क्या भाव है ? गेहूं गेहूं सब समान होने के कारण उनमें सबकी एकत्व बुद्धि रहती है। यह गेहूं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अच्छा है। ऐसा कोई नहीं कहता कि ये सारे गेहूं अच्छे हैं। ढेर है मगर उसे एक ही कहा जा रहा है, क्योंकि सब गेहूंवों का स्वरूप समान है, पर वे सारे दाने क्या एक हैं ? जुदे-जुदे हैं। उनसे जुदे-जुदे अंकुर पैदा होंगे, उनका जुदा-जुदा विभाग बनता है। एक किलो गेहूं कोई ले गया, दो किलो कोई ले गया। तो अनेक होने पर भी चूंकि स्वरूप पूर्ण समान है अतएव एक कहलाते, इसी तरह जगत के सर्व जीव अनेक होने पर भी सब जीवों का स्वरूप एक समान है, इसलिए सब जीव एक कहलाते हैं। स्वरूपदृष्टि से ब्रह्म कहलाते हैं। ऐसे इस एक स्वरूप को कोई पहिचान ले तो बस वह धर्मात्मा है, वह ज्ञानी है, वह संसार के संकटों से पार हो जायगा। और जिसने इस एक को नहीं जाना वह संसार के विकल्पों में रुलता ही रहेगा। तो कर्तव्य यह है कि अपने आपके इस एक स्वरूप को समझ लें। मैं क्या हूं ? एक ज्ञानस्वरूप।

(७४) निज एक के जानने का महत्व—देखो भैया ! एक को जानने की कितनी बड़ी महिमा है। १ संख्या में कितना बड़ा महत्त्व है। १ संख्या में नहीं माना गया, पर १ संख्या का मूल है। १ का महत्त्व देखो कि १ ना लिखा हो और बिन्दियां धरते जायें तो वे कुछ गिनती में तो न आयेंगी। १ लिखा हो और बिन्दी धरेंगे तो उसकी कीमत १० गुनी हो जायगी, २ बिन्दियां धरेंगे तो उसकी कीमत १०० गुनी, ३ बिन्दी धरेंगे तो उसकी कीमत १००० गुनी होती चली जायगी। और अगर १ को मिटा दें और बिन्दियां कितनी ही धरते जायें, उनका कुछ भी महत्त्व नहीं है। इसी तरह धर्ममार्ग में भी यही बात है कि एक निज को ध्यान में रख लिया जाय फिर धार्मिक क्रियायें करें, भक्ति करें, स्वाध्याय करें, गुरूपासना करें, दुखियों की दया करें, दान करें, तपश्चरण करें, त्याग करें तो उन सबका महत्त्व बढ़ता जायगा और एक निज को ही न समझ पाया तो उन सब क्रियावों का महत्त्व उतना ही है जितना कि शून्य की कीमत। तो इस एक को जानने पर सब जान लिया और एक इस निज को न जानने पर कुछ नहीं समझा। तो यह मनुष्यभव बड़ी कठनाई से मिला है। इस भव में यहां वहां के बहकावे में आकर या अपनी मौलिक परम्परा को पद्धति का आग्रह बनाकर हम यदि बाहरी-बाहरी उपयोग में ही समय गुजार दें, धर्म के नाम पर भी तो हमने अपना जीवन खोया और एक अपने आपके ज्ञान बल से अपने आपके ही स्वरूप को समझ लें तो हम अपने जीवन को सफल समझें। क्यों न मैं स्वयं खुद अपने उस सही स्वरूप को जान सकूंगा। जानने वाला मैं हूं। जानने वाला यह मैं जानने के स्वरूप को न जान सकूं तो यह तो एक बडे अंधेर की बात होगी। दृष्टि लगा दी है बाहर की तरफ इसलिए लगता है कि हम न जान सकेंगे खुद को, मगर जो खुद ज्ञानस्वरूप है तब ही तो जान रहा है, अगर मेरे में ज्ञानस्वरूप न हो तो मैं कैसे जान सकूं ? भींत में ज्ञानस्वरूप नहीं है। यह तो किसी को जानती ही नहीं जो जानने वाला है वह खुद ज्ञानस्वरूप है तब ही वह जान सकता है। तो जब मैं ज्ञानस्वरूप हूं और मैं जानता रहता हूं तो बाहर की चीजों को तो मैं जान लूं और जो स्वयं निज ज्ञान स्वरूप पदार्थ है उसको न जान सकूं तो यह तो बड़े अंधेर की बात कही जायगी। मैं अपने ज्ञानस्वरूप को जान लूं यह तो है सरल बात और मैं बाहरी पदार्थों को जान लूं यह है कठिन बात। कैसे ? बाहरी चीजों को जानने के लिए इन्द्रियां चाहिए नाक, आंख, कान वगैरह। इन्द्रिय का व्यापार चाहिए। इन्द्रियां भी निर्दोष चाहिए और फिर उन इन्द्रियों के द्वारा जानने की मेरे को उत्सुकता चाहिये ? यों अनेक कठिनाइयां हैं तब हम बाहर की चीजें जान सकते हैं। लेकिन खुद के ज्ञान स्वरूप को जानने के लिए ये इन्द्रियां भी न चाहिए। इन्द्रियां हैं तो रहो, ये विश्राम से बैठी रहें, इनका व्यापार न चाहिए। खुद के ज्ञानस्वरूप को जानने के लिए कुछ भी चीज न चाहिए, किन्तु जो भटक गए बाहर में उसका विराम चाहिये। यह ज्ञान स्वयं अपने आपके ज्ञानब्रह्म को जान लेगा कि मैं क्या हूं ? ऐसे इस ज्ञानस्वरूप को जानने पर इस मनुष्यभव की सफलता कहलाती है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(७५) सर्वव्यापी एक चित्स्वरूप की उपलब्धि की क्षमता—जैसे मनुष्य की दृष्टि में मनुष्य मनुष्य सब एक हैं, एक तरह पैदा होते हैं, एक तरह मरते हैं, एक ही तरह से सुख दुःख पाते हैं, सबकी एक ही विधि है, ऐसे ही जब जीव की दृष्टि में देखें तो सब जीव एक समान हैं। सब ही ज्ञानस्वरूप हैं, सभी आनन्दमय हैं, सभी शान्तस्वरूप को रख रहे हैं, "किन्तु आशवश खोया ज्ञान" बाह्य पदार्थों में भ्रम बनाया, यह ही हितकरी है—मेरा सुखदायी है, ऐसा भ्रम बनाया, बाहर की तरफ उपयोग लगाया कि हम अपने से हट गए और अज्ञान दशा को प्राप्त हो गए। थोड़ा कुछ दृष्टि भीतर लगाना है, बाहर के विकल्प छोड़ना है, सब जीव एक समान हैं, सब इसको पा सकते हैं। जो इसको पा लेता है उसे कहते हैं ज्ञानी, उसे कहते हैं योगी, धर्मात्मा, भव्य। मुक्ति मार्ग में ले जाने वाला। एक भगवत्स्वरूप को प्रकट करने वाला, तो वह चीज सबके पास है। हमारे पास है। जैसे किसी लकड़हारे की साफे की गांठ में लाल बंधा हो और उसे पता न हो तो वह अपने को भिखारी ही समझता है। बंधा तो लाल है लाखों रुपये की कीमत का, मगर उसे उसका ज्ञान नहीं है तो वह तो भिखारी बन रहा है, इसी तरह हम आप सबके स्वरूप में यह चैतन्यप्रकाश है, यह अतुल वैभव है, यह सहज स्वरूप है, पर जब इसका पता नहीं रहता तो यह जीव भिखारी बना रहता है, मोही बना रहता है। ये बाल बच्चे ही मेरे हैं, ये ही मेरे सब कुछ हैं, यह इज्जत ही मेरे लिए सब कुछ है, बस यही फंसाव बना रहने से इस फंसाव के कारण भीतर में बिराजमान जो एक भगवानस्वरूप है उसे प्रकट नहीं कर पाता। इसके लिए अहंकार छोड़ने की आवश्यकता है। जो मैं नहीं हूं उसे "मैं" मत मानें। देह मैं नहीं हूं इस देह को मैं मत मानें। जब देह को माने कि यह मैं नहीं हूं तो ये रिश्ते भी खत्म हो गए, शत्रु मित्र के भाव भी खत्म हो गए। एक शुद्धचित्प्रकाश ध्यान में आया कि जिसके आश्रय से आत्मा का कल्याण होता है। यह ही चीज काम में आयगी, बाकी सारी चीजें ये कोई इस आत्मा की श्रद्धा नहीं बन सकती जैसे मानो राजस्थान में कोई पगड़ी रंगने वाला था। उससे कोई कहे कि भैया यह मेरी पगड़ी लाल रंग में रंग देना। ··· अच्छा साहब ··· यह हरे रंग में रंग देना.. अच्छा साहब यों रखा तो लेता था सबकी पगड़ी, पर अन्त में कहता था कि देखो चाहे लाल रंगाओ, चाहे हरी, चाहे पीली, पर रंग तो आसमानी ही उत्कृष्ट होता है। वह आसमानी रंग की पगड़ी अच्छी रंगता था इसलिए ऐसा कहता था। तो इसी तरह ज्ञानी पुरुष को चाहे जिस रंग में रंगों, मगर उसकी उत्कृष्टता यही होगी कि जो ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूप को समझ ले। तो अपने को समझना है, उसमें ही मग्न होना है, यही धर्म है और इससे नियम से कल्याण है।

(७६) परसंपर्क में ही बुराई की संभवता—सबके चित्त में यह इच्छा रहती है कि हम बुरे न रहें, हम अच्छे रहें। तो यहां विचार करना है आज कि कोई भी चीज बुरी कैसे बुरी होती है? और अच्छी कैसे बनती है? इतना तो निश्चित है कि कोई भी पदार्थ अकेला अपने आप स्वयं ही बुरा नहीं हो सकता। किसी की भी सत्ता खुद के विनाश के लिए नहीं हुआ करती। कोई भी पदार्थ हो, जीव हो पुद्गल हो, बाहर में भी कोई वस्तु हो, स्वयं अपने आप अकेला ही बुरा कोई नहीं बन सकता। बुरा जो कुछ भी बनता है, पहिले इसका अर्थ ही देखो कि बुरा बनने के मायने क्या कि अपने स्वभाव को छोड़कर किसी विकार में आना। जो मेरा सहज स्वरूप है, जो किसी वस्तु का सहज रूप है उससे चिगकर कोई विकृत रूप में आना इसको कहते हैं चीज का बुरा बन जाना। तो ऐसी बुराई कैसे आती है? किसी न किसी परवस्तु के सम्बन्ध से किसी भी परवस्तु का सम्बन्ध न हो तो अकेले किसी पदार्थ में कोई बुराई नहीं आ सकती। जैसे नाव बुरी कब होती है? जब नाव के अन्दर पानी का सम्बन्ध होता है। पानी का सम्पर्क बढ़ता है तो नाव बुरी हो जाती है और उस बुरी नाव का परिणाम क्या होता है कि उस नाव का सहारा करने वाले भी डूबते हैं और नाव भी डूबती है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो नाव अपने आप तो बुरी नहीं है, किन्तु नाव में जल का भण्डार होने से वह बुरी हो गयी। और भी जगत के पदार्थ जो सड़ जाते हैं या जो बच्चे बुरे बन जाते हैं तो खुद अपने आप अकेले रहकर कौन बुरा बनता है? दूसरों की बात देखता है, संग होता है, जब असर दूसरा हो जाता है तो बुरे बन जाते हैं तो बुरे बनने का कारण परका सम्बन्ध है। कोई दर्पण है, अपने आप अपने लिए स्वच्छ रहता है, वह बुरा नहीं बनता, लेकिन किसी परवस्तु का सम्बन्ध हो जाय, सामना हो जाय तो वह दर्पण मलिन हो जाता है। उसमें विकार आता है, फोटो आ जाती है। स्वच्छता नहीं रहती। तो दर्पण बुरा कैसे बना? पर के सम्बन्ध से जीव बुरा कैसे बनता? पर के सम्बन्ध से। हम आप जीव हैं, सत् हैं, चिदानन्द स्वरूप हैं। जब मैं हूं तो मेरा कोई न कोई तो निजस्वरूप है ही। जैसे भींत का स्वरूप, रूप, रस, गंध, स्पर्श, ढेला, पत्थर मूर्तिकता आदि है तो मैं भी हूं तो मेरा कोई स्वरूप होगा ही। वह स्वरूप क्या है? ज्ञानप्रकाश। तो मेरा स्वरूप है ज्ञानज्योति। वह अपने आप अकेला ही अपनी ही तरफ से अपनी ही सत्ता के कारण बुरी नहीं बन सकती। यो किसी परवस्तु का सम्बन्ध है तब बुरा बनता है यह आत्मा। वह पर क्या है? उसे कहते हैं कर्म अथवा प्रकृति। कर्म या प्रकृति का सम्पर्क होने से आत्मा में बुराई आयी है।

(७७) निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध अकाट्य होने पर भी परिणमन की स्वतन्त्रता—इस आत्म-मालिन्य के सम्बन्ध में एक एक बात करते सोचते जाइये। पहिली बात तो यह हुई कि यह जीव किसी अजीव के सम्पर्क से प्रकृति कहो, कर्म कहो, किसी विरुद्ध परतत्त्व के सम्बन्ध से मलिन हुआ है। एक बात यह परखिये। इसके साथ ही यह भी परख लीजिये कि मलिन होता है तो यह जीव अकेला ही मलिन होता है। कहीं दो जीव मिलकर मलिन नहीं होते। दूसरे के सम्बन्ध बिना मलिनता नहीं आती, और कभी दो पदार्थ मिलकर एक मलिनता नहीं बना करती। यह नियम सब जगह अकाट्य अबाध्य सिद्ध होगा। मैं जीव मलिन होता हुआ, कषायवान होता हुआ स्वच्छता का मेरे में विकार जगा है तो यह अकेले सत्त्व के ही कारण नहीं जगा किन्तु पर कर्म प्रकृति के सम्बन्ध में जगा है। इतना होने पर भी कर्मप्रकृति और यह मैं आत्मा दो मिलकर एक मलिनता का परिणमन नहीं कर सक रहा हूं, किन्तु निमित्त तो है प्रकृति का और मलिन बन रहा हूं मैं अकेला। जैसे दर्पण में विकार या मलिनता स्वच्छ दर्पण अकेला द्रव्य ही हो तो नहीं हो सकता। कोई परपदार्थ सामने आये, उपाधि लगी हो तो दर्पण में विकार होता है, स्वच्छता का विकार बनता है। इतना होने पर भी दर्पण में जो विकार बना, प्रतिबिम्ब बना सो दर्पण और बाहर की चीज दो मिलकर नहीं बना, किन्तु बाहर की चीज तो बाहर ही है। हाथ सामने किया तो हाथ तो हाथ में ही है और दर्पण दर्पण में ही है, पर हाथ का सन्निधान पाकर यह दर्पण प्रतिबिम्बित हुआ, विकृत हुआ, इसमें स्वच्छता की हानि हुई। तो ऐसे अपने आपको ये दो निर्णय बनाना है। मैं खराब हूं, मलिन हूं। आकुलित हूं, रागी द्वेषी मोही हूं, इस तरह की मेरी खराबी मेरे अपने आप के कारण नहीं हुई है। किसी परवस्तु का सम्पर्क है, सम्बन्ध है जिस योग से यह आत्मा मैं मलिन विकृत रागी द्वेषी होता हूं। होता हूं निमित्त के सन्निधान में मैं विकारी, तिसपर भी मैं विकारी अकेला ही बन रहा हूं। प्रकृति और जीव दो में मिलकर एक विकार नहीं हो रहा। प्रकृति का विकार प्रकृति में चल रहा, मेरा विकार मेरे में चल रहा, पर ऐसा योग है कि प्रकृति के सम्पर्क बिना मेरे में मलिनता नहीं जग सकती। ये दो बुराई के निर्णय बनते हैं।

(७८) बुराई के प्रकार अथवा आस्रव और बन्ध—अब उस बुराई के दो भेद देखिये कि वह बुराई आयी और गई। ठहरी नहीं, एक तो यह स्थिति होती है और एक बुराई आयी और बन्धकर रह गई, एक यह स्थिति होती है तो ये दोनों स्थितियां आयें और जायें, ठहरें नहीं और आकर ठहर जाय तो ये दोनों ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बुरी दशायें होती है। परके सम्पर्क से इतना निर्णय करने के बाद अब इस ओर दृष्टिपात कीजिए कि बुराई निकालने का तरीका क्या है? मेरे में बुराई आयी, राग हुआ, कल्पना जगी। यह कम आपत्ति न समझें कि मैं पुत्र या धन या घर या किसी मित्र को देखकर हर्षित होता हूं। अपनाता हूं, यह मेरा है, ऐसी कल्पनायें उठाता हूं, तो यह कल्पना तरंग उठाना इस आत्मदेव पर बड़ी आपत्ति है। पर इसे कौन विपत्ति माने? सब खुश हो रहे, सब राजी हो रहे और अनेक काम कर करके राजी हो रहे। कौन विपत्ति समझता कि मेरे में ये कल्पनायें जगना सो विपत्ति है। तो ये सब विकार कहलाते हैं, ये सब विपत्तियां कहलाती हैं। जिसको अपने आपके कल्याण की इच्छा जगी है वह यह चाहता है कि मेरे आत्मा पर किसी भी प्रकार का विकल्प तरंग न आये। मैं सम रहूं, स्थायी रहूं, स्वरसमय, शान्त रहूं, मेरे में कोई तरंग न उठे, ज्ञानी की यह भावना रहती है। फिर कोई कहे कि ऐसे सारे ज्ञानी ही जुड़ जायें तो फिर कैसे घर चले, कैसे देश चले? प्रथम बात तो यह है कि क्या हर्ज है। अगर संसार के सब जीव ऐसे सब ज्ञानी हो जायें और वे सब शान्त हो जायें, संकटों से मुक्त हो जायें, और संसार खाली हो जाय, शून्य हो जाय तो इसमें आपको क्या आपत्ति आती है? किन्तु ऐसा नहीं होता है, होने का भी नहीं है, घबड़ाहट क्यों लायी जाय कि सब जीव ज्ञानी बन जायें तो फिर क्या होगा? अरे संसार को स्थिर रखने का तुमने ठेका लिया है क्या? न रहे संसार, न रहे संकट, न रहे कुछ तो मत रहो। क्या बिगाड़ है, लेकिन बात यह है कि ऐसा कभी होता नहीं, न हो सकेगा। अनन्त अज्ञानी भ्रमी जीव यहां रहे ही जायेंगे। उनमें से कोई भी जिसका भवितव्य अच्छा है, ज्ञान और वैराग्य मिलता है, वह यहां से मुक्त हो जाता है। जैसे कोई चना भूनने वाला कारीगर भूनते समय क्या यह शंका करता है कि आज अगर सारे चने उचट जायेंगे तो क्या करेंगे? व्यर्थ क्यों परिश्रम करें? वह जानता है कि ऐसा नहीं होता है कि सारे चने उचटकर बाहर आ जायें। कोई विरला ही उचटता है। दूसरी बात देखिये—ज्ञानी और स्वरूप के ज्ञाता होने से सहज विरक्त हुआ पुरुष जब तक गृहस्थी में रहता है तब तक उसके ये बाहरी विकार तरंग चलते रहते हैं और उसे सुध है कि ये विकार चल रहे हैं, उन्हें जानता है और भीतर समझता है यह कि मेरा स्वरूप विकार से दूर है। तो विकार हुआ परके सम्बन्ध से। एक में कोई विपदा नहीं, एक में कोई विकार नहीं, एक का कोई बिगाड़ नहीं, जहां द्वितीय का सम्बन्ध हुआ वहां वह दूसरा भी बिगड़ा और यह पहिला भी बिगड़ा। इसलिए ज्ञानी सन्तों ने एक का, अद्वैत का, निरपेक्षका, स्वतन्त्र का बहुत महत्त्व वर्णित किया है तो द्वितीय के संपर्क से बुराई होती है।

(७९) भलाई के आधार अथवा संवर और निर्जरा—अब भलाई की बात देखो। पहिले भलाई की बात समझो कि भलाई के मायने क्या? मैं केवल अपने आप अपने ही सत्त्व मात्र रहूं। कोई पर का सम्बन्ध न हो, परभाव न हो। खालिस केवल एक अकेला ही मैं सत् रह जाऊं यही है इसकी स्वच्छता, उत्कृष्टता, निर्मलता। तो ऐसा होने के लिए क्या करना पड़ेगा? पहिले तो यह करना होगा कि परके सम्पर्क जो होते रहते हैं, जिनसे मैं बुरा बनता रहता हूं। तो परका सम्पर्क रोक दें, आगे तो मैं बुरा न बनूं। भविष्य के लिए बुराई तो न रहे। तो पहिले परका सम्पर्क रोक दें, और जो सम्पर्क रहा है पहिले से उसका धीरे-धीरे विनाश करें। किसी भी चीज को निर्मल और स्वच्छ बनाने के लिए ये ही दो तरीके किये जाते हैं। जैसे नाव में पानी आ गया, बुरी बन गई, नाव डूबने वाली है, पर उसके बचने का उपाय क्या कोई हो सकता? हां हो सकता। पहिले तो यह काम करना चाहिए कि जिस छेद से पानी आता था उसे बन्द कर दें, नया पानी वहां न आ सके। और दूसरा उपाय यह करना होता कि जो पानी पहिले से आ गया है उसको दूर कर दें। बस नांव का उद्धार हो जायगा। उस पर बैठने वाले लोग सकुशल पार हो जायेंगे। तो इसी तरह आत्मा में जो मलिनतायें आयी हैं, रागद्वेष, क्रोधादिक विकार आये हैं, तो पहिला काम यह है कि नये विकार न आने दें नये कर्म न बंधने दें।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उनको रोक करें ? अशुभभावों की रोक करें और दूसरा काम यह करना है कि जो पहिले का संस्कार बसा है, जो पहिले से कर्म बंधे हैं, सत्ता में हैं, उस संस्कार को, उस सत्त्व को दूर करें। जिस समय यह परका सम्पर्क पूरा दूर हो जायगा उसी समय अपनी निर्मलता हो जायगी।

(८०) भलाई के प्रसंग में सप्त तत्त्वों का दर्शन—परसम्पर्क बुराई भलाई के प्रकार आदि इन्हीं तत्त्वों को बताया है—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। मैं जीव हूं, मेरे में वर्तमान में बुराई चल रही है, क्योंकि दुःखी हो रहे ना, पीड़ित भी होते, कष्ट भी मानते। कल्पनायें भी करते। तो मैं मलिन हूं। दुःखी हूं। विकृत हूं, तो इसका कारण जरूर है कि मेरे साथ कोई अजीव लगा है। विपरीत का संग बुरा ही करता है। अनुकूल सजातीयका संग बुराई नहीं करता। मैं बुरा बन रहा हूं तो उससे यह साबित है कि मेरे साथ मेरे से विपरीत स्वभाव वाला कोई पदार्थ लगा है, उसे ही कहते हैं प्रकृति और कर्म। तो इसी को कहेंगे अजीव। जीव के साथ अजीव लगा है तो जीवकी कुशल नहीं है। बरबाद हो रहा, जन्म मरण कर रहा, कषायवान हो रहा। तो जब जीव के साथ अजीव है तो जीव में अजीव आये, अजीव का प्रभाव आये, इसी का नाम है आस्रव। आया है वह। आस्रव आने को कहते हैं, लेकिन आने में और आस्रव में फर्क है। आना तो कहलाता है किसी बाहरी देश से, बाहरी विधि से स्वतन्त्र सा होता हुआ किसी जगह आ जाय उसे कहते हैं आना और आस्रव कहते हैं चूकर आने को जैसे ताजे सकोरे में, घड़े में पानी भरें तो वह ऊपर तक आ जाता है अगर छटांक दो छटांक पानी से धोवेंगे तो उतने पानी के सब छींटे सूख जायेंगे। उसका आना हुआ चूकर। तो मेरे में जो दूसरा पदार्थ आता है और दूसरे पदार्थ के सम्बन्ध से जो विकार आते हैं सो कहीं बाहरी देश से दौड़ दौड़कर नहीं आते किन्तु मेरे में ही मेरे समस्त प्रदेशों में ही चू कर आते हैं। वहां यह न विदित होगा कि लो यहां से आया है। सारी बात यहीं हो रही है, तो ऐसा चू कर आने का नाम है आस्रव। तो मेरे में अजीव का सम्बन्ध है अतएव बुराईयों का आना हो रहा है और वे बुराइयां बंध रही हैं, इसे कहते हैं बंध। उनका संस्कार बांधे हैं, धारणा बनाये हैं वहां बंध है और वे प्रकृति कर्म भी बहुत दिनों से यहीं पड़े हैं। यह है बंध। यह तो है हमारी बुरी दशा। देखो एक धर्म की बात कही जा रही है। हमारा धर्म क्या है, जिस धर्म का हम पालन करें तो हमारे संकट दूर हो जायें। यह बाहर की बात नहीं कही जा रही है। जो देख लेगा, निरख लेगा, समझ लेगा, उसका बेड़ा पार हो जायगा। इसमें कोई शास्त्र में कही इसलिए यह बात है या किसी पुरुष ने कही इसलिए यह बात है, ऐसा नहीं, किन्तु ऐसा हो रहा है वह बात संतों ने बताया है। तो मेरे में कषायका आस्रव, कषायका बंध है तो इससे हटने का उपाय क्या है ? उपाय है यह कि पहिले आस्रव को रोकें, ऐसा ज्ञानबल बनायें, ऐसा भेद विज्ञान बनायें, मैं तो एक ज्ञानमात्र हूं, स्वच्छतामात्र हूं। मेरे में स्वयं में कोई अपराध नहीं होता। मैं तो स्वच्छ स्वभावरूप ही हूं, पर ये विकार आये हैं, ये सम्बन्ध से आये हैं, प्रकृति के संपर्क से आये हैं, ये मैं नहीं हूं। देखो जिसके यह बुद्धि जग जाती है कि कषाय मैं नहीं हूं। कषायें प्रकृति की विकार हैं, ये कषायें मलिनभाव हैं, ऐसा जो जानते हैं वे उन कषायों को अपनाते नहीं हैं। नहीं तो ऐसे ऐसे मोही जीव पड़े हैं कि कोई किसी से लड़ रहा है और लड़ते लड़ते कोई बचाव करे या कुछ बात बने और उसमें वह सोचता है कि मेरे क्रोध कम हो रहा है। तो वह कोशिश करता है कि उस क्रोध को और उभाड़ने का, क्योंकि वह जानता है कि मेरे में तीव्र क्रोध जब तक न जगेगा तब तक मार न सकेंगे तो अज्ञानी जीव तो कषाय में लगाव रखते हैं और कषायों को बढ़ावा देते हैं। लेकिन ज्ञानी पुरुष जिन्होंने इन कषायों से भिन्न अपने ज्ञान स्वरूप को देखा है वे ज्ञान की भावना बनाते हैं, कषायों से उपेक्षा करते हैं, कषायों से विमुख होते हैं, तो ऐसी निर्मल परिणति में आगामी विकार न आयेंगे, आगे के कर्म न आयेंगे, और जो पहिले से आये हुए कर्म हैं वे भी दूर किसके द्वारा किये जायेंगे ? इस ही ज्ञानबल के द्वारा। इसे कहते हैं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

संवर और निर्जरा। जब विकार न आयें और पहिले के विकार सब हट जायें तो इस जीव का हो जाता है http://www.jainkosh.org मोक्ष याने स्वयं अकेला रह जाय, सर्व परभावों से, पर सम्बन्ध से छुटकारा हो गया। यह काम करना है हम आप सबको। अगर अपनी भलाई चाहिये तो सबको यही पद्धति अपनानी होगी। मेरे अन्दर बुराई न रहे, बुराई सब मिट जाय और मैं केवल, स्वतन्त्र, स्वच्छ, अकेला, शुद्ध बनजाऊं। इसके लिए ७ तत्त्वों की बात कही गई है कि हम ७ तत्त्वों का सही श्रद्धान बनावें। मैं जीव हूं। प्रकृति अजीव है। मुझ में प्रकृति का सम्पर्क आ रहा है, यह बुराई की चीज है, यह प्रकृति बंध जाती है यह भी बुराई है। यह प्रकृति रुकें। यह रूकेगी भेदविज्ञान से। यह है कल्याण का उपाय और ऐसे आगामी प्रकृतियों को रोकें कि जिस पौरुष में पहिले की बंधी हुई प्रकृति भी दूर हो जांय। तो जब यह जीव केवल अकेला रह जाता है, प्रकृति के संपर्क से हट जाता है तो इसे कहते हैं मोक्ष और ऐसा जो ज्ञानस्वरूप है उसे कहते हैं परमात्मा।

(८१) परमात्मस्वरूप के ध्यान की धुरा—परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करने से हमें अपने अन्तः बसे हुए परमात्मस्वरूप की सुध हो जाती है, परमात्मा तो आदर्श है, उसका ध्यान करें और अपनी सिद्धि प्राप्त करें। परमात्मा अपनी जगह छोड़कर, अपना आनन्द तज कर विकल्प में आने वाला नहीं होता। वह निर्विकल्प है, अपने ज्ञानानन्द स्वरूपमें लीन रहा करताहै। वह आदर्श है मेरे लिए जिसको जो कुछ बनाना चाहिए वह बनता ही है उस उपाय से। आदर्श की श्रद्धा करो, आदर्श बनने की विधि का ज्ञान करो और उस पर चलने लगो। जैसे कोई संगीत सीखना चाहता है तो संगीतमें जो आदर्श हो, जो एक बहुत बड़ा सुन रखा हो संगीतज्ञ उसका लक्ष्य रहता है बच्चों को कि मुझे ऐसा बनना है। वह संगीत सीखने की विधि का ज्ञान करता है और उसका प्रयोग करता है। तो जो आदर्श है वह तो संगीत का देव है और जो कापी हैं, पुस्तकें है, सीखने की विधियां हैं वे हैं संगीत के शास्त्र और जो गांव में मिल जाय, ऐसा कोई सिखाने वाला गुरू हो तो वह है संगीत का गुरू, इसी तरह परमात्मस्वरूप अगर बनना है, सदा के लिए संकटों से मुक्त होना है या यों कहो कि परमात्म-स्वरूप में मग्न होता है तो परमात्मस्वरूप का आदर्श चित्त में रखें, ऐसा होता है और ऐसा होने की विधि जहां वर्णित हो उन शास्त्रों का अध्यन करें और गांव में, आसपास में जो ऐसे गुरुजन मिलें, जो इस धुन में रहते हों, इस प्रयोग में रहते हों कि मेरी मलिनता दूर हो। निर्मल स्वरूप प्रकट हो, उन गुरुवों का संग करें, उपासना करें, सीखें तो इस विधि से हमारी मलिनतायें दूर हो जायेंगी और हम निर्मल स्वच्छ हो जायेंगे। स्वच्छता में आनन्द है और मलिनता में क्लेश है। हमें इस मलिनता के साधनों से हटकर अच्छे बनने के साधनों में लगना चाहिए।

(८२) जीव की अनादिकालीन दशा एवं उस दशा के क्लेश—जीव की सबसे जघन्य अवस्था क्या होती है और सबसे उत्कृष्ट अवस्था क्या होती है और उसके बीच में क्या अवस्थायें बनती हैं, इस ही विषय पर आज कुछ विचार करना है। वैसे आंखों देखें तो कोई यह पता पायगा कि पशुपक्षी कीड़ा मकोड़ा पेड़ पौधे, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु में भी जिसने जीव समझ रखा हो, वह बता देगा कि यह अवस्था जीव की जघन्य है, किन्तु इससे भी और गई बीती अवस्था एक और है जिसका प्रायः लोगों को कम परिचय है। वह अवस्था है वनस्पतिकाय का ही एक भेद जिसे कहते हैं साधारण वनस्पतिकाय, जिसका दूसरा नाम है निगोद। सबसे जघन्य बुरी अवस्था जीव की निगोद है। इस बात को इस ढंग से सुनें कि यह अवस्था हमारी थी और किस किस तरह से क्रमिक बढ़ बढ़कर जीव कैसी उत्कृष्ट अवस्था में पहुंच लेता है? इसमें कोई सन्देह की बात नहीं कि जितने भी जीव हैं वे सब नियम से पहिले निगोद थे। निगोद के शरीर दिखते नहीं है जैसे कुछ निगोद तो रहते हैं निराधार आकाशभर में, लोकाकाश भर में फैले हुये हैं, किसके सहारे? याने कोई त्रसकाय नहीं, हरी नहीं, कीड़ा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मकोड़े का शरीर नहीं, किन्तु इन सारे शरीरों के आश्रय के बिना भी दुनियाभर में फैले हुये हैं। इसे कहते हैं सूक्ष्म निगोद जीव, जिसको किसी पशु, पक्षी, मनुष्य, फल, फूल आदिक किसी के भी आधार की आवश्यकता नहीं रहती। अब दूसरा निगोद सुनो—वह होता है हरी वनस्पतिकाय के आधार में। ये जो दिखने वाले वनस्पति हैं आलू आदिक, जिसे लोग साधारण कहकर अभक्ष्य कहते हैं, ये दिखने वाले आलू वगैरह निगोद के शरीर नहीं हैं, ये तो सब प्रत्येक वनस्पति हैं और सही दिखता है—वे सब प्रत्येक बनस्पति हैं, साधारण नहीं हैं, लेकिन आलू आदिक प्रत्येक वनस्पति में साधारण वनस्पति रहती तो इस कारण उन्हें अभक्ष्य कहा है। तो आलू आदिक फलों में भी, जो और साधारण वनस्पति के शरीर हैं उनके एक शरीर के आधार में अनन्त निगोद जीव रहते हैं, देखो कितनी बड़ी परतन्त्रता है, एक शरीर है और अनन्त निगोद शरीर उसके सहारे जन्में, मरें तो बतलावो यह कितनी दयनीय स्थिति की बात है ? किन्हीं दो मनुष्यों को अगर किसी एक शरीर के आधीन बनाया जाय तो क्या पसन्द करेंगे ? न पसन्द करेंगे, लेकिन उन अनन्त निगोदियों को एक शरीर के आश्रय अपना जन्म मरण सब कुछ भोगना पड़ता है। जहां एक श्वांस में १८ बार जन्ममरण करना पड़ता है—वह श्वांस भी कौन ? मुख की श्वांस नहीं, नाड़ी के एक बार उचकने में जितना समय लगता है वह वह श्वांस, जिसका गणित बैठेगा एक सेकेण्ड में २३ बार जन्म मरण करना पड़ता है। ऐसे जन्म मरण के संकट अनन्त काल तक सहे। यह हम आप सबकी शुरू की कहानी है।

(८३) **एकेन्द्रिय पर्यायों के क्लेश**—हम आप आज मनुष्य हैं, अनेक विचार कर सकते हैं, पर जहां सब प्रकार से समर्थ हैं, इन्द्रियां भी पुष्ट हैं, सब आराम के साधन हैं, जहाँ बड़े साहित्यिक ढंग के वचन व्यवहार हैं तो वहां कौन इसकी सुध ले ? हम पहिले निगोद में थे। यह सभी जीवों की कहानी है। जितने जीव मुक्त हो चुके हैं वे भी कभी नियम से निगोद थे। अब ऐसी निगोद राशि से हम आप कुछ उद्धार को प्राप्त हुए हैं तो क्या कारण बतायें कि कैसे निकले ? अब निकल आये, उसकी तो चर्चा ही क्या करना है ? वहां से निकले तो जरा थोड़ा थोड़ा उत्कृष्ट स्थितियों की चर्चा करलें। उस निगोद राशि से निकले तो प्रत्येक बनस्पति के जीव हुए। जैसे आलू आदिक हैं, ये ही जीव हुए। इससे और बढ़े तो यों समझलो कि साधारण बनस्पति रहित प्रत्येक बनस्पति हुए, जैसे लोकी आदिक, पृथ्वी हुए, जल हुए, अग्नि हुए, वायु हुए, ऐसी भी अगर पर्याय पायी तो इसमें कौन सी बड़ी महिमा की बात हुई ? कितना कष्ट है ? पृथ्वी को चाहे काटे, खोदे, लोग मिट्टी निकालते हैं। पृथ्वी की कितनी हिंसा होती है। कैसा प्राण घात होता है, उसकी कौन दया करता है ? जल को बिखेरना, गर्म करना, रोकना आदिक अनेक प्रकार की क्रियायें होती हैं, उनको कौन बचाता है ? अग्नि पर राख डालना, पानी डालना, बुझाना, आदिक ये सब प्रयोग किये जाते हैं। इस अग्नि-काय के दुःख को कौन बचाता है। बनस्पतिकाय के जीव फल पत्ते आदिक तोड़ना ये सब बातें चलती हैं। तो ऐसे ऐसे हम आपने दुःख भोगे। आज उनकी खबर नहीं आ रही। उनकी तो खबर आये ? जब गर्भ में थे तो कितने दुःख सहन कर रहे थे—मां के पेट के अन्दर उल्टे औंधे पड़े थे, जहां पर कि श्वांस लेने तक का भी स्थान न था, जहां मां की श्वांस और आहार के साथ ही साथ उसका भी सम्बन्ध था वहां क्या कम दुःख थे। ये दुःख हम सभी ने सहे, पर इन दुःखों की क्या किसी को याद है ? जब एक इस ही भव की बात याद नहीं तो फिर अन्य भवों की तो बात ही क्या कही जाय ? हां कोई ५-७ वर्ष की उम्र से लेकर अब तक की बात याद हो सकती है। देखो, रहे सभी लोग गर्भ में, निकले सभी लोग उस गर्भ के अन्दर से, पर वहां के दुःखों का किसी को पता नहीं है। जब एक इस ही भव की बात की याद नहीं तो फिर अन्य भव की बात क्या कही जाय, पर युक्ति, अनुभव, शास्त्र, आगम ये सब यही बताते हैं कि ऐसे दुःख पाये हैं, हम दुःख की चर्चा इसलिए कर रहे हैं कि यह समझ में आये कि देखो हमने आज ऐसा बड़ा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दुर्लभ मानव जीवन पाया तो इसे विषय कषायों में रमकर न खोयें, मोह ममता में न पड़े। दूसरे पदार्थों की प्रीती में पड़कर इस जीवन को न गवायें किन्तु अपने स्वभाव परमात्मा की सुध लें, जिस के परिणाम में हम संसार संकटों से पार हो जायेंगे।

(८४) त्रस पर्याय के क्लेश—हम सब हुए हैं एकेन्द्रिय जीव, वहां से निकले। तो क्रम-क्रम से वर्णन कर रहे हैं, ऐसा कोई नियम नहीं कि एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय हो, फिर तीन इन्द्रिय हो, कोई पञ्चेन्द्रिय भी हो सकता है, मगर क्रम क्रम से वर्णन यों कर रहे कि यह पता हो जाय कि उससे दुर्लभ यह, उससे दुर्लभ यह, ऐसी दुर्लभ दुर्लभ कितनी पर्यायें हैं जिनको बिता बिताकर ऐसा दुर्लभ मानव जीवन पाया। एकेन्द्रिय से निकला तो जीव दोइन्द्रिया हुआ। दो इन्द्रिय में भी उस जीव को क्या मिला ? केचुवा, जोक, शंख आदिक को देख लो—चावल में सफेद लट हो जाते है वे दोइन्द्रिय ही तो हैं, उन्हें क्या मिलता है ? एकेन्द्रिय याने स्पर्शनइन्द्रिय द्वारा कुछ बोध चलता था, अब जिह्वा द्वारा भी बोध चलने लगा, रस का परिचय हो गया, मिट्टी खाते हैं, चावल की भुसी खाते, पर उन्हें क्या स्वाद आया ? यहां तो आप लोग हलुवा पूड़ी से कम का स्वाद लेना ही नहीं चाहते, पर वहां दोइन्द्रिय में किस तरह का जीवन बितायें, वह दोइन्द्रिय की बात है। खा रहे हैं, आहार संज्ञा है, उसका कुछ विकल्प भी नहीं कर पाते, ऐसी बुरी स्थिति है दोइन्द्रिय की। वहां से यह जीव निकला तो तीनइन्द्रिय हुआ। तीनइन्द्रिय जीव कौन हैं ? ये चींटा चींटी आदिक तीनइन्द्रिय जीव कहलाते है। तो इनका क्या विकास हो गया ? एक नासिका इन्द्रिय द्वारा ज्ञान करने का और विकास हो गया। वे सूंघ लेते हैं, जहां शक्कर रखी हो वहा सूंघने के सहारे पहुंच जाते हैं। तो कौन सी बड़ी विभूति मिली ? एक गन्ध का ज्ञान और हो गया तो उसका क्या सदुपयोग ? तीनइन्द्रिय से बढ़े तो चारइन्द्रिय हुए। मच्छर, ततैया, भंवरा, मक्खी आदिक चारइन्द्रिय जीव कहलाते हैं। इनको और क्या मिल गया ? आंख से देख लेते हैं. कोई अगर हाथ मारे तो वे उड़कर भाग लेते हैं, इतनी भर सुविधा मिली आंखों के हो जाने से। तो यह भी बहुत बड़ी बात है। आखों का कितना महत्त्व है, तो मनुष्य जानते हैं कि जब आखों से नहीं दिखता है तो उनकी क्या दशा होती है ? वे तो यही कह बैठते हैं कि अगर आंखें नहीं हैं तो कुछ भी नहीं है। न रहें आंखें, न रहें कान, बहिरे हो जायें और भीतर में भेदविज्ञान की बात और आत्मस्वभाव के जानने की बात अगर बनती है तो भले ही रहें अन्धे, भले ही रहें बहिरे, मगर वहां टोटा कुछ नहीं पड़ता, बल्कि आंखों से देखते हैं सुन्दर रूप, तो इससे तो और संक्लेश होता है। तब ही तो देखो प्रकृति ने आखों को दो ढक्कन दिये हैं। और इन्द्रियों का तो ढक्कन नहीं है। अगर कहीं नाक में दुर्गन्ध जाने लगे तो उसे कैसे बचा सकें ? हां हाथ से दबा लेते हैं, मगर नाक को स्वयं ढक्कन नहीं मिला, मगर आंखों को तो ढक्कन मिला है। आंखों को बन्द करके बैठ जावो, मुझे नहीं देखना है कुछ, इतनी सुविधा मिली है, मगर ये विषय कषायों के लोभी प्राणी इस सुविधा का कहां उपयोग करते हैं ? तो चार—इन्द्रिय जीवों को आंखें मिली हैं। आंखों के द्वारा उन्होंने कुछ देख लिया, इतना भर काम कर लेंगे, इससे अधिक वे क्या करें। मन नहीं मिला तो उन सब जीवों की तरह रहेंगे, कुछ विवेक न कर सकेंगे। कुछ आगे बढ़े तो असंज्ञी षञ्चेन्द्रिय हुए। मानो पशु पक्षी हो गए तो इसमें कौन सा बड़ा उत्थान का काम कर लेते हैं ? नारकी हो गए, देव हो गए तो कौन बड़े उल्झन का काम कर लिया ? इन सब से भी दुर्लभ जीवन है तो हमारा मनुष्यभव का है।

(८५) मनुष्यभव की व योग्य साधनों की दुर्लभता—भैया ! लगता है ऐसा कि मनुष्य भव में बड़ा कष्ट है, कभी भी मर जाते हैं, वियोग हो जाता है। छोटी-छोटी उम्र के बच्चे मर जाते, दादा, बाबा आदिक मर जाते, वियोग हो जाता तो यह बड़ा कष्ट है। अरे भाई जहां मर जाते हैं, जहां वियोग हो जाता है, जहां इतना कष्ट है, उद्धार वहीं से हो सकता है, जहां कोई नहीं मरता याने वियोग नहीं होता, एक साथ मरते हैं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भोग भूमि में अथवा देवों में कोई देवी गुजरी तो थोड़ी देर में दूसरी देवी हाजिर। कोई देव गुजरा तो थोड़ी देर में दूसरा देव हाजिर। वहां वियोग कहां भोगना पड़ता ? इसलिए वहां से मुक्ति नहीं है। मुक्ति वहां से है जहां वियोग होता रहता है। आज हम आपने मनुष्यभव पाया है तो यहां कुछ विवेक और बढ़ाकर चलना चाहिए। विषय कषायों में तो सारा जीवन खोया, ऐसी संगति बनायें ऐसी स्वाध्याय की परम्परा चलायें, ऐसी तत्त्वज्ञान की गोष्ठी बनायें कि बराबर ऐसी प्रेरणा मिलती रहे और विषय कषायों से दूर होते रहें, यह रहा सहा थोड़ा सा जो जीवन है वह इस ढंग से गुजरे तो यही एकमात्र असली बात है। बाकी तो सब बेकार बात है। तो हमने ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव पाया और उसमें भी अगर हम लब्ध अपर्याप्त मनुष्य होते तो वह तो निगोद जैसी बेकार स्थिति थी। वह नहीं हुए। मानो खोटी जाति में, खोटे क्षेत्र में, खोटे धर्मशासन में पैदा हो गए होते तब भी हमारा क्या उठता ? तो इतनी बातें जो आज हम आपको मिली हैं अच्छी जाति, अच्छा कुल, अच्छा धर्म का वातावरण अच्छी संगति, इन्द्रियां भी पुष्ट, आयु भी पर्याप्त, तो यह हम आपका एक बहुत बड़ा उत्थान है। मान लो कदाचित् आज तक जीवित न रहते, गर्भ में ही मर गए होते तो क्या ऐसा हो नहीं सकता था ? पर आज तक जीवित हैं तो समझो कि यह देखने के लिए जीवित हैं कि कैसे मेरी धर्म आराधना बने और कैसे मैं मुक्ति में अपने को ले जाऊं। ऐसा दुर्लभ मानव जीवन पाया तो इसमें हम आपका कर्तव्य क्या है ? वह कर्तव्य होना चाहिए जो दुर्लभ हो। इसे कहते हैं बोधिदुर्लभ।

(८६) **मिथ्यात्वविनाश की दुर्लभता**—अहा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का लाभ बने तो यह हमारी उत्कृष्टता है। सम्यग्दर्शन क्या ? जानने के लिए तो अनेक कथन है, लेकिन सीधी सादी बात थोड़ी सी जान लें सम्यक्त्व के लिए। आखिर मेढक, गाय भैंस, बैल आदि भी सम्यग्दृष्टि हो सकते, तो वे कहां व्याकरण पढ़ें ? कहां बहुत बहुत बातें समझें ? वे तो ७ तत्त्वों के नाम भी नहीं बोल सकते, फिर भी सम्यक्त्व होता। तो सम्यक्त्व उत्पन्न करने के लिए यद्यपि बहुत से ज्ञान की आवश्यकता नहीं, फिर भी पशुपक्षियों की अपेक्षा से कुछ विशेषता की आवश्यकता है। हम अपना पहिले ऐसा व्यवहारिक जीवन बनायें, किसी पर अन्याय न करें, अभक्ष्य पदार्थ न खायें, कभी कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु की उपासना न करें, अपने को एक सुरक्षित बनायें और अन्दर में क्या देखें ? उससे पहिले हम क्या चिन्तन करें कि सुदेव क्या, सद्शास्त्र क्या और सद्गुरु क्या ? तो जो आत्मा रागद्वेष रहित जन्म, मरण रहित हो गया है उस आत्मा को कहते हैं देव। देव के मायने आदर्श। मुझे क्या बनना चाहिए ? ऐसा आदर्श जो चित्त में आये उसे कहते हैं देव। ऐसा विशुद्ध आत्मतत्त्व। देखो जो चीज है वह चीज अकेली रह सकती है। जैसे चौकी पर कूड़ा जम गया हो तो यह कूड़ा अलग हो जाय और चौकी खालिस रह जाय, यह बात सम्भव है ना ? तो जब मेरी सत्ता है, मैं स्वयं कुछ हूं तो मेरे पर जो कूड़ा जमा है, पर संपर्क लगा है, यह परसम्पर्क हट जाय और मैं केवल आत्मा ही रह जाऊं, यह बात तो सम्भव है ना, ऐसी स्थिति कभी हो तो उसे कहते हैं देव। उसका विश्वास हो कि मुझे तो यह बनना है और ज्ञान और आनन्द की स्वच्छता यहां ही है, अन्य किसी भी पद में, सांसारिक स्थितियों में कोई सार नहीं है। इस ही बात को बताने वाले शास्त्र सत्शास्त्र कहलाते हैं और इस ही विधि पर चलने वाले जन सद्गुरु कहलाते हैं उनकी सेवा उपासना हो और अपने आपमें क्या विचार हो ? सो भी सुनिये।

(८७) **अन्तः ज्ञानज्योतिविकास की दुर्लभता**—देखो यह तो सभी जानते हैं कि यह देह सदा साथ न देगी। इस देह को छोड़कर जाना होगा। तो यह मान लीजिये कि देह जुदी चीज है और मैं जुदी चीज हूं। यदि देह और मैं एक होता तो यह देह मुझसे कभी अलग न हो सकता था। ये भिन्न-भिन्न चीजें हैं, जरा सी बात देखकर ही समझ सकते हैं कि मैं इस देह से निराला हूं। अब आगे और देखो कि जो मेरे में क्रोध, मान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आदिक कषायें जगती हैं तो इन भावों के समय में मैं कितना हैरान हो जाता हूं और कुछ समय बाद ये कषायें रहती भी नहीं हैं। तो जिन भावों से हैरानी हुई, जो भाव रहे नहीं, उन भावों को मत समझें कि ये मेरे हैं जो चीज विनाशीक है, वह मेरी नहीं, वह तो किसी की छाया है। मैं तो हूं उस शुद्ध परमात्मा की तरह स्वभाव वाला। इतनी बात समझ में आये बिना सम्यक्त्व हो गया हो तो उनको यह स्वभाव तो समझ में आ ही गया था तब सम्यक्त्व हुआ, पर इतनी चर्चा करते नहीं थे, वह तो एक दृष्टि की बात है। उनकी दृष्टि में आत्मस्वभाव आया और उसमें ही उन्हें अहंका अनुभव हुआ तब उन्हें सम्यग्दर्शन हुआ। सम्यग्दर्शन की विधि तिर्यंचों में और हो, मनुष्यों में और हो सो बात नहीं, लेकिन तिर्यंचों को बाहरी अटपट साधन ज्यादह नहीं लगे इसलिये वे पढ़े लिखे नहीं। अभक्ष्य का बोध नहीं होता, एसी स्थिति में भी वे पार पा लेंगे, पर मनुष्य पार न पा सकेंगे। एक उस योग्य आचरण चाहिये। आखिर हमको समझना है अपना आत्मस्वभाव। मैं सबसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप हूं। जरा सी ही तो बात बोला है, इतनी बार बार भावना बनायें घर में या और जगह कि मैं देह से निराला, कर्म से न्यारा, कषायों से निराला मैं एक ज्ञानज्योति स्वरूप हूं। जब ऐसा कुछ भीतर में मनन करें तो अपने आप यह बात समझ में आयगी कि मेरा दुनिया में क्या है? कुछ नहीं। तब अकिंचनता पूरी तरह समझ में आयगी और समझ में आयगा कि मैं किसी को पुत्र मान रहा, स्त्री, पति आदिक मान रहा, अन्य कुछ अपना समझ रहा, उस समझ में कितनी विडम्बना थी, कितना अज्ञान बसा था? ओह इस ज्ञानमूर्ति मुझ आत्मतत्त्व का दुनिया में अणुमात्र भी नहीं है। यह बात उसकी समझ में स्पष्ट आ गयी। पर वह जब तक गृहस्थी में है तब तक सद्व्यवहार करता है। तो दुर्लभ क्या चीज हुई? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उससे भी दुर्लभ है सम्यक्चारित्र। याने ऐसे सहज आत्मस्वभाव में बसने के लिए इतना विरक्त हो जायें कि जिससे सहज जब चाहे बसा ही रहा करे तो उसे कहते हैं सम्यक्चारित्र। जिसको सम्यक्चारित्र का उदय हुआ है उसे ममता नहीं जगती, वाह्य वस्तुवों का संग्रह नहीं करता। बाह्य वस्तुवों का संग्रह करना ही यह सिद्ध करता है कि इसको उसमें ममता है। तो ऐसी एक निर्ग्रंथ आकिंचन स्थिति में रहते हुए केवल ज्ञानमात्र अंतस्तत्व की ही भावना बनी रहे ऐसी स्थिति होती है सम्यक्चारित्र में। सम्यक्चारित्र हम परिपूर्ण नहीं पा सकते तो दृष्टि दें कि हम अपनी शक्ति को न छुपाकर इस चारित्र और संयम की आराधना में लगें। तो यह बोधिभाव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये दुर्लभ है।

(८८) जीवकी सर्वोत्कृष्ट आदर्श एवं अनुकरणीय अवस्था—अब रत्नत्रय की उत्कृष्टता में और ऊपर की स्थिति सोचिये—जिस भव्य पुरुष को रत्नत्रय का लाभ हुआ है उसको अधिक उत्कृष्ट स्थिति आज के काल में तो न मिलेगी, लेकिन वज्रवृषभनाराचसंहनन वाले बड़े तगड़े हृष्ट पुष्ट बलिष्ट शरीर वाले, जो बड़े बड़े परीषहों का कुछ भान ही नहीं करते, यों ही सहज सहते जाते हैं, उनमें ऐसी क्षमता है कि बाधायें कैसी ही आयें पर वे अपनी ज्ञान आराधना से च्युत नहीं होते। यहां तो एक मच्छर भी काटे तो ये सब चर्चायें एक तरफ हो जायेंगी। उसी पर ध्यान जायगा। कदाचित् न जाय और बाधायें आयेंगी तो उससे चिग जाते हैं। क्यों तपस्या करना बताया है? तो समाधितन्त्र में कहा है कि बड़े आराम से, बिना कष्ट भोगे कुछ ज्ञान पा लिया तो कोई कष्ट आने पर वह सब ज्ञान बिदा हो जायगा। इसलिये कष्ट भोगने का अभ्यास करना चाहिए तपश्चरण करना चाहिए कि कभी कष्ट आये तो उस कष्ट के समय में भी अपने आनन्द से विचलित न हो सकूं। उसके लिये ये बाहरी तपश्चरण बताये गए हैं। तो अब इन बाहरी तपश्चरणों को करके वे मुनिराज अपने आप में ज्ञानस्वरूप की आराधना कर के और ऊंची श्रेणी मांडकर जहां विकल्प भी नहीं रहता, बड़ी समाधि रहती है, ऐसी स्थिति में आकर वह एक शुद्ध आनन्द का भोग करता है और उसको आकुलता नहीं रहती है। सहज ज्ञानस्वरूप का अनुभव बनाये रहता है, ऐसी स्थिति उनके कुछ काल रहे तो उनका मोह मूल से क्षीण हो जाता है, फिर चारित्र मोह भी रंच नहीं रहता।

Version

उन्हें कहते हैं क्षीण मोह। मोह मिटा कि नियम से अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो जाता है, फिर वे केवली हो गए, जिनकी हम पूजा करते हैं ये अरहन्त जिनेश्वर देव सिद्ध भगवान ये इस तरह से उत्थान पा पाकर एक परमात्म स्वरूप हुए हैं। जब तक इन सारी बातों का परिचय न होगा तो भगवान की महत्ता भी विदित नहीं हो सकती। ऐसे भगवान जिनेन्द्र यह ही उत्कृष्ट स्थिति है और जब इनके बाकी अघातिया कर्म दूर होते, शरीर भी जुदा हो जाता है, जब इसकी और उत्कृष्ट स्थिति सिद्ध भगवंत की हो जाती है। तो हमको सिद्ध भगवंत तक पहुंचना है, ऐसी स्थिति पाना है, यह ध्येय इस मनुष्यभव में बना लिया जाय तो काम बन जायगा। हम पूर्व में निगोद में थे, वहां से हटकर बहुत यात्रा कर चुके हैं। अब कोई ऐसा दुष्कर्म न हो कि फिर बड़ी खोटी दुर्गतियों में जाना पड़े। इन सब दुर्गतियों के जानने से यह शिक्षा मिली।

(८६) क्लेश का कारण विरुद्ध परिणमन—हम आप सब लोग जब कभी संकट और दुःख की चर्चा करते हैं तो बहुत संकट, बहुत क्लेश बताया करते हैं। जितने पुरुष हैं उतने ही मुंह, उतनी ही बातें कष्ट की कही जाती हैं, किन्तु निर्णय करके आप समझ सकेंगे कि हम आप पर कोई कष्ट है मूल का तो वह है जन्ममरणका। जन्म लेते हैं, मरते हैं, फिर जन्म लेते हैं, फिर मरते हैं, यह जो हमारी परिपाटी है, उससे हम आप दुःखी हो रहे हैं। जन्म के समय दुःख, मरण के समय दुःख। जन्म मरण के बीच जितनी सारी जिन्दगी है उस जिन्दगी में भी दुःख। फिर मरे, फिर जन्मे याने दुःख की परम्परा निरन्तर ही बनी रहती है। यही हम आपके सामने बड़ी समस्या है। यहां तो यह लोग ये समस्यायें रख देते होंगे कि हमारा व्यापार नहीं चलता, हमारी आय अच्छी नहीं है, हमारे घर के लोग प्रतिकूल बने हैं अथवा पुत्र कुपूत निकल गया है या और और कुछ बातें, लेकिन सत्य समझिये कि ये सारी की सारी बातें मेरे लिये कोई समस्या नहीं हैं। जो होता है हो, उससे मेरे में क्या नुक्सान होता, अच्छा चलेंगे कोई लोग तो वे अपने लिए चलेंगे, बुरे चलेंगे तो वे अपने लिए चलेंगे, उनसे मेरे को क्या होता है? यह कोई समस्या नहीं है। समस्या है तो यही है कि जन्म मरण के हम दुःख भोगते हैं। अनेक कुयोनियों में जन्म लेते हैं और कल्पनायें करके दुःखी होते हैं। यही संकट है हम आप पर। जैसे लोग सोचते हैं कि मेरा यह संकट मिट जाय, इसके लिये मैं सारी सम्पदा खर्च कर दूंगा मानो तबियत खराब हो गई तो सोचते हैं कि यह हम पर बड़ा संकट है, मैं इसके लिये सारी सम्पदा लगा दूंगा। बच्चे को कोई काम कराना है, सारी सम्पत्ति लगा देंगे, यों सारी समस्या बना डालते हैं, लेकिन जन्म मरण का संकट ऐसा है कि इसके लिए तो ये प्राण भी देने पड़ें, अगर जन्म मरण का संकट मिटता है तो समझो कि मैंने बड़े सस्ते में यह संकट दूर कर दिया। अब जरा विचार करो कि ये जन्म-मरण के संकट किस विधि से मिट सकते हैं? तो पहिले यह समझें कि ये जन्ममरण के संकट क्यों आ रहे हैं? इनका कारण है उल्टा चलना। हम सीधे चलते नहीं, चलते हैं उल्टा तो बस संकट आ जाते हैं। लोग यह भी तो कहते हैं कि वह उल्टा उल्टा ही चलता है। साता कैसे पायें, आराम कैसे मिले, तरक्की कैसे हो? वह तो उल्टा ही चलता है। तो यही बात यहां समझिये कि मेरे जन्ममरण के संकट कैसे मिटें? मैं तो उल्टा चल रहा हूं कि मेरा स्वरूप कुछ है, हम मानते कुछ हैं। जगत के पदार्थों का स्वरूप कुछ है, हम मानते कुछ हैं। हमें सहज अपने स्वरूप के अनुसार रहना चाहिए, पर रहते हम उल्टे हैं, इसी बात को संक्षेप में इन तीन विभागों में बताया है—मिथ्या-दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। इन तीन के वश होकर संसार में जन्ममरण का दुःख उठाया जा रहा है।

(९०) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र का प्रभाव—अब मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र इन तीनों पर विचार करें। मिथ्यादर्शन क्या है? मिथ्यादर्शन का अर्थ है—झूठा श्रद्धान करना, अपने आपके बारे में झूठा विश्वास बनाना। मैं हूं कुछ और मानते अपने को कुछ, बस यह ही मिथ्या श्रद्धान है। मैं हूं चैतन्य स्वरूप, अन्य समस्त पदार्थों से निराला, पर माना जाता है क्या कि कि मैं हूं यह देह। जो कुछ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पोजीशन है, जो कुछ बाहरी परिस्थिति है उस रूप अपने को माना जाता है। यह हूं मैं। यही हुआ मिथ्या विश्वास। देखो भ्रम बनाकर मिथ्या विश्वास बनाकर कोई लोक में भी तरक्की नहीं कर सकता। आत्मा की उन्नति तो पायेगा कैसे ? अपने बारे में कैसा मिथ्या विश्वास लगा हैं कि मैं अमुक गांव का हूं, अमुक परिवार वाला हूं, अमुक जाति का हूं, अमुक पोजीशन का हूं, व्यापारी हूं, सर्विस वाला हूं, और और प्रकार की कितनी ही बातें मानते—मैं पुत्रों वाला हूं, मैं बलवान हूं, दुर्बल हूं, सुखी हूं, दु:खी हूं, निर्धन हूं, धनी हूं, काला हूं, गोरा हूं आदिक कितनी ही तरह के अपने आप में यह कल्पनायें उठाता है यह है एक शुद्ध ज्ञानमात्र, केवल जानन, यही स्वभाव है, पर लोग मान रहे अपने को कितना उल्टा। बस इस मिथ्यात्व के कारण हम संसार में रुलते हैं। एक बात और भी सोच लो—आखिर हम सब लोग भगवत स्वरूप हैं। भगवान जैसा स्वभाव रखते हैं, इसीलिए ऐश्वर्यरूप हैं। कोई हंसी ठट्टा नहीं है। जब हम इतने बड़े हैं, ईश्वर स्वरूप हैं तो जो हम चाहें वैसा न हो ऐसा नहीं हो सकता। जो चाहते हैं सो होता है। आप सोच रहे होंगे कि बड़ी अच्छी बात है कि हम बड़े हैं, ईश्वर स्वरूप हैं, हम जो चाहते सो होता है, ठीक है। देखो हम देह चाहते हैं तो देह मिलते रहते हैं। है ना खूबी। हम शरीर चाहते हैं, शरीर में प्रीति करते हैं, शरीर में मोह बसाते हैं, शरीर को मैं हूं ऐसा मानते हैं तो फिर ये शरीर दनादन मिलते चले जायेंगे। देखिये जैसे लोग कहते हैं कि एक बड़े बर्तन की खुर्चन भी एक दो आदमियों का पेट भर देती है, तो मैं बड़े ऐश्वर्य वाला हूं तो देखो यहां भी ऐश्वर्य चमक रहा है। जो देह को मानता हो कि यह मैं हूं, तो देह बराबर मिलते रहते हैं। हां विवेक यह करना है कि यह देह का मिलना भला नहीं है, यह तो जन्ममरण की बात है। यह तो संकट है। जब यह देह न चाहें, देह से उपेक्षा करें तो वैसा भी हो जायगा। तो विवेक करना है, कठिनाई कुछ नहीं है। कैसे उद्धार होगा ? इसमें मुश्किल जरा भी नहीं है। एक अपनी दृष्टि पलटने की जरूरत है। जैसा हम चाहेंगे, जैसी हमारी दृष्टि होगी वैसा काम बन जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं। तो हम देह को चाहते हैं, देह को मैं हूं ऐसा मानते हैं तो ये देह मिलते रहते हैं। यही तो कहलायी जन्ममरण की परिपाटी। तो यह परिपाटी क्यों बनी ? मिथ्याश्रद्धान से, मिथ्यात्वभाव से और भी देखो कैसे कैसे मिथ्यात्व लग रहे हैं। शरीर तो भिन्न वस्तु है। मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप भिन्न वस्तु हूं। यदि शरीर उत्पन्न हुआ याने जन्म हुआ तो यह मानता है कि मैं ही उत्पन्न हो गया। शरीर न था, वे बिखरी वर्गणायें थीं, शरीर बनने लगे तो यह मोही मानता है कि मैं बनने लगा हूं। मैं उत्पन्न हो गया हूं और जब शरीर मिटता है तो यह मोही मानता है कि मैं मिट गया हूं। यह है इस का मिथ्या विश्वास। जहां उल्टी चाल चल रहा हो, भीतर में श्रद्धा ही उल्टी बना रखी हो तो उसके ऊपर जो भी क्रियाकाण्ड चलेंगे वे सब मिथ्या चलेंगे। नीचे औंधी डेगची रखें तो जितनी डेगची उस पर रखी जायेंगी वे सब औंधी रखी जा सकेंगी। उस पर सीधी डेगची नहीं रखी जा सकतीं। जब मिथ्या विश्वास है तो हमारी जो क्रियायें होंगी वे भी मिथ्या होंगी। ऐसा मिथ्यात्व में लग रहे हैं तो जन्म मरण मिल रहे हैं।

(६१) सप्ततत्त्वविषयक मिथ्याद्धान हटाकर सम्यक् श्रद्धान करने का कर्तव्य—देखो जब भला होने को होगा तो ज्ञानप्रकाश तो मानना ही होगा। अन्धेरा तो मिटना ही होगा। ऐसा अपना दृढ़ निर्णय बनाना हो होगा कि मेरे आत्मा का तो मेरा चैतन्यस्वरूप मात्र है और कुछ नहीं। वह बात यदि अभी बना लें इसी भव में तो हमारा क्या बिगाड़ है ? अभी से मुक्ति मार्ग मिल जायगा। अभी से शान्ति मिलने लगेगी। अभी से सन्मार्ग मिल जायगा, इसके लिए देर करना अच्छी बात नहीं है। सत्य निर्णय बना लें, सत्य विश्वास बना लें, अन्यथा संसार में जन्म मरण करते रहना पड़ेगा। इसके मिथ्यात्व की दशायें देखो कैसा उल्टा उल्टा मान रहा है। बाहरी वस्तुवें हमें न सुख देती न दु:ख देतीं, वे तो अपनी सत्ता से अपने आप में पड़ी हुई हैं, लेकिन यह मोही मानता है कि मुझे अमुक सुख देता है, अमुक दु:ख देता है और भीतर में यह वासना बनाये हैं कि यह प्रेम यह राग

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बड़ा सुखदायी है। जो दुःख का कारण हैं उन्हीं कषायों को यह सुखदायी मानता है। जब क्रोध आता है तो क्रोध करते हुए में यह मौज मानता है। दुःखी थोड़े ही होते हैं कि हाय क्या करें ? मेरे को क्रोध आ गया। वह तो क्रोध को अपना स्वरूप समझता है और क्रोध में कभी कमी आये तो उसको और तेज करना चाहता है। उसको अपना जीवन समझता है। तो जो विकार कषायें हमें दुःख देने वाली होती हैं उन ही विकार और कषायों को सुखदायी मानता है? यह मिथ्या विश्वास है ना तो कैसे पूरा पड़ेगा ? इसके साथ ही यह भी देख लो कि जो वास्तव में हितकारी है उसे दुःखदायी समझता है। जैसे गुरुजनों का सत्संग, शास्त्रस्वाध्याय, प्रभुभक्ति, पूजन आदिक में शामिल होना, कुछ समय अपने को बाहरी मोह चिन्ता से हटाकर कुछ धर्मध्यान में लगाना, यह कुछ हितकारी है। पर इसमें प्रीति नहीं जगती। जिनके जगती है। उनका भला हो रहा है और देखिये—भीतर में ज्ञान और वैराग्य वास्तव में ये ही हितकारी हैं, सही ज्ञान जग जाय और बाह्यपदार्थों से विषयो से राग हट जाय, यह है हित की चीज, लेकिन इसको दुःखदायी मानते हैं। तो ऐसा मिथ्या श्रद्धान है उसका फल यही है कि जन्मते हैं और मरते हैं। किसी पुरुष ने एक बार यह शंका की थी कि जैसे गेहूं के दानों से गेहूं ही तो पैदा होता, ऐसा ही मनुष्य कोई मरेगा तो मनुष्य ही तो बनेगा, फिर क्या हर्ज है—अधिक धर्म करने की। मनुष्य हैं, मरेगा तो मनुष्य बन जायगा, फिर मनुष्य की बात मिलने लगेगी। घबड़ाहट की बात तो तब है जब हम कीड़ा बन जायें, पेड़ पौधे बन जायें, सो ऐसा कैसे होगा ? चने से चने ही होते हैं, तो मनुष्य मर गया तो मनुष्य ही तो बनेगा। एक ने यह शंका की थी। इस सम्बन्ध में जरा विचार करें। शंका का जो अभिप्राय है वह तो यही था कि गेहूं से गेहूं बनता, तो यह ही बात यहां भी है। मनुष्य शरीर से, मनुष्य के रजबीर्य से मनुष्य बनेगा, इसमें शंका नहीं आती लेकिन जीव की बात क्यों लगाते कि जो जीव मनुष्यगति में है वह मनुष्यगति में पैदा होगा।

देह की बात में देह लगावो, उसका हम विरोध कहां करते। गेहूं से गेहूं देह बनेगा, मनुष्य से मनुष्य देह बनेगा, पर जीव की बात चीत में क्यों लगाया ? उसकी सृष्टि तो भावों के अनुसार है। जैसा भाव करेगा वैसी बात पायेगा। तो एक तो जन्म मरण और फिर उसमें विश्वास भी नहीं कि मरकर क्या बनेंगे। तो है ना बड़ा भारी संकट ? अगर १०-५ वर्ष अच्छी तरह जी लिया तो इतना जीने से क्या पूरा पड़ता ? इतनी तो अनन्त-काल की यात्रा धरी है, वह यात्रा सही होनी चाहिए। मिथ्या श्रद्धान है इस कारण जीव को जन्म मरण के संकट सहने पड़ते हैं। मिथ्या विश्वास की ही तो बात है। बताओ इच्छा करने से दुःख होता है कि आनन्द ? सब सोच लेते हैं कि जब इच्छायें करते हैं तब बड़ी बेचैनी होती है। सोच लो जरा जरा सी इच्छा। आपको यह इच्छा हुई कि आज तो हमें पापड़ खाना चाहिए तो देखो—आप को तुरन्त आकुलता होती कि नहीं ? बच्ची से कहलवाते कि मां से कह दे कि आज पापड़ बनावे, अगर कोई सामान न हुआ तो उसे भी लाते, यों अनेक खटपट करनी पड़ती हैं। लगता तो यों है कि इसमें तो कोई खटपट नहीं करनी पड़ रही, घर में सब प्रकार की सुविधा है, लेकिन किसी चीज की इच्छा जग जाय तो नियम से क्लेश होगा। उसी समय क्लेश होगा। क्यों क्लेश होता है ? देखो—जिस समय इच्छा है उस समय वह चीज मिली हुई है क्या ? अगर मिली होती तो इच्छा क्यों बनती ? इतना तो निश्चित है कि जब हम जिस चीज की इच्छा करते हैं उस समय वह चीज हमारे पास नहीं है, और जब नहीं है तब उसकी प्रतिक्षा करते, घूमते, तो आकुलता है कि नहीं ? तो इच्छा प्रकट आकुलता है लेकिन लोग उन आकुलतावों से ही अपनी महत्ता मानते हैं। अपना सुख मानते हैं। तो ऐसे मिथ्या श्रद्धान जब किये जा रहे हैं तो इनका मूल संकट कैसे दूर हो सकता है ? एक बात और खास समझ लीजिए—हर एक कोई किसी न किसी बात को बड़ा समझकर उसकी बाट हेरता रहता है यह रोज की पद्धति है। जिसमें जिसने नफा समझा, जिसमें अपना हित समझा उसकी बाट जोहते कि नहीं ? जिससे प्रीति लगी हो उसकी बाट जोहते ना ? तो बाट जोहने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

का सबमें माद्दा पड़ा हुआ है। अब सोच लो कि हम किसी की बाट जोहा करते हैं ? फर्म की, पुत्र की, पुत्री के विवाह आदिक की। तो ये सारी बाट जोहा इस जीव ने, मगर एक मोक्ष की बाट नहीं जोहा। कब वह समय आये कि मैं कर्म और शरीर से अलग रहकर एक केवल निज स्वरूपमात्र रहूं, यह बाट नहीं जोहा, उल्टी बाट जोहा, तब इसके उल्टे ही तो काम होंगे। तो ऐसी मिथ्या धारणा बनाया है इस जीवने।

(९२) सम्यक्त्वकी संसारतरण में कर्णधाररूपता—और ऐसे ही विश्वास के साथ ज्ञान भी नच रहा है, उसके अनुकूल तो संसार के संकट आयेंगे ही। अगर संकट न चाहिए तो मिथ्या श्रद्धान छोड़ दीजिये। जब तक मिथ्याविश्वास लगा है तब तक हमारी जो गाड़ी चलेगी वह उल्टी चलेगी। देखो नाव खेने वाले मल्लाह चाहे कितने ही लोग नाव को खेते रहें, मगर उन सबकी चोटी एक कर्णधार के हाथ में रहती है। कर्णधार वह कहा जाता है जो नाव के पीछे एक डंडे में सूप जैसा लगा रहता है उसे घुमाता है। वह जिस दिशा की ओर मोड़ देता है नाव उस ही ओर बहने लगती है। चलाने वाले लोग तो नाव को तेजी से चलाते रहते हैं पर नाव किस दिशा में चले यह उस कर्णधार की करतूत पर निर्भर करता है, तो इसी तरह समझ लीजिए कि हमारा श्रद्धान जिस ढंग का होगा बस वैसी ही हमारी दिशा बन जायगी फिर चाहे क्रियायें कितनी ही तेज कर डालें। तो हमें मिथ्या श्रद्धान से हटना चाहिए जिसके बल पर मिथ्या चारित्र चलता है। सो मिथ्याचारित्र में प्राय: सब जीवों के बिना सिखाये मिथ्याचारित्र लग रहा है। कौन कह रहा है कि हिंसा करो, झूठ बोलो, चोरी करो, व्यभिचार करो, उनमें लालसा बनाये रहो ? ये कोई पाठशाला में सिखाये जाते हैं क्या ? अरे ये सब तो अपने आप ही लोग करने लगते हैं। तो यह मिथ्याचारित्र ही तो है, कुछ सिखा सिखाया भी मिथ्याचारित्र बनता है। जिनकी कुछ पाठशालायें हैं, कुदेव मानो, कुशास्त्र मानो, कुगुरु मानो बड़े बड़े शास्त्र रचे जाते हैं, बड़ा डर दिखाया जाता है कि देखो अगर तुम इसे न मानोगे तो काफिर कहलावोगे, नरक में जावोगे। सब तरह से अपना मोर्चा बनाया जाता है कि ये गृहीत मिथ्यात्व में बने रहें। तो यह मिथ्या चारित्र या गृहीत श्रद्धान कैसे लगा ? जब अपने आपको अपनी सुध न रही तो जिसने जैसा समझाया वैसा चल बैठते हैं। जैसे बच्चों को कहां अधिक अकल होती है ? कोई कहे कि रे बच्चे देख तेरा कान कौवा ले गया तो वह बच्चा उस कौवे के पीछे भागेगा। उसे यह बुद्धि न जगेगी कि मैं जल्दी ही अपने कानों को टटोल लूं और व्यर्थ की भाग दौड़ बन्द कर लूं। तो ठीक इसी तरह इन मोही जीवों को अपने आपमें अकल नहीं होती है, क्योंकि उन्हें सत्य का श्रद्धान ही नहीं हुआ। जिसने जैसा बहका-दिया वैसा बह जाते हैं। तो यह जीव मिथ्यात्वी बना है, विषयों में इसकी प्रवृत्ति है, यही कारण है कि इसके जन्म मरण के संकट की परम्परा बराबर बनी रहती है। अगर जंच गया हो कि सत्व है, मेरे पर और कोई संकट नहीं है, सारे संकट तो एक कल्पना की बात है, मान लेने की बात है, है नहीं कोई संकट। कोई मान ले संकट तो इसका क्या इलाज जैसे कोई एक पागल किसी कुवें पर बैठा हुआ था। वहां सड़क से अनेक लोगों का आना जाना चल रहा था। वहां कोई मुसाफिर अपनी मोटर खड़ी करके पानी पीने लगे, फिर पानी पीकर वे चले गए, पर वहां बैठा हुआ वह पागल यह मानकर दु:खी होता है कि हाय मेरी मोटर गाड़ी चली गई। अरे कहां थी उसकी मोटर ? पर उसने कल्पना ऐसी बनाया कि यह मेरी मोटर है तो उसके पीछे वह दु:खी हो गया, ठीक इसी तरह ये जगत के प्राणी अपनी सड़क से अपने मार्ग से या अपनी-अपनी गति से आते हैं, एक स्थान पर कुछ समय के लिए इक्ट्ठे हो जाते हैं, बाद में वे अपनी-अपनी करनी के अनुसार भिन्न-भिन्न गतियों में चले जाते हैं, पर वहां रहने वाला वह मोही, अज्ञानी, पागल प्राणी मानता है कि अरे मेरा अमुक चला गया, हाय अब क्या होगा ? यों वह दु:खी होता है। तो इस दु:ख का मूल कारण है झूठा श्रद्धान, झूंठा विश्वास।

(९३) आत्महित के लिये मिथ्याभाव के निवारण की अनिवार्यता—आत्महित के लिये झूठे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

श्रद्धान को मेटना होगा। यह कैसे मिटेगा ? एक निजदृष्टि से ये ध्वस्त हो जायेंगे। जैसे ईंधन के बहुत बड़े ढेर को जला देने का साधन अग्नि की एक कणिका है, इसी तरह बड़े-बड़े संकटों को, विकारों को मिटा देने में समर्थ एक सम्यक्त्व कणिका है। सच्चा विश्वास बने, अपने आप के स्वभाव का अनुभव हो तो स्वभाव में मग्नता बनेगी। सारे संकट अपने आप दूर हो जायेंगे। तो एक बात यह ध्यान में लाना है कि मेरे पर जन्म मरण का संकट है, और कोई संकट नहीं। इतना जब मान लेंगे तो इस जिन्दगी में आपके बहुत से क्लेश स्वयं मिट जायेंगे। नुक्सान हो गया तो होने दो, यह कोई संकट नहीं है। कोई गुजर गया तो यह कोई संकट नहीं है। क्या माना जाता है संकट दुनिया में ? सारे के सारे भी संकट दुनिया भर के आ जायें तो भी यह ज्ञानी समझ रहा है कि क्या हुआ ? हो रहा है, यह तो कोई संकट ही नहीं। संकट है तो एक मात्र यह ही है कि हम जन्म मरण के चक्र में लग रहे हैं। उसके मेटने का उपाय है 'निजको निज परको पर जान, फिर दुःख का नहिं लेश निदान।' देखो भाई ! जैसी बात है वैसा समझने में कुछ नुक्सान है क्या ? नुक्सान हो या न हो। बात जैसी है वैसी समझ में तो आ ही जाती है। आना पड़ेगा ना, ठीक समझ लो—मेरा आत्मा केवल मैं ही तो हूं, मैं आगे कुछ तो नहीं हूं। आगे रहने वाले पदार्थ वे सब पर ही तो हैं. वे मुझ में तो नहीं आये हैं। हैं ना बिल्कुल सही बात। निज निज ही है, पर पर ही है। मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा निज ही हूं। जिसे कहते हैं दो टूक हो गए। कभी जुड़ ही नहीं सकते, कभी एक नहीं हो सकते, ऐसे बिल्कुल न्यारे हैं मैं और देह। मैं और यह सारा परिकर चेतन अचेतन। वह चेतन है ऐसा मान लीजिए, इसमें लाभ ही है, हानि का तो नाम ही नहीं है। तो यथार्थ श्रद्धान, यथार्थ ज्ञान और इस ही अनुरूप अपना आचरण हो तो ये जन्म मरण के संकट दूर कर सकेंगे। बस दो ही निर्णय बनाये रहें, संकट मेरे पर कुछ नहीं। जन्म मरण का संकट, इसके मेटने का उपाय है—'निजको निज परको पर जान।' दूसरा कोई उपाय नहीं हो सकता। तो जहां तक दो ही बातें हैं, अधिक कुछ बात ही नहीं तो वहां फिर इनके करने में कौनसी असुविधा हैं ? इसके लिए चाहिए कुछ सत्संग और शास्त्राभ्यास। इनमें अपना श्रम कीजिए। थोड़ा समय बढ़ावो, खूब अध्ययन कीजिए तो ये ही शान्ति के कारण बन सकेंगे, बाहरी समागम हमारी शान्ति के कारण न बन सकेंगे।

(६४) शरण्य अन्तस्तत्त्व की अगवानी—मेरा शरण मेरे में अनादि अनन्त अन्तः प्रकाशमात्र चित्स्वभाव हो इसका ध्यान बनाये बिना एक क्षण भी न व्यतीत हो ऐसा अपने चित्त में निर्णय रखना चाहिए, और अपने आप का भान करते हुए, बाह्य पदार्थों से उपेक्षा रखते हुए अपने आप की दुनिया में, अपने आपके उद्यान में बिहार करके प्रसन्न रहने का पौरुष करना चाहिए। जहाँ बाहर देखा, अपने आपके स्वभाव से च्युत होकर बाहर झांका कि विपत्ति ही विपत्ति नजर आती है, जैसे सावन के महीने में मूसलाधार वर्षा हो रही हो, बिजली तड़क रही हो, ऐसे समय में यदि छोटी सी कोठरी मिल जाय और उसमें मनुष्य पहुंच जाये तो वह मनुष्य बाहर झांकना भी नहीं चाहता है। निकलने की बात तो दूर रही। वह अपनी उस कोठरी में रहता हुआ अपने को सुरक्षित मानता रहता है इसी तरह इस आत्मकोठरी से बाहर बड़ी-बड़ी विपत्तियां हैं, संकट हैं, कष्ट की वर्षायें हो रही हैं. इस संसार में सर्वत्र कष्ट ही कष्ट भरे पड़े हैं, यहां यदि अपने आपकी कोठरी मिल जाय, अपने आपका यह ज्ञान से रचा हुआ ज्ञानस्वरूप, ज्ञान का ही वातावरण, ज्ञानमय इस अन्तस्तत्त्व में प्रयोग्य रहता हो, प्रतीति हो तो यह ज्ञानी जीव बाहर ढूकना नहीं चाहता, बाहर निकलना नहीं चाहता। अपने अतुल आनन्द को यही भोगता हुआ रहता है। बाह्य के सत् पदार्थ सारहीन हैं, यह बात थोड़ा पढ़े लिखे भी जान सकते हैं, अधिक पढ़े-लिखे भी जान सकते हैं। सूक्ष्म अन्तस्तत्त्व का जिसने भान किया वह भी जान सकता है। जानने की सबके अन्दर जरूरत है, पर मोटे रूप में सब कह सकते कि बाहरी पदार्थों का संगम सारहीन है। संगम क्या सारहीन है ? बाह्य पदार्थों के विषयों में उनका विकल्प करके जो विकल्प बनाया करते हैं वे हैं सारहीन। बाहरी पदार्थ तो जो जैसे हैं वे हैं

Report any errors to rtvikasjid@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ही, वे खुद के अपने लिए तो सारभूत हैं ही। कौन पदार्थ असार है ? वे अपने लिए सारसहित ही हैं, पर मेरे लिए सारभूत नहीं हैं। मेरे लिए सार तो मेरा यह विज्ञानैकरस यह विज्ञानधन सारभूत है। इसकी दृष्टि प्राप्त हो इसके लिए पौरुष होना चाहिए।

(६५) स्वभावदृष्टि के लिये नयों का सहयोग—इसकी दृष्टि प्राप्त करने में सभी नय मदद करते हैं। नय का काम है ले जाना कल्याण की ओर, आत्मस्वभाव की ओर। जहां निश्चय दृष्टि का प्रयोग करके एक वस्तु को एक में ही निरखकर, अन्य पदार्थों का मान छोड़कर, केवल एक को ही देखकर आश्रय रहा, अतएव वह ममता में आता है और स्वभाव की ओर सुगमता से उन्मुख हो जाता है, वहां व्यवहारनय यह बताता है कि ये जो विकार हुए ये पौद्गलिक हैं, पुद्गलकर्म से निष्पन्न हैं अर्थात् पुद्गलकर्म विपाक सन्निधान में ये विकार बनते, तो ये विकार उसके खाते में जायेंगे। मेरे स्वरूप में मत आयें। मेरा स्वरूप तो इन विकारों से निराला है। जिसे पूज्यश्री अमृतचन्द्राचार्य ने खुलासा करके बताया है कि नाना प्रकार का जो यह औदयिक भाव है, उदयविकार के जितने भी भाव हैं वे भाव मेरे नहीं हैं, मैं तो एक ज्ञानस्वभावी हूं। तो व्यवहारनय के प्रयोग से भी उसका उपयोग स्वभावदृष्टि के अर्थ लगाया जायगा तो यह लगेगा और इसलिए समयसार में स्थल स्थल पर कहीं निश्चयनय के परिचय से स्वभावदृष्टि कराया तो कहीं व्यवहारनय के माध्यम से बोध करा कर स्वभावदृष्टि कराया। नय का उपयोग करने की कला चाहिए। हम स्वभावदृष्टि प्राप्त करें ऐसा हमारा दृढ़ संकल्प चाहिए, फिर हम किसी भी वचन प्रयोग से अपने आपके लक्ष्य में उतर सकते हैं। समयसार का दर्शन तो पक्ष से रहित होने पर होता है, जिसे कहते हैं अनुभव। व्यवहारनय से समझा, उससे सार क्या निकला ? यह ही स्वभावदर्शन। निश्चयनय से समझा तो वहां सार निकला यही स्वभावदर्शन। विधि जुदी-जुदी है, पर प्रयोजन सब नयों का यह बनावें कि मुझे विभावों से हटकर स्वभाव में आना है। जब तक व्यवहारनय का भी विकल्प है और निश्चयनय का भी विकल्प है तब तक समयसार के दर्शन नहीं होते अर्थात् अनुभव नहीं होता। देखो जैसे पहरेदार का काम है कि दर्शनार्थी को वहां तक ले जाय जहां से राजा का दर्शन हो, फिर पहरेदार लौट आता है, अब आप राजा के पास जावें और मिलें स्वतन्त्रता से। इसी तरह से यह नय व्यवहारनय कुछ दूर तक पहुंचाये, उसके आगे निश्चयनय के पहरेदार ने पहुंचाया, पर कहां तक पहुंचाया जहां से इस उपयोग को भगवान आत्मतत्त्व के दर्शन हो सकते हैं। वहां यह निश्चयनय भी कहता है कि अब आप जावो और अकेले मिलो प्रभुराजा से। हमारा काम यहां तक पहुंचाने का था सो पहुंचा दिया, निश्चयनय में एक निश्चयनय के विकल्प द्वारा एक इस स्थिति तक पहुँचे कि जहां तक हमें बोध हो, प्रतिभास हो कि यह है अन्तस्तत्त्व, लेकिन उससे मिलने के लिए उसका अनुभव पाने के लिए विकल्प न जगे। उस विकल्प से हटकर केवल एक ज्ञानपरिणति में ही रहकर उसका अनुभव पाया जायगा, तब वह निश्चयनय भी अलग हट गया। समयसार पाया कब ? दोनों पक्षों से च्युत हुए तब हमने साक्षात् ज्ञान का अनुभव कर पाया, ऐसा तत्त्व प्रमाण, नय सबसे अतीत है लेकिन जब तक इसमें प्रवेश नहीं है तब तक प्रमाणनय निक्षेप का हम आलम्बन करते हैं, उसके सहारे से उसकी जानकारी बनाते हैं और व्यवहार में हम एक ऐसी विधि बनाते हैं कि जिससे हम पात्र रहें उस ज्ञानस्वभाव अन्तस्तत्त्व के दर्शन के।

(३६) ज्ञानी का ज्ञानयात्रा का मूल लक्ष्य—देखो कहां जाना है हमको ? हम मायने उपयोग। जाने वाला तो यह उपयोग है। और जो ज्ञानस्वभाव है वह जाने वाला नहीं है, वह तो वहीं स्थिर रहने वाला है। उपयोग जाने वाला है। तो इस उपयोग से हम इस स्थायी ध्रुव तत्त्व की ओर आयें, तो उपयोग भी स्थायी बन सकेगा, स्थायी चीजों को उपयोग में लें तो स्थायी उपयोग रह सकता है। कभी सिद्ध होगा तो वहां भी उपयोग स्थायी नहीं रहेगा, लेकिन समान समान उपयोग बना रहेगा। भगवान का भी उपयोग प्रति समय में भिन्न-भिन्न

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है, लेकिन समान है इस कारण उसे स्थिर कहते हैं, क्योंकि इस स्थिर तत्त्व पर उपयोग हो तो उपयोग की वर्तना समान-समान रह सकेगी। स्वभाव का उपयोग करके वह उपयोग स्थिर रह सकता, परन्तु परपदार्थों को, परभावों को विषय करके वह उपयोग स्थिर नहीं रह सकता। तो अस्थायी तत्त्वों को छोड़ें। जैसे जो चलने वाला मुसाफिर है वह रास्ते के सभी वृक्षों को छोड़ने वाला है, अध्रुव है, निकल जाता है, इसी तरह हम अपने उपयोग की यात्रा में चलते नहीं हैं, मगर जो भिन्न तत्त्व हैं उनका समागम होता है, उनकी उपेक्षा करें, उनको न पकड़ें और अपने लक्ष्यपर जावें। जैसे किसी को बम्बई जाना है तो रास्ते में अनेक स्टेशन मिलते हैं, उन स्टेशनों को देखते हैं, और प्रयोजनवश किसी स्टेशन पर उतरते भी हैं, लेकिन समझते हैं कि हमको तो यहां जरासी देर रुकना है, वह थोड़ी देर को स्टेशन पर उतरता भी है और समय के भीतर फिर गाड़ी पर सवार हो जाता है स्टेशनों की शोभा भी देखता है, मगर किसी जगह की बड़ी शोभा देखकर वह उतर तो नहीं जाता। भले ही प्रयोजनवश वह देखता है? लेकिन अपने लक्ष्य की धुन उसे बराबर बनी हुई है। ठीक इसी तरह हमें कहां जाना है? बस, इस निर्विकल्प शुद्ध सहज ज्ञानस्वभाव में इस तरह जाना है कि पर्याय स्वभाव के अनुरूप हो जाय। स्वभाव के समान पर्याय हो इसी के मायने मोक्ष हैं। हमें उस तत्त्व तक जाना है तो उस यात्रा में जाते हुए बीच में अनेक स्टेशन मिलते हैं, कि जिसमें कुछ प्रयोजन भी है—जैसे अन्याय न करना, अभक्ष्य भक्षण न करना, कुछ संयम से रहना। ये बीच में आते हैं, उन्हें प्रयोजनवश करना पड़ता है, लेकिन वह जानता है कि करें तो सही लेकिन यहीं न अटक जायें। तो अपनी इस ज्ञानयात्रा में विघ्न न आये, प्रयोजनवश सब करना पड़ता है, और इसके बिना आगे बढ़ नहीं पाता। जैसे कोई भूखे रहते हुए तो नहीं बम्बई जाता, वह तो रास्ते में कुछ नास्ता पानी करता है, खाता है और इस तरह से वह अपने लक्ष्य पर पहुंच जाता है। तो ऐसे ही यहां हम आपको अपनी जीवनयात्रा में प्रयोजनवश करना पड़ता है सब कुछ, पर अपनी दृष्टि रहे मूल लक्ष्यपर।

(६७) ज्ञान द्वारा ज्ञान के ज्ञान करने के पौरुष में निर्विघ्नता का अवसर—देखिये—अन्तस्तत्त्व-विषयक ज्ञान करें, अपना लक्ष्य तो करें तो इसमें विघ्न डालने वाला कोई नहीं है। जैसे एक एक्सरा यन्त्र होता है, वह शरीर में पाये जाने वाले चाम, खून, मांस-मज्जा आदि किसी चीज में न अटककर मात्र हड्डी का फोटो ले लेता है, कोई भी चीज आड़े नहीं पड़ती, ठीक इसी प्रकार से हमारा यह ज्ञानरूपी यन्त्र अगर अपने ज्ञायकस्व-भाव के लक्ष्य में चले तो बीच में कितनी ही चीजें मिलती हैं, मगर अटकता कहीं नहीं। शरीर है तो वहां अटकेगा क्या? नहीं। कषायें हैं वहां अटकेगा? नहीं। इच्छायें हैं, विकल्प हैं, विचार हैं, वहां अटकेगा नहीं। कुछ भी परिणमन हो वहां न अटकेगा। वह उन सबको पार करके अन्तः ज्ञायकस्वभाव के दर्शन करेगा। यहां भी देखो—जरा किसी का ख्याल करते हो तो रास्ते में कितने ही मकान मिलते, भींत मिलती, पहाड़ मिलते, जंगल मिलते, लेकिन वह ज्ञान कहीं अटकता तो नहीं है। व्याकरण जानने वाले लोग जानते हैं कि जो धातु जाने का अर्थ बताती है वही धातु जानने का भी अर्थ बताती है। तो ज्ञान को समझने के लिए उसमें कहीं जाने की, विहार की आवश्यकता नहीं होती है, फिर भी जानने का व्यवहार होता है। जिसको हम व्यापक समझते हैं। यह ज्ञान बड़ा व्यापक है, कैसे व्यापक है कि अपने ही प्रदेशों में रहते हुए लोकालोक व्यापक बन जाता है। कैसा विरोधाभास है? कैसे लोकाकाश में फैल जाता और कैसे अपने प्रदेश में रहता? ये दोनों एक साथ कैसे हो रहे हैं? हो रहे हैं। वह व्यापकपना इसी ढंग का है कि अपने आपके प्रदेशों में रहते हुए ज्ञान सर्व व्यापक बन रहा है। समस्त लोक ज्ञेय हो रहा। ठीक है, इसी प्रयोजन को होना ही चाहिए, क्योंकि दुनिया में जितने पदार्थ हैं उन सबसे सूक्ष्म तत्त्व है ज्ञान। इसलिए इसमें यह हो गया तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।

(६८) ज्ञान की सूक्ष्मता और सर्वव्यापकता—ज्ञान की व्यापकता समझने के लिये एक प्रश्न रखते

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कि बताओ स्थूल अधिक व्यापक होता है कि सूक्ष्म अधिक व्यापक होता है ? तो साधारणतया लोग वह बैठेंगे कि देखो—स्थूल में सूक्ष्म समा जायगा, इसलिए स्थूल अधिक व्यापक हुआ। लेकिन बात ऐसी नहीं है। सूक्ष्म में स्थूल समा जाता है। इसे समझने के लिए व्यावहारिक उदाहरण ले लो—यह मध्यलोक की दुनिया, यह पृथ्वी पानी से घिरी हुई है ना ? हां घिरी हुई है यह तो सभी लोग जानते हैं। अब बताओ पानी पतला है कि पृथ्वी ? पानी पतला है। तो पानी व्यापक है, पथ्वी व्यापक नहीं। जैनसिद्धान्त के अनुसार भी देख लो—मध्यलोक की पृथ्वी जम्बू द्वीप एक लाख योजन का है और उसे घेर कर जो लवण समुद्र है वह एक तरफ दूना फिर दूसरी तरफ दूना और फिर घेरा कितना बड़ा हो गया ? उस समुद्र के बाद दूसरा द्वीप दूना है, फिर उससे दूना समुद्र है। इस तरह द्वीप और समुद्र और और भी आगे बढ़ते गए, आखिर में सबसे अन्त में है स्वयंभूरमण समुद्र। स्वयंभूरमण समुद्र का जितना विस्तार है उतना विस्तार सब द्वीप समुद्रों को मिलाकर भी नहीं है। तो देखो पृथ्वी से जल सूक्ष्म है। वह व्यापक है। और जल और हवा में व्यापक कौन है ? जल से हवा सूक्ष्म है तो जल से भी व्यापक हवा है। हवा से सूक्ष्म है आकाश। इस आकाश के अन्दर यह सारी हवा भरी है। अब बताओ इस आकाश से भी बढ़कर और कोई व्यापक चीज है कि नहीं ? है क्या ?…ज्ञान। यह ज्ञान इतना व्यापक है कि इसमें चाहे कितने ही ऐसे ऐसे लोक समा जायें फिर भी कम हैं। देख लो इस ज्ञान की सूक्ष्मता। तो सूक्ष्म में स्थूल समा जाता है अत: स्थूल से सूक्ष्म अधिक व्यापक है। इस ज्ञान की बड़ी महत्ता है। ज्ञान ही एक सारभूत तत्त्व है, लेकिन उसका उपयोग नहीं करते। उपयोग करते हैं रागद्वेष मोह का, विकल्पों का। सब खारा खारा ही स्वाद लेते हैं, अपने आपके ज्ञानामृत का पान नहीं करते।

(९९) सुविधा की दशा में भी चूक—देखो भैया ! कैसी दयनीय दशा बन रही है कि अपना परमात्मस्वरूप अपने अन्त: बिराजमान है, जिसके प्रसाद से अनन्तकाल के लिए संकट छूट सकेंगे, उसके लिये तो अपना जीवन नहीं मानते और जीवन मानते हैं विषके लिए, मेल के लिए, धन के लिए। सब कुछ अपना न्यौछावर करने को तैयार हैं परिजनों के लिए। अभी घर का कोई बालक बीमार हो जाय तो चाहे घर का सब जायदाद खतम करके कर्ज भी लेना पड़ें उसके पीछे लगाने को तैयार रहते हैं। तो लोगों ने अपना जीवन किसके लिए माना ? मोह ममता के लिए, धन वैभव कमाने के लिए, तो बतलाओ इससे बढ़कर भूल ओर क्या है ? सबसे बड़ी भूल यही है। इससे बढ़कर भूल और क्या कहें ? किसी मनुष्य के आगे एक ओर खल का टुकड़ा रख दिया जाय और एक ओर हीरा जवाहरात रख दिया जाय और कहा जाय कि भाई तुम इन दोनों चीजों में से तुम्हें जो चीज पसन्द हो उठा लो। अगर वह खल का टुकड़ा उठाता है तो क्या उसे आप विवेकी कहेंगे ? अरे उसे तो आप पागल कहेंगे। तो इसी तरह समझिये कि यहां मेरे सामने दो चीज हैं विष और अमृत, विभाव और स्वभाव। यहां मानो कोई यह कहे कि भाई तुम क्या लेना चाहते हो ? इनमें से तुम्हें जो चीज पसन्द हो सो उठा लो और यह परमात्मा कह रहा है कि देख ! केवल तेरी दृष्टिमात्र से तुझे वह चीज मिल जायगी। विष लेना चाहे तो विष मिल जायगी और अमृत लेना चाहे तो अमृत मिल जायगा। और अगर वह यह कहे कि भाई मुझे तो विष लेना है तो बताओ उसकी मूर्खता पर हसी आयगी कि नहीं ? और हंसी भी किसे आयगी ? ज्ञानी को। अज्ञानी जन चाहे थोड़ा ठीक भी समझ लें पर ज्ञानीजन तो उनकी इस तरह की प्रवृत्ति देखकर हंसेंगे ही। ज्ञानी जन अपने आपका भी पछतावा करते और संसार के अज्ञानी जीवो को देखकर भी पछतावा कर रहे कि देखो ये अज्ञानी प्राणी कैसा अपने उपयोग से चिगकर बाह्य में उपयोग लगाकर हैरान हो रहे हैं ? उन अज्ञानीजनों को तो इसका कुछ पता ही नहीं है। उन्हें तो पछतावा करने तक की भी बुद्धि नहीं है। ऐसी एक बात कही गई है अलंकार में कि ज्ञानीजन बड़ा पछतावा करते हैं। ज्ञानी-जन कभी दु:खी नहीं होते। वे तो बड़े कष्टों के बीच रहकर भी अपने को दु:खी नहीं मानते।

(१००) **अलखनिरंजन आत्मदेव का प्रसाद**—ज्ञानी जानते हैं कि मैं आत्मा एक अलख निरंजन हूं। यह आत्मा अलख है अर्थात् इन्द्रिय द्वारा देखने में नहीं आता और निरंजन है अर्थात् उसमें किसी प्रकार का अंजन नहीं है किसी परपदार्थ का लगाव नहीं है। जैसे गरम पानी रखा हुआ है और आपसे पूछें कि बताओं इस जल का स्वभाव ठंडा है कि गरम तो आप भले ही कहें गरम, पर उस जल का स्वभाव गरम नहीं है। स्वभाव तो उसका ठंडा है। आप कहेंगे की अच्छा दिखलाओ कहां ठंडा है? तो उसे यों आंखों से नहीं दिखाया जा सकता। उसे तो ज्ञान द्वारा ही समझाया जा सकता है। अथवा एक और उदाहरण ले लो—जैसे कहा गया कि देखो यह दो सेर दूध है, बताओ इसमें कितना घी है? तो किसी पारखी ने बता दिया कि इसमें तो २ छटांक घी है। अब कोई कहे कि अच्छा दिखाओ तो उसे यों नहीं दिखाया जा सकता। अब दूध को मथकर घी निकालने की जो विधि है उस विधि से चलें तो घी निकले। तो इसी प्रकार से समझ लो कि मेरे अन्दर वह परमात्मतत्त्व विराजमान है। उसे कोई कहे कि दिखाओ—तो वह यों नहीं दिखाया जा सकता। उसके देखने की जो विधि बतायी गई है उस विधि से चलेंगे तो वह परमात्मतत्त्व दिखाई देगा। अब पड़े तो हुए हैं अज्ञानमय विष की ओर और देखना चाहे परमात्मतत्त्व, तो वह कैसे दिखेगा? उस परमात्मतत्त्व को देखने की जो विधि बताई गई है ज्ञानाभ्यास करना, तत्त्वाभ्यास करना उस विधि से चलेंगे तो उस परमात्मतत्त्व के दर्शन हो सकते हैं। देखो जो जिस धर्म (मजहब) में पैदा हो गया वह उसके ही गुण गाता है। ईसाई कहते कि हमारा धर्म अच्छा है। जैनी कहते कि हमारा धर्म अच्छा है। मुसलमान कहते कि हमारा धर्म अच्छा है। यों जो जिस मजहब में पैदा हो गया वह उसकी प्रशंसा करता है। यह तो एक मनुष्यों की आदत है। इससे अनेक लोग इस उल्झन में पड़ जाते कि देखो सभी मजहब अपनी अपनी गाते हैं, तथ्य क्या है किस धर्म पर चलें? कुछ समझ में नहीं आता। तो भाई अगर अपनी यह उल्झन मिटाना है तो इस ख्याल को छोड़ दो कि हम किस मजहब में पैदा हुए और वहां क्या बताया गया। आप तो गुप्त ही गुप्त अपने अन्तः विराजमान परमात्मातत्त्व के दर्शन कर लो और अपना कल्याण कर लो।

(१०१) **वर्तमान परिणति का चिन्तन**—अपने आपके प्रति अपने पर ही दया करके अपनी भलाई के लिए यह सोचें कि हम वर्तमान में बुरी अवस्था वाले हैं या बहुत ठीक अवस्था वाले हैं थोड़ा बहुत विवेक से विचार करने पर मालूम होगा कि हमारी वर्तमान अवस्था भली नहीं है। मनुष्य हो गये, इतनी बात तो भली पा ली है, लेकिन रात दिन निरन्तर शल्य, चिन्ता, विपत्ति, मोह, विकल्प अनेक प्रकार के भार और सबसे बड़ी भारी बात गल्ती की तो यह है कि उल्टा ज्ञान कर रहे हैं। तो वर्तमान स्थिति हमारी भली नहीं है। मौज, आराम और विश्राम मानने जैसी स्थिति नहीं है। जैसे कि लोग थोड़ा सा सुख पाकर, थोड़ी सी कुछ सुविधा पाकर अपने को समझते कि हम बहुत मौज में हैं, बहुत आराम वाली स्थिति में हैं। इस संसार में आराम कहां है? जहां राजा भी मरकर कीड़ा बन सकता, कुत्ता भी मरकर देव बन सकता, बहुत ऊंचे बढ़कर नीचे दुर्गति की बात हो सकती ऐसे इस संसार में भलाई की क्या बात है? तो वर्तमान परिस्थितियों को देखो और उसमें सन्तोष न करो, मौज न मानो. भीतर में यह विचारो कि जो मेरी बुराइयां हैं वे कैसे दूर हों और कैसे हम उस सत्य आनन्द को पा सकें जो मेरा स्वभाव है' जिसे भगवन्तों ने प्राप्त किया। इन सब बातों पर संक्षेप से विचारें तो मानना होगा कि मेरे विरोध का बैरी, बिगाड़ करने वाले, ६ शत्रु हैं—मोह, काम, क्रोध, मान, माया और लोभ। बाहर मेरा कोई दुश्मन नहीं, कोई अनिष्ट नहीं, कोई शत्रु नहीं। जीव हैं, उनकी जैसी भावना है जो परिणाम है वह अपनी भावना के अनुसार अपनी परिणति बनाता है, उनकी परिणति उनके साथ है। उनकी परिणति से मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं होता। मेरे में ही दुर्भाव हो तो मेरा बिगाड़ होता है। यदि वे अपने आप में दुर्भावना बनाये हैं तो उससे मेरा बिगाड़ नहीं है। ऐसा वह दुर्भाव क्या है जिससे मेरी बरबादी हो रही है?

 http://www.jainkosh.org

वे हैं—मोह, काम, क्रोध, मान, माया और लोभ।

१०२) जीव का प्रथम बैरी मोह—जीव का प्रमुख बैरी है मोह। मोह का अर्थ है बेहोश हो जाना। जरा ध्यान से सुनो तो एक दिशा मिलेगी। मोह किसे कहते हैं? मोह का वास्तविक अर्थ क्या है—बेहोश होना। जैसे किसी मनुष्य ने शराब पी ली हो तो उसे कहते हैं कि यह बेहोश हो गया। कैसे समझा कि बेहोश हो गया? सही ज्ञान नहीं कर पा रहे हैं। कुछ, जानते हैं कुछ बोलते हैं कुछ, तो यही तो बेहोशी कहलाती है। तो अपने आपमें भी देखो कि है तो स्वरूप कुछ, मानते कुछ हैं तो इसी को बेहोशी कहते हैं, इसी का नाम मिथ्यात्व है इसी का नाम मोह है। जब तक मोह रहेगा, मिथ्यात्व रहेगा, बेहोशी रहेगी तब तक जीव का कल्याण नहीं हो सकता। प्रभु क्या है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र की मूर्ति है। यह रत्नत्रय का पूर्ण विकास उन्हें कैसे प्राप्त हुआ? सबसे पहिले उन्होंने भ्रम को दूर किया। मोह को मिटाया और बेहोशी दूर हुई। देखिये इस प्रसंग में मोह शब्द का मतलब प्रेम मत समझो। मोह का अर्थ प्रेम नहीं है। किन्तु बेहोशी है। बात कुछ है जानते और कुछ हैं, ज्ञान हो रहा है उल्टा, इसे कहते हैं मोह। यह शरीर भिन्न चीज है, मैं आत्मा अपना सत्त्व रखने वाला, अपने ही प्रदेशों में रहने वाला सबसे निराला पदार्थ हूं भिन्न भिन्न दो वस्तु हैं लेकिन देह को निरख कर मानना कि यह मैं हूं, इसी से मेरा जीवन है, इसी से मेरी सत्ता है, देह न रहेगा तो मेरी सत्ता भी न रहेगी। ऐसा मोह बना रखा है, बेहोशी कर रखी है। होता क्या है कि बात कुछ है जानते कुछ हैं। शरीर भिन्न है, निराला है और मान रहे कि यह ही मैं हूं, उससे अभेद समझ रहे हैं तो इसी को कहते हैं मोह, और भी देखिये। बाह्य पदार्थ अणुमात्र भी मेरे नहीं हैं लेकिन मान रहे हैं कि यह सारा वैभव मेरा, घर मेरा, सम्पत्ति मेरी, तो है तो बात है कुछ और मान रहे हैं कुछ, इसी के माने है बेहोशी, इसी को कहते हैं मोह। यही कहलाता है मिथ्यात्व। अब विचार करें तो ऐसा मोह, मिथ्यात्व कैसे दूर होता है? अज्ञान से मोह हो तो अज्ञान मिटावो तो मोह मिट जायगा। अज्ञान मिटने पर क्या प्रकाश मिलता है कि जगत में जितने भी पदार्थ है वे सभी पदार्थ अपनी अपनी सत्ता लिए हुए हैं। किसी पदार्थ का कोई दूसरा पदार्थ न कर्ता है, न भोक्ता है, न स्वामी है। प्रत्येक पदार्थ वे अपने आपके स्वामी हैं, अधिकारी हैं अपने आपके ही करने वाले हैं, भोगने वाले हैं। एक वस्तु दूसरे पदार्थ का स्वामी नहीं, यह बात जब स्पष्ट दृष्टि में आ जाय तो उसके मोह नहीं रहता। संसार में जितने भी क्लेश हैं सब मोह मूलक है। देखिये जब उल्टा ज्ञान चलता है तो सोचेंगे कोई लोग की ज्ञान उल्टा कर रहे तो दुःख क्यों होता पर स्वभाव ही यह है अगर विपरीत ज्ञान है तो नियम से क्लेश है। देह को ही मान रहे कि यह मैं हूं, बस इस बुद्ध में स्वभावतः क्लेश है। यह पर्याय जो मनुष्यभव में पाया है, यह सदा रहने वाली नहीं है, लेकिन लोग विश्वास लिए हुए हैं कि सदा रहेगा, बस इस गल्ती के कारण क्लेश तो होगा ही। क्लेश तब होता है कि वस्तु हो और प्रकार और जानते, मानते हों और प्रकार, तो वहां नियम से क्लेश होता है। इन सब गल्तियों का नाम मोह है, बेहोशी है, मिथ्यात्व है।

(१०३) मोहविनाश का अपूर्व लाभ—मोह का जहां विनाश होता है वहां ऐसा प्रकाश रहता है कि मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप इस देह से भी निराला हूं। मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूं, कर्मों से निराला, विषय कषाय, इच्छा, तरंग विचार जो कुछ भी मेरे में चंचलतायें हैं, जो कुछ भी अस्थिरभाव है उन सबसे निराला मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूं। यह प्रकाश होता है सम्यक्त्व में, सम्यग्ज्ञान में। तो मोह मिटे तो इस जीव की बरबादी दूर हो सकती है। अन्यथा जन्म-मरण के संकट बराबर इसके रहे आयेंगे। एक बात, देख भी लीजिए—हम आप पर अगर कोई वास्तव में संकट है तो जन्ममरण का। यह बहुत बड़ी विपत्ति है हम आपपर। कुछ सोच करना चाहिए, कुछ विचार करना चाहिए कि जन्म मरण मेरे कैसे दूर हों। जन्म मरण कैसे दूर हों? बहुत बढ़िया उपाय

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

समाधितन्त्र में बताया है कि जन्म मरण का यह अर्थ है कि देह का मिलना सो जन्म और देह का दूर होना सो मरण। जो इस देह में आत्मबुद्धि करता है, यह देह ही मैं हूं ऐसा अनुभव करता है उसे देह मिलते रहेंगे। इसी के मायने है कि जन्म होते रहेंगे और जो अपने देह से निराले ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्व का अनुभव करता है—यह हूं मैं ज्ञानप्रकाश मात्र, देह मैं नहीं, देह से उपेक्षा होगी, देह को अपना मानेगा तो यह बोझा न रहेगा, इसके माने है कि जन्म मरण मिट जायगा। यह सब करने के लिए हमको बड़ा संयत होने की आवश्यकता है, और वह केन्द्रित और संयतपना अपने आपके ज्ञान में चाहिये। तो यह मोह इस जीव का बहुत बड़ा दुश्मन है। वेहोशी होना, सच न जान सकना, झूठा ही ख्याल बनना, ये इस जीव की बरबादी के कारण बन रहे हैं।

(१०४) मोह की कठोर प्रेरणा—मोह, विभ्रम को एक दृष्टान्त से समझिये—एक गांव में गांव के अन्त में एक बढ़ई का घर था। (यह घटना सच है जो बतला रहे हैं) तो मुसाफिर जब उस गांव में जाय तो पहिले उस बढ़ई का ही घर मिलता था। उससे ही पूछें कि भैया अमुक गांव का रास्ता कौन है? तो वह बढ़ई उल्टा रास्ता बता देता था। जैसे रास्ता हो तो पूरब का और बता देता था पश्चिम का। और साथ में यह भी बता देता था कि देखो इस गांव में तुम आगे जावोगे तो गांव के सब लोग मस्खरे हैं। तुम जिससे रास्ता पूछोगे वह उल्टा ही बतायगा। तो देखो—एक तो जाना उसने उल्टा और इस पर भी यह जाना कि और लोग उल्टा ही बतावेंगे। तो आगे जाकर और लोगों से पूछता है—भाई अमुक गांव का रास्ता कौन सा है? तो वे लोग जो सही रास्ता था, मानो पूरब की ओर का सही रास्ता था तो पूरब की ओर का ही बताते थे। उस मुसाफिर ने समझ लिया कि वास्तव में बढ़ई ठीक ही कह रहा था कि इस गांव के लोग सब मस्खरे हैं, उल्टा ही रास्ता बतावेंगे। आखिर वह उल्टा रास्ता चलने से हैरान ही हुआ। तो ऐसे ही समझिये कि इस मोह में होता क्या है कि यह जीव उल्टा ज्ञान करता है और उसपर भी समझता है कि मैं बिल्कुल सही जान रहा हूं, मैं बड़ा चतुर हूं, ठीक हूं, मोह की यह दशा है। तो यह जीव इस मोह से बरबाद हुआ। चाहिये यह कि मोह न करें। मोह मेटने में एक थोड़ी यह दृष्टि लगायें कि मैं जो हूं भीतर तो आखिर हूं किस प्रकार का? हूं तो मैं जरूर। जैसे बाहर में ये चीज हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक अनेक प्रकार की हैं, ऐसे ही भीतर में मैं हूं, जिसमें होने का प्रत्यय होता है। वह हूं क्या मैं रूप रंग वाला? अगर रूप रंग वाला होऊं तो उसमें ज्ञान की बात नहीं आ सकती। वह है केवल एक ज्ञान ज्ञानमात्र। कैसा विलक्षण पदार्थ हूं मैं कि केवल ज्ञान ज्ञानस्वरूप है और प्रदेश उसके बन गये हैं, उसकी अवगाहना भी हो गयी है। है केवल ज्ञान ज्ञानस्वरूप तो अपने को केवल ज्ञान स्वरूप निहार लेना, समझ लेना, विचारना, चिन्तन करना इस ही में वे सब कलायें आ जाती हैं जो कलायें हमको मोक्षमार्ग के लिए चाहिए। मैं ज्ञानमात्र हूं, मेरा ज्ञानस्वरूप ही है, और कुछ नहीं है। मैं केवल ज्ञान को ही करता हूं, अन्य कुछ नहीं करता। मैं केवल ज्ञान को ही भोगता हूं, अन्य कुछ नहीं भोगता। ये चार निर्णय उसके यथार्थ हो जाते हैं। मैं क्या हूं, मेरा क्या है, मैं क्या करता हूं और मैं क्या भोगता हूं? यह ज्ञानप्रकाश जब जीव को नहीं होता तो मोह रहता है, मिथ्यात्व रहता है। तो बरबादी का मूल कारण है मोह। इसी को भ्रम भी बोलते हैं। जीव के ६ दुश्मन हैं—इसका तो बाहर में कोई दुश्मन नहीं। यह बात चल रही है। लोग कभी कभी मानते हैं कि यह भाई मेरे बैरी हैं, विरोधी हैं, प्रतिकूल हैं पर कोई मेरे प्रतिकूल नहीं, कोई मेरा बैरी विरोधी नहीं। उन भाइयों के चित्त में स्वयं जिस तरह शान्ति मिल सकती है उस तरह वे अपनी चेष्टा करते हैं, उसके प्रतिकूल कुछ नहीं कर रहे, किन्तु उनको जैसा कहने में, जैसा चलने में, जैसा सोचने में वे शान्ति पा सकते हैं वैसा करते हैं। उनकी ऐसी दृष्टि है कि इस तरह मन वचन काय की चेष्टा करने में मेरे को शान्ति साता सुख मिलेगा, उसके अनुसार वे अपनी प्रवृत्ति करते हैं। वे किसी की प्रतिकूलता के कारण नहीं करते। वास्तविकता यह है। तो जगत मे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

जितने भी मनुष्य हैं वे हैं, उनका उदय है, उनकी इच्छा है। अपनी इच्छा के अनुसार वे अपनी परिणति बनाते हैं, अपनी शान्ति के लिए बनाते हैं, मेरे कोई प्रतिकूल नहीं। मेरा कोई भी जीव विरोधी नहीं हैं। यह दिखता है ज्ञानी पुरुष को। तो पहिली बात मोह दूर करने की बतायी।

(१०५) जीव का द्वितीय बैरी काम—दूसरी गल्ती है काम। काम का अर्थ है भीतर में स्त्री पुरुष सम्बन्ध विषयक जो भावना रहती है, विकार रहता है उसे कहते हैं काम। देखो अगर देह में बुखार हो गया तो तकलीफ होती है, ठीक है, विकार है' तकलीफ है, खांसी है, तकलीफ है, फोड़ा-फुंसी है, तकलीफ है, मगर काम के विचार में इस देह को क्या तकलीफ है जो यह इतने कष्ट मानता है। इतनी तकलीफ मानता है कि उस काम के लिए भोजनपान भी छोड़ देता है। जैसे पुराण पुरुषों में कितने ही उदाहरण ऐसे आये कि अमुक ने अमुक का चित्रपट देखा तो वह कामविह्वल हो गया, उसने अपने मन में उससे मिलना ठान लिया, खाना पीना भी छोड़ दिया। तो इस काम में ऐसी विकट तकलीफ है, पर कौन सा ऐसा बड़ा कष्ट शरीर पर आया जिससे वहां कष्ट माना जा रहा है? अरे कोई कष्ट नहीं है, मगर उसके मन में कुबुद्धि उत्पन्न हुई, मन में विकार भाव आया, विकृत परिणाम आया कि इस तरह से मेरे को शान्ति मिलेगी बस तकलीफ में पड़ गया। तो दूसरी गल्ती है जीव में काम विषयक भाव। जब बड़े लोग होते थे, राजा लोग, जिनके पास बहुत बड़ा साम्राज्य होता था, उनके पास तकलीफ की कोई बात न थी। सब प्रकार के साधन थे। उनकी हुकूमत चलती थी। तो ऐसे उन राजाओं के और उन राजपुत्रों के कामविषयक वासनाओं का बहुत बड़ा कलह मचा रहता था। तो यह काम भी जीव का बैरी है।

(१०६) जीव का तृतीय बैरी है क्रोध—जीव का तीसरा बैरी है क्रोध। इस क्रोध को तो कवि जनों ने चाण्डाल बताया है। उसके लिए एक कविता टूटे-फूटे शब्दों में आयी है, वह कविता यद्यपि अशुद्ध है, पर इसी तरह से चली आयी है। कहते हैं कि "पक्षीनां काक चाण्डाल, पशू चाण्डाल गर्दभः। मुनीनां कोप चाण्डालः, सर्व चाण्डाल निन्दकः।" याने पक्षियों में चाण्डाल कौवा को बताया है। पशुओं में चाण्डाल गधे को बताया है। गधे को पहिले बहुत खराब माना जाता था। उसको कोई लोग नहीं छूते थे। वह खोटी जगह में रहता था इसलिए उसे चाण्डाल कहा जाता था। मुनियों में चाण्डाल बताया है क्रोध को और सबसे अधिक चाण्डाल बताया है निन्दक को याने दूसरों की निन्दा करने वाले को। जरा इन बातों पर दृष्टि दें—हम अपने परिणाम को अगर देवदर्शन में ही लगाये रहें। केवल परकी निन्दा निन्दा में ही अपना समय गुजरता हो, जिसे कहते हैं गप्प। हम किसी की निन्दा करें तो निन्दा करने की प्रकृति करनी पड़ी तो इतना तो तुरन्त निश्चित है कि हमारी दोषों पर दृष्टि है, और जिस उपयोग की दृष्टि दोष पर है वह उपयोग दोषमय हो गया है। मेरे को दोष से कोई स्पर्श नहीं करना है। दोष से मेरे को किसी भी प्रकार का सम्बन्ध न बने। मेरे को दिखे तो गुण दिखे। जीव में क्या गुण नहीं है, जीव भगवत् स्वरूप है, उसमें वह ही गुण है जो प्रभु में गुण है और व्यवहार दृष्टि से प्रत्येक जीव में गुण कुछ न कुछ अवश्य होते हैं। अब उनमें से गुणों पर दृष्टि न जाय और केवल एक दोष पर ही दृष्टि हो तो उस अवस्था से इस दृष्टि से मिलता कुछ नहीं है, बल्कि उपयोग में दोष आया है, इसी प्रकार जब क्रोध आता हो तो इस क्रोध से कोई लाभ नहीं मिल पाता, किन्तु सारे प्रदेश बेचैन हो जाते हैं। तो तीसरी गल्ती है जीव की क्रोध। यह क्रोध कषाय इस जीव के सारे गुणों को फूंक देता है। सारे गुण हों किसी में और क्रोध करता हो तो उसमें सुन्दरता भी नष्ट हो जाती है। कोई पुरुष अथवा महिला देखने में बहुत ही सुन्दर हो, रूपवान हो और उसकी क्रोध करने की आदत हो, मुख चढ़ा रहे, आंखें चढ़ी रहें तो उसमें आप सुन्दरता के दर्शन नहीं पा सकते। तो क्रोध एक ऐसी बुरी भावना है कि जिससे सारे गुण फुंक जाते हैं। तो तीसरा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दुश्मन है क्रोध।

(१०७) **जीव को चतुर्थ बैरी मान**—चौथा दुश्मन है मान। मान कहते हैं घमंड को, मैं हूं, देखो जब पर्यायबुद्धि हो तब ही तो अहंकार होता है। भीतर में अगर यह दृष्टि हो कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, मेरे को तो कोई यहां जानने वाला भी नहीं है। जो लोग जानते हैं वे इस देह को जानते हैं, वे इस पर्याय को जानते हैं, इस ही सकल को जानते हैं, पर मैं तो सकल से रहित केवल ज्ञानाद्वैतमात्र हूं इस प्रकार अपने को ज्ञानप्रकाशमात्र जब मान पाता है और जो प्रकाश पाया है उसमें ही अहं का अनुभव करता है तो वहां घमंड दूर हो जाता है। तो इस तरह पर्याय बुद्धि जो जीवों में चलती है वह तब तक है जब तक की वस्तु की सत्ता का सही ज्ञान न हो। जहां वस्तु के सत्त्व का सही बोध हो गया, मैं एक ज्ञानमात्र अपने ही प्रदेशों में रहने वाला, अपने आप में ही परिणमने वाला, अपने आपकी पर्याय में जाते रहने वाला हूं, इसके आगे मेरा कहीं अधिकार नहीं है, बाहरी पदार्थ जितने भी हैं वे सब अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए हैं, वे अपने में ही उत्पाद व्यय करते हैं, दूसरा अधिकारी नहीं है, जहाँ यह बोध हुआ कि यह देह परमाणुओं का पुञ्ज है, इसका परिणमन इसमें है, इससे मेरे में कुछ नहीं आता, मेरा इस में कुछ नहीं जाता। भले ही आज सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध निमित्त में हम परेशान भी हो जाते हैं, लेकिन यहां प्रयोजन को तकना होगा। आत्मा की पर्याय आत्मा में हो रही है, देह की परिणति देह में हो रही है। देह की परिणति मुझ आत्मा में नहीं, मेरी परिणति देह में नहीं, ऐसे स्वतन्त्र अस्तित्व का जहां भान होता है वहां पर्याय बुद्धि छूटती है, पर ऐसा भान करने के लिए हमको चाहिए तत्त्वाभ्यास व वस्तुस्वरूप की चर्चा। और ऐसे ही अभ्यास के प्रेमी दो-चार लोगों का संग भी चाहिये कि जो समय समयपर चेत आये, समय-समयपर पर्यायबुद्धि से दूर होने की प्रेरणा दे तो ऐसा वातावरण, ऐसा हमारा अभ्यास, ऐसा हमारा संस्कार, सत्संग ये सब हमारी पर्यायबुद्धि को दूर करने में समर्थ हो सकते हैं। तो पर्यायबुद्धि जहां है वहां मान कषाय भी है।

(१०८) **जीव का पञ्चम बैरी कपट**—माया कषाय क्या? छल कपट। छल कपट का अर्थ है—वस्तु की प्राप्ति की इतनी उत्सुकता होती है कि न्याय अन्याय कुछ न गिनकर धन वैभव इज्जत पोजीशन की प्राप्ति करने की भावना बनी रहती है सो किसी भी परभाव के सम्बन्ध में मायाचार की बात लगाना। जैसे कभी बड़प्पन भी चाहा हो तो उस बड़प्पन को कायम रखने के लिए अनेक प्रकार के मायाचार करने पड़ते, यश बनाने के लिए भी मायाचार करते हैं। मायाचार का अर्थ है—मन में कुछ है, वचन में कुछ है और शरीर से चेष्टा कुछ और करते हैं। यही एक मायाचार की मुद्रा है, लेकिन ज्ञानी पुरुष जिन्होंने यह जाना है कि मेरा काम तो केवल ज्ञानदर्शन की सिद्धि करना है, मैं ज्ञानमात्र हूं यही मेरे ज्ञान में रहे और उस ज्ञान के अनुकूल ही मेरा बर्ताव हो, ज्ञाता दृष्टा रहूं, बेहोशी न रहे, ऐसी भावना और उत्सुकता ज्ञानी पुरुष की होती है। उसमें मायाचार नहीं होता। मायाचार एक ऐसी वस्तु है, ऐसा परभाव है कि यह चाहता है छुपाना लेकिन यह मायाचार छुपाने से छुपता नहीं है। भले ही कुछ समय के लिए मायाचार से अपनी बात को छुपा लें, लेकिन बहुत समय तक यह बात नहीं चलती। संग में प्रसंग में, संसर्ग में रहने वाले लोग ताड़ जाते हैं कि इसका तो यह मायाचार है। यह तो एक छल कपटी की बात है। तो जो छलकपट हमें तुरन्त भी दुःखी करे, भविष्य में भी दुःखी करे, लोगों से भी जिसके कारण चित्त हट जाय, ऐसे छल कपट से लाभ क्या है? तो जीव के बैरियों में एक बैरी है छल कपट।

(१०९) **जीव का छठा बैरी लोभ**—छठवां बैरी है लोभ। लोभ कहते हैं—बाह्य वस्तुओं से इतनी ममता होना कि उनके बिना अपना जीवन न समझ सकना और कभी किसी प्रसंग में योग्य कार्य में, दीन दुखियों के उपकार की कोई घटना सामने हो तब तक भी उसके त्याग की बुद्धि नहीं आना। इसे कहते हैं लोभ कषाय।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यों तो लोभकषाय का रंग १० वें गुणस्थान तक रहता है। करणानुयोग में बताया है कि द्वेष पहिले मिटता है और राग बाद में मिटता है। द्वेष तो मिटता है ९ वें गुणस्थान में और राग मिटता है १० वें गुणस्थान में। इससे समझिये कि राग का रंग जीव में ऐसा गहरा होता है, न जाने किस रूप में उमड़ जाय। यश का राग बनाना, सम्पदा का राग बनाना। जिस किसी का भी राग हुआ बस वह एक विपत्ति है। तो इस जीव के ये ६ बैरी हैं—मोह, काम, क्रोध, मान, माया और लोभ।

(११०) सम्यक् ज्ञान से अहिंसा का मेल—देखिये—जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा जान लो—इसमें आपको क्या कष्ट आया है ? और वैसा जानना ही पड़ेगा, वैसा जानकर रहेगा ही जब कि एक सही बुद्धि रहेगी। कल्याण की भावना यदि होगी तो नियम से पदार्थ का सम्यग्ज्ञान होना ही पड़ेगा सो ज्ञान में बस यह श्रद्धा बनावें कि जगत के सब जीव स्वतन्त्र हैं। यहां जिन जिनका सम्बन्ध हुआ है वे सब जीव अपना-अपना भाग्य लिए हुए हैं। उनके भाग्य से काम होता है जिस जिसके उपभोग में सम्पदा आती है उन-उन सबका पुण्य ही उस कमाई का कारण होता है। मैं धन नहीं कमा सकता। मैं बाह्यवस्तु को कमाने का अधिकारी नहीं। वे तो पुण्य के उदय में प्राप्त हो जाते हैं। जिसका जैसा पुण्य का उदय है उसके अनुसार ये बाह्यपदार्थ आयेंगे। ऐसा ही सहज मेल होता है कि उन सबके पुण्ययोग से वह सब कमाई होती चली जाती है, मैं तो केवल कल्पनायें भर करता हूं, उपयोग की वृत्ति भर करता हूं, कैसा ही उपयोग बन रहा हो, कैसा ही विकल्प कर रहे हो, केवल मैं ज्ञान की परिणति को करता हूं। बाहरी पदार्थों को नहीं करता। देखिये जब यह ज्ञान जगेगा बस अहिंसा का प्रादुर्भाव वहां से है। अहिंसा का अर्थ है उपयोग में (आत्मा में) विकार भावों का न आने देना। अविकार भाव होना इसका नाम अहिंसा है। जैसे लोग कहते हैं कि दूसरे को मारना हिंसा है। तो दूसरो को मार कब डाला ? जब मैंने पहिले अपना भाव बिगाड़ा तो वास्तव में अपने भाव बिगाड़ने का नाम हिंसा है, दूसरे जीव के प्राण हन गए तो इसका नाम वास्तव में हिंसा नहीं है, वह तो हिंसा का एक परिणाम हुआ है इस प्रकार से हिंसा कोई जीव कर सकता है तो वह अपनी कर सकता है, दूसरे की हिंसा नहीं करता। निश्चय से यह जीव अपने में ही विकार करता है तो अपनी ही हिंसा करता है, दूसरे जीवों का तो उनके उदयानुसार वैसा निमित्त जुड़ता है, बात बनती है पर इस जीव ने स्वयं पहिले अपना भाव बिगाड़ा तो इसने अपनी हिंसा कर ली। तो अपने भावों में विकार न आने का नाम अहिंसा है विकार आने का नाम हिंसा है। हिंसा से हम अपने आपको बरबाद किए जा रहे हैं। ये मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या आदिक जितने दुर्भाव हैं यह सब अपनी हिंसा ही तो है हम अपने आप में हिंसा करते जा रहे, अपने आप की हत्या कर रहे हैं, अपने आत्मा के जो गुण हैं उनका घात हो रहा है, हम वासनाओं की ओर बढ़ते चले जा रहे हैं यह है हमारी हिंसा। तो हम सम्यग्ज्ञान जगायें, मोह भाव को मिटायें और अपना यह निर्णय बनायें कि जगत के सब जीव भगवत् स्वरूप हैं। सबका स्वरूप एक समान है। कोई भी जीव मेरा बैरी नहीं है, कोई भी जीव मेरा विरोधी नहीं है। उन जीवों के स्वयं भाव लगा है अपने भावों के अनुसार वे अपना कार्य किया करते हैं। तो किसी भी जीव को विरोधी मत मानो, किसी भी जीव को प्रतिकूल मत मानो। प्रतिकूलता हो रही है इसलिए कि हम चाहते हैं विषयों को, पर वह बन रहा है उनमें बाधक। वह भी प्रतिकूल नहीं है किन्तु वह स्वयं अपने आपके अनुकूल बनना चाह रहा है, वह भी सुख शान्ति चाहता है, इसलिए वह अपनी उस ढंग की प्रवृत्ति करता है। वह मेरे से विरोध नहीं करता। ऐसी जगत के सब जीवों पर समता की दृष्टि हो, अपने आपको भगवान के स्वभाव की तरह अनुभव करें, सभी जीवों का स्वरूप भगवान के स्वरूप की तरह निरखें, और फिर जो कुछ कर रहे हैं अंधेर वह सब कर्मों की लीला है, प्रकृति का विकार है। जीव तो ध्रुव सहज स्वभाव में निरपराध है, यह बात अगर चित्त में आयगी तो कभी वह निरपराध हो जायगा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

और यह परमात्मस्वरूप को प्राप्त हो जायगा।

(१११) वास्तविक अहिंसा का आनन्दजनकत्व—हम सबकी एक ही भावना है कि सुख शांति आनन्द मिले। परन्तु इसके स्वरूप और उपाय पर भी सही विचार नहीं बनाते। अच्छा सोचिये विचारिये, जरा बताओ आनन्द कहां है—जहां आकुलता न हो। आकुलता कहां न होगी जहां आकुलता आने के साधन न हों। आकुलता के साधन क्या हैं? शरीर का सम्बन्ध, धन सम्पदा आदिक का मौज, परका सम्बन्ध, जन्ममरण का होना, अज्ञान होना, ये सब आकुलता के अन्तरङ्ग साधन हैं। अब आप ध्यान दीजिए कि देह न रहे, कषाय न रहे, बाह्य चीजों का लगाव न रहे तो क्या रहेगा? केवल एक वही आत्मस्वरूप। तो जहां केवल यह आत्मा ही रह जाय, शुद्ध आत्मा हो जाय, परम आत्मा हो जाय, बस ऐसी ही स्थिति में परम कल्याण है, यही शांति की चीज है। तब जिनको शांति की इच्छा है उनका यह ही तो कर्तव्य है कि वे ऐसा उपाय बनावें कि जिससे आकुलता के सारे कारण समाप्त हो जायें। इस उपाय को बताया महावीर भगवान ने। इसी कारण से हम आप अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर भगवान की उपासना में लगते हैं। भगवान महावीर ने क्या उपाय बताया कि जिससे आकुलता दूर हो? तो देखिये—इन सब उपायों को अगर सँक्षेप में कहा जाय, जो आजकल के व्यवहार में अकुलता के ही साधन बन रहे हैं उनसे भी हटने की दृष्टि से देखा जाय तो आप ३ विभागों में उन्हें बना लीजिए—अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह इन तीन बातों के व्यवहारिक नाते से भी अधिक आवश्यकता हो गई और इन तीन उपायों पर जो कोई चलेगा वह नियम से परम शान्ति पायेगा। पहिली चीज है अहिंसा। अहिंसा का क्या अर्थ है? हिंसा नहीं। हिंसा न होना सो अहिंसा है मगर हिंसा क्या और किसकी? हिंसा यह जीव स्वयं अपने आपकी कर रहा है, निश्चय से यह मानव अपने आपके आत्मा की हिंसा कर रहा है। कैसे? आत्मा का प्राण है चैतन्य शुद्ध ज्ञान। ज्ञान ज्ञानमात्र रहे, ज्ञाता रहे, रागद्वेष न हों, विकार न हों, यह तो है आत्मा की परम स्थिति, दया, स्वरक्षा और आत्मा में विकार आना यह है आत्मा की हिंसा। जब यह जीव क्रोध करता है तो बड़ा बेचैन हो जाता है। तो वह अपने आत्मा का घात ही तो हुआ। कोई घमंड करता है, दूसरे को तुच्छ समझता है, अपने को महान समझता है तो इस स्थिति में वह कितनी तरह के विकल्प मचाता है। परमात्मस्वरूप पर तो उसकी दृष्टि ही नहीं रहती। बाहर बाहर ही उसका उपयोग फंसा रहता है। तो यह आत्मा का घात है। मायाचार तो प्रत्यक्ष घात मालूम होता है। भीतर में यहां कितनी छल कपट की नीतियां बनायी जाती है। कैसा कैसा दूसरों के प्रति सोचा जाता है। इस मायाचार से तो यह जीव अत्यन्त परेशान रहता है। लोभ कषाय लालच यह भी आकुलता की जननी है और लोभ को तो लोग पाप का बाप कहा करते हैं। इसमें भी आत्मा का घात है। तो आत्मा का घात न होना सो अहिंसा है।

(११२) वास्तविक अहिंसाभाव आने पर व्यवहारशुद्धि की सुगमता—जो वास्तविक अहिंसा पालेगा उसका वैसा व्यवहार इतना स्वच्छ होगा कि दूसरे जीवों के प्राणों का घात न करेगा, दूसरों का दिल न दुखायगा। सबके प्रति अच्छा व्यवहार रखेगा। तो यह तो हुई व्यवहार अहिंसा। आज प्रत्येक जीव परेशान है घर के बाहर के झगड़ों से। सो सारा विश्व शान्ति की चाह करता है, लेकिन चल रहा है यह सब विश्वनीति से, पर उन्हें शान्ति तब मिलेगी जब शुद्धज्ञान बनायें और दृष्टि निर्णय बनायें। अहिंसा साधने के लिए सम्यग्ज्ञान की बहुत आवश्यकता है। सम्यग्ज्ञान न हो तो अहिंसा नहीं बन सकती, क्योंकि अहिंसा का मौलिक रूप तो यह है कि अपने अन्दर किसी प्रकार का विकार ही न आये, किसी जीव के सताने का अपना संकल्प ही न आये, विचार ही न बने। मैं किसी दूसरे जीव का दिल दुःखा दूँ या उसे बरबाद कर दूँ इस प्रकार का खोटा विचार तक न आ सके। यह बात बन सकती है सम्यग्ज्ञान द्वारा। जहां यह समझ आ गई कि मैं आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूं, अन्य कुछ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नहीं हूं, और ऐसे ही ज्ञानस्वरूप इस लोक में सभी आत्मा हैं, जहां सब जीवों का स्वरूप और अपना स्वरूप समझ में आ गया, समानता भी ज्ञात हो गई कि सब मनुष्य एक समान हैं, सब जीव एक समान हैं। स्वरूप से देखो तो सब जीवों में समानता की बुद्धि की गई और अपने आप में अपने आपका परिचय बनाया गया कि मैं स्वयं ज्ञानस्वरूप हूं, अपने में रहते हुए अपनी परिणति बनाता हूं, मेरा कर्ता कोई और दूसरा नहीं, दूसरे का कर्ता मैं नहीं। सब स्वतन्त्र जीव हैं, जहां यह ज्ञान हो गया वहां दूसरे के सताने के भाव उत्पन्न नहीं होते। तो आज आवश्यकता है इस अहिंसा की। कितनी अंधेर मच रही है कि लोग पशु पक्षियों की तो कुछ जान ही नहीं समझते, जिस चाहे पशु पक्षी को मार देते हैं। उन्हें मारना एक कौतूहल सा बना लिया है। जहां हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा हो इस बीच में ये विश्व के प्राणी सुख शान्ति की आशा करें, तो बात कैसे बन सकेगी। जहां एक जीव दूसरे जीव को दुःखी करने की चेष्टा करता है वहां कोई सुखी कैसे हो सकेगा? क्योंकि सुख कहीं बाहर से नहीं आता। सुख तो अपने आपके अन्दर से अपने सद्विचार से प्रकट किया जाता है। तो पहिली बात महावीर भगवान ने दुनिया को दी अहिंसा का सिद्धान्त। अहिंसक बनो। जो देश अहिंसक होगा वह शान्त और समृद्ध बनेगा, जो घर अहिंसक होगा वह शांत और समृद्ध बनेगा, निश्चयतः इस अहिंसा के बिना आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता।

(११३) अपने शाश्वत हित के प्रोग्राम का विवेक—एक बात और भी सोचिये लोग इन १०-५ वर्षों की तो चिन्ता करते हैं जिनका कि ख्याल है कि इतने वर्षों तक हम जिन्दा रहेंगे, लेकिन इस थोड़े से जीवन के बाद जो अनन्तकाल और सामने पड़ा हुआ है उस की कुछ भी फिकर नहीं है। अरे जितने जीवन की फिकर कर रहे उतने जीवन का भी तो कुछ भरोसा नहीं है कि कब तक चलेगा, पता नहीं अभी खत्म हो जायें। ऐसी घटनायें अनेक देखने को भी रोज रोज मिलती रहती हैं। कभी कोई जा रहा था, रास्ते में ही एक्सीडेंन्ट होने से मर गया, या हार्ट फैल हो गया, यों कितनी ही बातें प्रतिदिन सुनने को मिलती रहती हैं। तो क्या ऐसा हम आपको नहीं हो सकता? अरे किसी के भी जीवन का कुछ विश्वाश नहीं कि कब तक चले। जिस जीवन का कुछ विश्वाश ही नहीं है उसकी तो इतनी चिन्ता करते और जो आगे का अनन्तकाल सामने पड़ा हुआ है उसकी कुछ परवाह ही नहीं करते। अगर कोई अपने भविष्यकाल की बात को सोचे, अपने आपमें अपने आपपर करुणा करके यह बात चित्त में लायें कि मुझे तो ऐसा बनना है कि इस भव में भी शान्ति रहे और आगे भी अनन्तकाल तक शान्ति रहे, इसके अतिरिक्त मुझे कुछ न चाहिए। कभी ऐसा विचार बन जाय तो उसे मार्ग मिल जायगा जिस तरह कि यह शान्त हो सकता है। तो पहिला काम है सम्यग्ज्ञान जिसके बल से आत्मा में अहिंसा तत्त्व प्रकट होगा। सब जीवों के सुखी होने की भावना बनेगी। सीधी बात सुनना चाहो तो इसमें ही पहिले अपनी बात को परिपूर्ण बना लोगे कि मैं सब जीवों के सुखी होने की भावना करूं। जैसा मेरा जीव है वैसा ही संसार के समस्त जीवों का प्राण है। सब जीवों के प्राण मेरे ही प्राण के समान हैं। जैसा मेरा चेतन वैसा ही सबका चेतन। जैसे मेरे को दुःख होता वैसे ही सबको दुःख होता। उसके अतिरिक्त यह भी बात जानें कि मैं किसी को दुःखी नहीं करता, कोई मुझे दुःखी नहीं करता, जब ऐसी स्थिति है तो मैं दूसरे को दुःखी करने की भावना ही क्यों बनाऊं? जो सब जीवों के सुखी होने की भावना करता है वह अपने आप को सुखी कर सकता है। यह बात अगर विश्व के सब मानवों में आये, सब जीवों के सुखी होने की भावना करें तो फिर विश्व में शान्ति उत्पन्न होने में रंच भी विलम्ब न हो, लेकिन खेद की बात तो यह है कि जो आज नेता कहलाते हैं वे स्वयं इस प्रकार की भावना में रहा करते कि मेरे धन बढ़े, मेरी प्रभुता बढ़े। जो स्वयं अपने मन में इस प्रकार की भावना बनाये हैं, वे सब जीवों के सुखी होने की भावना को नहीं बना सकते। तो सबसे पहिली आवश्यकता है अहिंसा की।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(११४) अनेकान्त परिचय की अहिंसासाधकता—अहिंसा में बाधक, एक बात और आती है कि लोग अपने अपने धर्म पर झंझट करते हैं और उस धर्म के आधार पर सम्प्रदाय बन जाते हैं। जब तक यह सम्प्रदाय की भावना न हटे, जब तक यह संकुचित वृत्ति न दूर हो तब तक शान्ति का साम्राज्य नहीं बन सकता। वह भावना कैसे दूर हो ? उसके लिए चाहिए ज्ञान। और उसका प्रकाश देने के लिए भगवान महावीर ने सिद्धान्त बताया है अनेकान्त। देखो—जैसे हम अपने आप को कुछ बुद्धिमान समझते हैं—मैं जानता हूं, मुझमें तर्क पैदा होता है, युक्तियां समझता हूं, परीक्षा करता हूं, तो हूं मैं, जीव हूं, वैसे ही और भी तो जीव हैं, वे भी तो अपनी युक्ति और तर्कणा से परीक्षा किया करते हैं। जो मैंने सोचा वह मुझे सही जच रहा है। तो जो दूसरों ने सोचा वह उन्हें सही जच रहा। हम यहां वस्तुस्वरूप के विषय के धर्म की बात कर रहे हैं। जैसे कोई लोग हिंसा करते हैं, बलि चढ़ाने में धर्म मानते हैं, इसकी बात यहां नहीं कह रहे, उसका निराकरण तो अहिंसा ने कर दिया। हम तो एक धर्म के नाम पर जो सम्प्रदायिक झगड़े बढ़ रहे हैं उसकी चर्चा करते हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय वाला जो कुछ भी वस्तुस्वरूप के प्रति कह रहा है उस सबकी बात सच है। जरा उनकी दृष्टि का प्रयोग कर अपेक्षावाद का प्रयोग करके आप सुन रहे हैं तो आपको विदित हो जायगा कि इस दृष्टि से इनकी कितनी बात सच है। फिर एक बात यह भी समझ लेना चाहिए कि मैं किसी सम्प्रदाय का बनकर नहीं जिन्दा रहना चाहता, मैं अपने आत्मा का आत्मा बनकर जिन्दा रहना चाहता हूं। जब तक यह मनुष्यभव है तब तक मैं आत्मा का ही रिश्ता मानूँ। मुझ आत्मा को वह उपाय चाहिए कि जिससे शाश्वत दृष्टि मिले। केवल एक यह स्थिति बनावें। यह स्थिति तो अयुक्त है कि मैं हिन्दू हूं, मुसलमान हूं, जैन हूं, अमुक जाति का हूं। भले ही नाम जिनेन्द्रदेव ने प्रणीत किया है मगर लोगों ने कहा इसलिए नाम लें यह बात ख्याल में न रखें। मेरे आत्मा में क्या उपाय ऐसा है कि जो मेरे को शान्त करे ? वह उपाय है धर्म। उस धर्म को जिनेन्द्र देव ने कहा तो उसका नाम है जैनधर्म। ऐसा धर्म तो अनन्तकाल तक चलता रहेगा, क्योंकि वस्तु का स्वभाव कभी मिटता नहीं है, धर्म का नाम रखने में कोई आपत्ति नहीं, कुछ भी नाम रख लो मगर इसे जान लीजिए कि धर्म का नाम किसका है ? 'वत्थुसहावो धम्मो' वस्तु का जो स्वभाव है वह वस्तु का धर्म है। अब वस्तु का स्वभाव पहिचानने की तरकीब है अपेक्षा। जैसे कोई पुरुष कहते हैं कि जीव अनित्य है, क्षण क्षण में मिटता रहता है, नया-नया आत्मा उत्पन्न होता रहता है। ऐसा कहते हैं बौद्धजन। तो आप देख लीजिए वस्तु सत्स्वरूप होता है, अब कोई उत्पादव्यय से ही कहे कि आत्मा क्षण-क्षण में मरता है और क्षण क्षण में उत्पन्न होता है तो पर्याय की अपेक्षा से उनका यह सिद्धान्त सत्य उतरता है। जीव हो या पुद्गल हो या कुछ भी हो—क्षण-क्षण में नया-नया बनता चला जाता है। इसमें कौन आपत्ति आयी ? तो पर्याय दृष्टि से बौध धर्म की बात सत्य उतरती है। वेदान्ती जन कहते हैं कि आत्मा अपरिणामी है, रंचमात्र भी आत्मा का परिणमन नहीं होता। तो जरा आप द्रव्यदृष्टि से देखें कि पदार्थ सत् होता है, वह त्रिकालवर्ती स्वभावतः होता है। तो देखो द्रव्यदृष्टि से यह आत्मा अपरिणामी है, द्रव्यदृष्टि से सच तो उन्हें कह ही देते हैं। वस्तुस्वरूप के बारे में जो कोई जो कुछ कहे तो वह सब किसी न किसी नय से सच उतरता है। यह जैनशासन, भगवान महावीर का सिद्धान्त यह घोषित करता है कि भाई परस्पर में लड़ो मत, तुम्हारा भी कहना सत्य है, तुम्हारा भी कहना सत्य है। प्रमाण कर लो और प्रमाण करके इस विकल्प को छोड़कर इस शुद्ध आत्मा में विश्राम लो। यह बात बताया है महावीर भगवान ने। जिसे एक दृष्टान्त द्वारा समझिये—एक बार कोई चार अन्धे पुरुष कहीं जा रहे थे। रास्ते में उन्हें एक हाथी मिला। एक के हाथ में पेट पड़ा तो उसने कहा—ओह हाथी तो ढोल जैसा होता है, दूसरे के हाथ में पैर पड़े तो वह बोला—अरे हाथी तो खम्भा जैसा होता है, तीसरे के हाथ में कान पड़े तो वह बोला—अरे हाथी तो सूप जैसा होता है, चौथे के हाथ में सूढ़ पड़ी तो वह बोला—अरे हाथी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो मूसल जैसा होता है। वे परस्पर में झगड़ गए वे सब अपनी अपनी बात की पुष्टि कर रहे थे। वहां से कोई सूझता पुरुष निकला—पूछा कि भाई तुम आपस में क्यों झगड़ रहे हो ? तो उन्होंने अपनी अपनी बात कही। तो वह सूझता पुरुष बोला कि भाई तुम झगड़ो मत। बात तुम सबकी ठीक है। देखो—जिसने हाथी का पेट पकड़ा उसने समझा कि हाथी ढोल जैसा होता है, तो पेट की अपेक्षा से इनकी बात ठीक है, तुमने हाथी के पैर पकड़े सो ठीक है—हाथी पैरों की अपेक्षा खम्भा जैसा है। और तुमने हाथी के कान पकड़े सो ठीक है—कान की अपेक्षा से हाथी सूप जैसा होता है, और तुमने हाथी की सूढ पकड़ी तो ठीक है—सूढ की अपेक्षा से हाथी मूसल जैसा है। लो अनेकान्त पद्धति से उन चारों की समस्या सुलझ गई, झगड़ा खत्म हो गया, तो इसी प्रकार वस्तु के बारे में अनेकान्त द्वारा समस्यायें सुलझ जाती हैं। यह जैन शासन समस्त मानवों का द्वेष मिटा देने वाला है। धर्म तो एक वस्तु का स्वरूप है। उसका प्रतिपादन करने वाले अनेक नय हैं। उन नयों से अलग अलग बात कही जाती है। उन नयों से जो देखा जाता है वह बात सत्य है। उन नयों को समझ लें और समस्त सत्यों का प्रमाण करलें, फिर प्रमाणों का भी विकल्प छोड़कर केवल एक ज्ञाताद्दष्टा की स्थिति रह जाय और अपने अन्तः प्रकाशमान आत्मीय आनन्द का निरन्तर अनुभव करें। भगवान महावीर स्वामी का यह अनेकान्तरूप उपदेश कितनी गड़बड़ियों को खतम कर देता है।

(११५) अपरिग्रह की आनन्दसाधकता—भगवान महावीर की तीसरी बात थी अपरिग्रह की। आज तो लोगों के मस्तिष्क में बहुत-बहुत बातें बैठी हुई हैं। वे समझते हैं कि यदि मैं लखपति हो जाऊं तो मुझे सुख मिलेगा, करोड़पति हो जाऊं तो मुझे सुख मिलेगा। मगर उनका यह ख्याल गलत है। कहीं लाखों करोड़ों अरबों का धन जुड़ जाने से सुख शान्ति की प्राप्ति होती हो ऐसी बात नहीं है। शान्ति तो आत्मा का स्वरूप है। आत्मा अपने आपके स्वरूप को अपने ज्ञान में ले तो शान्ति पा सकेगा। शान्ति न कहीं बाहर से लाना है और न कहीं बाहर पायी जा सकेगी। वह तो अपने आप की अन्दर की चीज है। लोग सुख शान्ति की खोज कर रहे हैं बाहर में, बाहरी पदार्थों में तो वहां सुख शान्ति की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? भगवान महावीर ने सुख-शान्ति की प्राप्ति के लिए अपरिग्रहवाद को बताया है। उन्होंने दुनिया को उपदेश किया है कि हे आत्मन् ! तुम ज्ञानस्वरूप हो, उसकी सुध लो और जगत के समस्त संकटों से सदा के लिए छूट जावो। रही एक जीवन चलाने की बात। तो जीवन तो थोड़े से धन से ही चल सकता है। रही साज श्रृङ्गार की बात, प्रभुता पाने की बात तो भाई धन वैभव से तो किसी की प्रभुता होती नहीं। हां सदाचार हो, ज्ञान हो, वैराग्य हो तो उसकी प्रभुता है। भले ही धन वैभव वाले को उसके सामने न कुछ कह सकें, पर पीठ पीछे तो उसे बुरा ही कहेंगे भले ही वह दबाव डाले, किसी को अपने विरुद्ध न बोलने दे, पर उसके भीतरी विचारों को कौन रोक सके ? उसके विचारों में तो आयगा ही कि देखो यह कैसा कृपण है, कैसा दुष्ट है···। देखिये सभी लोग अपने अपने विचार करने में स्वतन्त्र हैं। विचार करने में कोई बाधा नहीं डाल सकता। भले ही कुछ लोग ऐसा सोचें कि इस विचार स्वातन्त्र्य से देश की हानि होती है—कहीं देश की निन्दा कर दे, कहीं देश की कोई गल्ती हो तो उसे भी अखबारों में निकलवा दे। देखिये जो पाकिस्तान सरकार अभी थोड़े दिन पहिले अपने आपकी बुद्धि से सारे काम करने में जुट गई, अन्याय नहीं छूटा, फल क्या हुआ कि आज पाकिस्तान टूट गया, स्वयं दुःखी हो गया। यह फल है विचारों की स्वतन्त्रता का। सरकार भी मनमानी नहीं हो सकती, तो अनेकान्त का सिद्धान्त यह विश्व को शान्ति देने में समर्थ है। अनेकान्त के बल से ये अपने आप का सम्यग्ज्ञान पा सकते हैं। उनका कर्तव्य है कि वे सम्यक्चारित्र में लगें, लोकव्यवहार सही बनायें, इससे महिमा बढ़ेगी, अपरिग्रहता बढ़ेगी, धन के अधिक बढ़ा लेने से प्रभुता न बढ़ेगी। अगर धन आता है तो आने दो। उसे हटाया न जायगा। जब पुण्य का उदय है तो आयगा ही, पर ऐसा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मुग्ध न होना चाहिए कि चाहे दूसरे लोग दुःखी रहें, दूसरों को कष्ट बना रहे और स्वयं धन को जोड़-जोड़कर उसे देख-देखकर खुश रहें। उससे कहीं आपको सुख नहीं मिल सकता। सुख मिलता है अकिञ्चन्य भाव से। सो यह अकिञ्चन्य भावना बनाइये—दसलक्षणधर्मों में अकिञ्चन्य भी एक धर्म बताया गया है। जहां यह भाव बनाया जाता है कि मैं अकिञ्चन्य हूं अर्थात् ज्ञानस्वरूप हूं, कोई बाहरी पदार्थ मेरे में कुछ नहीं लगा है। मैं सबसे निराला, केवल शुद्ध ज्ञानमात्र हूं विश्व के समस्त प्राणी भी मेरे ही स्वरूप के समान हैं, कोई मेरा शत्रु नहीं, इस प्रकार की भावना बने तो विश्व में शान्ति की स्थापना सुगमता से हो सकती है। नहीं तो विश्व में शान्ति की स्थापना नहीं की जा सकती। अरे सबके साथ कर्म लगे हैं। जिसका जैसा उदय होगा उसका वैसा होगा ही। कोई धनिक होगा तो कोई गरीब होगा, कोई मालिक होगा तो कोई नौकर होगा। अरे कर्म तो अपना फल देंगे ही। जो जैसे कर्म करेगा उसे वैसा फल मिलेगा ही? भला हो कि अध्यात्म की कोई ऐसी बात मिल जाय जिससे पापकर्म काटे जा सकें। इसलिए हमें इतना सावधान रहना चाहिए कि हम पाप कि बात न करें। पाप होता है मोह में, किसी वस्तु में ऐसा मोह बनाना कि इस बाह्य वस्तु से ही मेरा गुजारा है, इससे ही मेरा जीवन है। इससे ही मेरा महत्त्व है, और उन चीजों को खूब जोड़ जोड़कर ही रखें, उनका सदुपयोग न करें, उचित वितरण न करें, अगर ऐसा कोई करता है तो उसमें बहुत बड़ा पाप का बन्ध होता है। अपरिग्रहवाद हो, इनका दुरुपयोग तो न हो। दुरुपयोग यही कहलाता है कि सबको फक्कड़ बना दिया। इस तरह क्या साम्यवाद हो जायगा? अरे सब जीवों के साथ अपने-अपने पुण्य पाप के उदय हैं। भले ही कोई एक रास्ता बनाया जाय कि देखो तुम अधिक रोटियां न खावो, सब लोग बराबर बराबर खावो पर वहां यह साम्यवाद कैसे चल सकेगा? सबके साथ लगे हैं अपने-अपने कर्म। तभी तो कोई चपरासी होता है तो कोई बड़ा अफसर, कोई मालिक होता है तो कोई मजदूर। क्या किसी ने देखा है अभी तक जो समान बन सके हों? अरे ये सब जीव हैं. इनका जुदा जुदा भाग्य है, जुदा जुदा काम है। जिस जीव का जैसा उदय है वैसा काम होगा। इस साम्यवाद को कोई कानून के ढंग से या कोई जबरदस्ती करवाना चाहे तो वह होना कठिन है और अगर सम्यग्ज्ञान के बल से यह जीव अपने अन्दर समता धारण कर ले तो वहां साम्यवाद की बात बन सकती है। इस परिग्रह में आत्मीयता की भावना न रखें, अपना ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व अपनी दृष्टि में रखें तो उससे साम्यग्ज्ञान का प्रसार होगा, जगत में अपरिग्रह की बात आयगी, विश्व में सुख शान्ति की स्थापना हो सकेगी। इसके लिए चाहिए सम्यग्ज्ञान, सच्चा ज्ञान।

(११६) आत्मज्ञान में सम्यग्ज्ञान की पूरकता—सम्यग्ज्ञान के सम्बन्ध में संक्षेप में अगर समझना चाहें तो यह समझिये कि जहां अपने आपके आत्मा के सहजस्वरूप का निर्णय हो वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। बाहरी बातों का कोई ज्ञान बनाया तो उसका नाम सम्यग्ज्ञान नहीं। सम्यग्ज्ञान के लिए अभिप्राय विशुद्ध होना चाहिए, कलुषित अभिप्राय न होना चाहिए। सम्यग्ज्ञान हो गया, अब आप निर्णय कीजिए कि मैं क्या हूं, बाहर में बहुत से निर्णय बनाते हैं वैज्ञानिक लोग कि यह चीज ऐसी होती है यह रसायन ऐसा है। इसको इसमें मिलने का यह प्रभाव होता है। मगर जो स्वयं जाननहार है, जो स्वयं उसकी व्यवस्था बनाता है वह मैं आत्मा क्या हूं इसके बारे में ज्ञान न हो तो वह ज्ञान क्या कहलायगा? इसको तो यों समझिये कि जैसे किसी इन्सपेक्टर ने स्कूल में खबर भेजा कि हम अमुक तारीख को इतने बजे बच्चों की परीक्षा लेने आयेंगे। तो इधर मास्टरों ने क्या किया कि सभी बच्चों को दुनिया की सारी चीजों का खूब ज्ञान करा दिया। अमेरिका, रूस, जापान आदि में कहां कौनसा पहाड़ है, कौन सी नदी है, कहां क्या प्रसिद्ध है…,मगर जब इन्स्पेक्टर आया तो बच्चों से पूछा कि बताओ बच्चो तुम्हारे गांव में से जो नाला निकलता है वह कहां से निकला है? तो तभी बच्चे चुप रह गए। उन्हें यह बात पढ़ाई ही नहीं गई थी तो कैसे उत्तर देते, तो इसी तरह समझिये कि ये वैज्ञानिक लोग दुनिया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

की बाहरी बाहरी बातों का तो खूब ज्ञान करते हैं, अनेक प्रकार के आविष्कार करते रहते हैं, पर जो स्वयं जानन-हार है उसका भी कुछ ज्ञान नहीं करते। वे वैज्ञानिक लोग बाहरी कितने-कितने ही ज्ञान करलें, कितने ही आविष्कार करलें, पर उनका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। लोग कहते हैं कि इन आविष्कारों में तो बड़ी बुद्धिमानी का काम है। तो ठीक है, पर मानो आज ये विज्ञान की चीजें एक भी न होती तो क्या अपना काम न चलता? अभी १००–५० वर्ष पहिले जब ये वैज्ञानिक आष्किार इतने नहीं थे तो क्या उससे लोगों को कोई कष्ट था? वैज्ञानिक लोग ये सब आविष्कार कर रहे हैं, ठीक है करें, उसका निषेध नहीं किया जा रहा, उसमें खूब तरक्की करें, लेकिन साथ ही साथ अपने आत्मा के ज्ञान की भी तरक्की करें। मैं क्या हूं इसका सही निर्णय बनावें। जरा भी विवेक करें, कभी इन्द्रियों को नियन्त्रित कर दें, न कुछ देखने से मतलब, न कुछ सुनने से मतलब, न कुछ सूंघने से मतलब, न कुछ भी कल्पनायें करने से मतलब, न कहीं आने जाने से मतलब। बस एक सच्चा आग्रह करके बैठ जावें कि मुझे तो समझना है कि मैं क्या हूं? किससे समझना है? क्या किसी गुरु से, क्या किसी शास्त्र से? अरे इस समय ये भी प्रयोग छोड़ दो। यह तो अपने आपको समझायगा, हमें दूसरों से नहीं समझना है। इसके लिए क्या करना होगा कि सब प्रकार के बाहरी विकल्प समाप्त करना होगा। यह अपने आपके अन्दर विद्यमान भगवान स्वयं अनुभव करा देगा कि यह मैं क्या हूं? उसका अनुभव करके जो बात समझ में आती है उसका अनुभव अलौकिक होता है।

(११७) सानुभव ज्ञान की विलक्षणता—मिश्री न खाने वाले से पूछो—भैया क्या तुमने मिश्री कभी खाया? तो वह कहेगा कि मैंने तो कभी नहीं खाया।···अच्छा, तो तुम्हें मिश्री के स्वाद का भी पता न होगा?····हां पता तो नहीं है, बताओ।···देखो तुमने गन्ने का रस तो चखा होगा?···हां चखा तो है। तो उस गन्ने के रस को जब खूब अग्नि में पकाया जाता है, उसका सारा मैल निकाल दिया जाता है, उससे सीरा तैयार किया जाता है, तो उस सीरा का स्वाद तो उस रस से विलक्षण होता होगा ना?···हां होता तो होगा। युक्ति तो यही बताती है।···फिर उस सारे को अग्नि में खूब पकाकर उसका सारा मैल निकाल दिया जाता है, उससे शक्कर बन जाती है। उस शक्कर का स्वाद तो उस सीरे से विलक्षण होता होगा ना?···हां होता तो होगा। युक्ति तो यही बताती है।····फिर उस शक्कर को खूब अग्नि में पकाकर उसका सारा मैल निकलकर मिश्री तैयार की जाती है। तो उस मिश्री का स्वाद तो और भी विलक्षण होता होगा?·· हां होता तो जरूर होगा···· तो क्या अब समझ में आया कि मिश्री का स्वाद कैसा होता है? भले ही वह कह दे कि हां समझ गए, पर उस को अभी सही पता नहीं पड़ा। उसको मिश्री का सही ज्ञान इन शब्दों द्वारा बताया जाने से न होगा। अरे मिश्री का एक डला लेकर उसके मुखमें धर दो, उसे खाकर वह झट समझ जायगा कि हां मिश्री का स्वाद ऐसा होता है। तो एक तो हुआ शब्दात्मक ज्ञान, और एक हुआ अनुभवात्मक ज्ञान। यह अनुभवात्मक ज्ञान एक विलक्षण ज्ञान होता है। इसी तरह यह ज्ञान एक तो इन बाहरी पदार्थों में दौड़ दौड़कर, उनका विकल्प बना बनाकर, उनमें राग द्वेष की बुद्धि करके उनका ज्ञान करता है, और एक ऐसा भी ज्ञान होता कि जहां कोई भी परपदार्थ ध्यान में नहीं रहता, सबका विकल्प छूट जाता, शुद्ध ज्ञाता दृष्टा की स्थिति में रह जाता, सब कुछ उस के ज्ञान में झलक जाता, तो यों इन दोनों प्रकार के ज्ञानों में महान अन्तर है। समस्त पदार्थों का विकल्प छोड़कर शुद्ध ज्ञाता दृष्टा रहकर जो ज्ञान किया जाता है वह एक विलक्षण ज्ञान होता है। बाहरी पदार्थों में दृष्टि डाल डालकर उनका ज्ञान करने में तो अनेक संकट ही आते हैं। अभी आप इन धार्मिक समारोहों में ही देख लो जिसकी दृष्टि बाहर बाहर ही दौड़ती रहती है वह कितना संकट में रहता है और वह सारी धार्मिक क्रियायें करके भी शान्ति का मार्ग नहीं पाता। और एक व्यक्ति ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करता हुआ धार्मिक क्रिया काण्ड करता है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो वह शान्ति का मार्ग प्राप्त करता है। शान्ति का मार्ग मिलेगा तो एक सम्यग्ज्ञान से ही मिलेगा, ऐसी प्रेरणा वीर प्रभु ने सारे विश्व को दी है। जिसे शान्ति चाहिए उसे अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह के माध्यम से चलना चाहिये।

(११८) आत्मबोध बिना शान्तिलाभ की असंभवता—हम आप सब लोग समय-समयपर सुख और दुःख का अनुभव किया करते हैं और उसमें यह छटनी चाहते हैं कि मुझे सुख तो हो दुःख न हो। इस सम्बन्ध में पहिले यही विचार करें कि ये सुख और दुःख आते किस ढंग से हैं? देखिये—जितना भी हम आपका अनुभव है वह ज्ञान के अनुसार चलता है। हम ज्ञान की जैसी वृत्ति बनायें ज्ञान को हम जिस ढाल में ढालें उसके अनुसार हमें अनुभव होता है और उस अनुभव के अनुसार सुख दुःख की प्राप्ति हो रही है। पहिले इस बात का ही सभी लोग निर्णय कर लें। देखिये—संसार में अनन्त काल जन्ममरण व अन्य दुःखों में व्यतीत कर दिया। अब सुयोग से आज श्रेष्ठ नरजन्म मिला है और पवित्र जैन शासन प्राप्त हुआ है, इस जैन शासन का यदि लाभ न उठा सके तो मनुष्यभव का पाना न पाना बराबर रहा। पशु, पक्षी, मनुष्य आदि फिर तो सभी बराबर हो गए। इस भवमें कोई धनसमृद्ध बन जाने से इस आत्म को लाभ नहीं हो गया। आत्मा का लाभ तो इसमें है कि दुःख न हों, क्लेश न रहें और शान्ति का अनुभव करें। आत्मा को प्राप्त तो यह करना है। यह चीज धन से न प्राप्त होगी, बाहरी इज्जत से न प्राप्त होगी। वास्तविकता तो यह है कि जब तक कुछ अपने आपके ज्ञान को शुद्ध न कर सकेंगे तब तक हम शान्ति के पात्र नहीं हो सकते। देखो—आपका कोई काम धंधा, व्यापार लन्दन में है और वहां से खबर आये कि ४ लाख का टोटा पड़ गया, मानो तार गलत पढ़ने में आ गया हो, और यह समझ जायें कि चार लाख का फायदा हो गया तो देखो उस समय आप सुखी हो रहे कि नहीं? देखो पड़ा तो नुकसान और कर रहे सुख का अनुभव। तो वह सुख का अनुभव हुआ कल्पना के आधार से। और मानो वहां हुआ तो हो लाभ और खबर ऐसी मिल जाये कि इतने का टोटा पड़ गया, नुकसान हो गया तो यहां आप दुःखी हो जाते हैं। तो आपका यह दुःख भी आपकी कल्पना से आया यहां के ये सुख दुःख कल्पना से होते हैं।

(११९) ज्ञान की समीचीनता में संकटों की समाप्ति—भाई हम आपको यदि इन सुख दुःखों से निवृत्त होकर सुख शान्ति में आना है तो कर्तव्य एक यह करने को पड़ा है कि ज्ञान का ऐसा सुधार बनायें कि दुःख न हों, सुख हो और हममें पूर्ण सहज शान्ति प्रकट हो यह बात किसी बाहरी चेष्टा से नहीं की जा सकती है। शरीर की चेष्टा से शान्ति न मिलेगी, धन की वृद्धि से शान्ति न मिलेगी। बाहरी पदार्थों से शान्ति न मिलेगी। शान्ति वहां ही मिलेगी जहां शुद्ध ज्ञान हो कि यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा सबसे निराला हूं, केवल ज्ञान स्वभाव का अधिकारी हूं, यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा केवल ज्ञान की वृत्ति को ही करता रहता हूं और ज्ञान की परिणतियों को ही भोगता रहता हूं। इस भोगने का सम्बन्ध किसी बाहरी पदार्थ से नहीं है। जो बाहरी पदार्थ से सम्बन्ध माने वह अज्ञानी है। परवस्तु के सम्बन्ध में जो भोगने की कल्पना करता है वह अज्ञानी है। परवस्तु कैसे भोगी जा सकता है? प्रत्येक पदार्थ की सत्ता जुदी जुदी होती है। और सत्ता वही कहलाती है जो अपने आपमें उत्पाद-व्यय ध्रौव्य की कला रखे रही है। यह सत् का स्वरूप है। तो प्रत्येक सत् अपने आपमें ही उत्पाद-व्ययध्रौव्य कर सकता है, पुद्गल अपने आपमें उत्पाद-व्यय करेगा। जो दुःखी होता है वह अपने आपमें उत्पाद-व्यय करता है। जो कहता है कि मैंने धन को भोगा तो उसने धन को नहीं भोगा, पर वह अपने अन्दर ऐसी कल्पना बना लेता है कि मैंने धन को भोगा। मैं किसी भी परपदार्थ को नहीं करता हूं। मैं ऐसा सबसे निराला हूं जिसे कहते हैं एकत्वविभक्त। हम अपने स्वरूप में तो हैं तन्मय और परस्वरूप से निराले, ऐसे इस अकेले ज्ञानस्वरूप निज तत्त्व का बोध न हो, इस ओर दृष्टि न हो, मैं क्या करता हूं, क्या भोगता हूं, इसका निर्णय न हो तब तक यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

शान्ति का पात्र नहीं हो सकता।

(१२०) **ज्ञानस्वरूप में ज्ञान को समा देने की कला में संकटमुक्ति का अवसर**—शान्ति लाभ लेने के लिए हमें क्या करना चाहिए ? अपने आपके ज्ञान परिणति में कोई परिवर्तन करना है। जिस ढंग से अपने ज्ञान को प्रवर्ताते आये हैं उसमें सुधार करना होगा। कितना किस ढंग से प्रवर्ताते आये हैं ? इसके निर्णय में संक्षेप में दो बातें हैं—देखो यह उपयोग जब परकी ओर उन्मुख होता है तो इसकी सब कल्पनायें अज्ञानरूप चलती हैं और जब यह उपयोग स्वकी ओर उन्मुख होता है तो इसकी सब कलायें ज्ञानरूप चलती हैं। जैसे एक उदाहरण ले लो—पानी के अन्दर तैरने वाला कोई कछुवा जब कभी पानी के बाहर अपनी चोंच को निकालकर यत्र तत्र घूमता है तो उसकी चोंच को चोंटने के लिए सैकड़ों पक्षी उसपर मंडराते हैं। वह बेचारा कछुवा हैरान होकर यत्र तत्र भागता फिरता है, दुःखी होता फिरता है। और, कोई मानो उस कछुवे को समझा दे कि रे कछुवे तू क्यों व्यर्थ में दुःखी होता फिरता है। अरे तेरे अन्दर तो एक ऐसी कला पड़ी हुई है कि यदि तू उसका उपयोग करे तो फिर हजारों लाखों पक्षी भी तेरा कुछ नहीं कर सकते।···क्या कला है वह ? अरे एक बेथा पानी में तू डूब तो जा, बस तेरे सारे संकट समाप्त हो जायेंगे। ठीक ऐसे ही यह जीव व्यर्थ ही दुःखी हो रहा है। इसने अपने उपयोग की चोंच को बाहर निकाल रखा है। इसकी दृष्टि बाहर बाहर ही रहा करती है। बाह्य पदार्थों से ही यह अपना लगाव रखता है, यही कारण है कि इस पर अनेक संकट छाये हैं। पर ये ज्ञानी ऋषि संत जन समझाते हैं कि रे प्राणी तू क्यों व्यर्थ में दुःखी हो रहा है ? अरे तेरे अन्दर तो एक ऐसी कला है कि यदि तू उसका उपयोग कर ले तो तेरे सारे संकट समाप्त हो जायें ? वह कौन सी कला है ? वह कला यही है कि तू अपने ज्ञानस्वरूप में जरा डूब तो जा, बस तेरे ऊपर आने वाले सारे संकट तुरन्त समाप्त हो जायेंगे। तू बाहर बाहर ही अपने उपयोग की चोंच को निकालकर अभी तक भटकता रहा, बाह्य पदार्थों को ही अपना शरण, सार सर्वस्व समझा। तेरा उपयोग बाहर बाहर ही भटकता रहा, जिससे कभी अपने अन्तः विराजमान परमात्मस्वरूप का भान ही नहीं किया, कभी अपने ज्ञानसागर में डुबकी ही नहीं लगाया यही कारण है कि तू अभी तक हैरान होता रहा, दुःखी होता रहा। जैसे फुटबाल खेलने वाले लड़के क्या करते हैं ? वे फुटबाल को गोद में लेकर कहीं चूमते नहीं, अरे फुटबाल तो जिधर जाता है उधर ही पैरों को ठोकर पाता है, ठीक इसी प्रकार तेरा यह उपयोग बाहर बाहर ही दौड़ता रहा, बाह्य पदार्थों को शरण मानकर उनके पीछे दौड़ लगाता रहा पर तुझे कहीं शरण तो न मिली। सर्वत्र तुझे ठोकर ही मिली, धोखा ही मिला।

(१२१) **ज्ञान में ज्ञानस्वरूप के ज्ञेय होने पर कृतार्थता**—हे आत्मन् ! तू अपने ज्ञान में यह ज्ञानस्वरूप ला तो सही, कभी ऐसी स्थिति बना तो सही, क्षण भर को ही बना, फिर तेरी यह स्थिति तुझे जीवन भर लाभ देगी। एक क्षण भर को ही सही, कभी भी एक ऐसी दृष्टि बने कि मैं अपने ज्ञान में निज ज्ञानस्वरूप को ही लेता रहूं, यदि ऐसा कर सके तो इसके संकट तुरन्त दूर होंगे, नहीं तो संकट दूर नहीं हो सकते। धर्म भी यही है। इस धर्म को गृहस्थजन थोड़ा पाल सकेंगे, साधुजन अधिक पाल सकेंगे, मगर धर्म तो एक ही प्रकार का है मूल में, केवल एक साधन भेद से व्यवहार धर्म की विधि में भेद है, मगर धर्म तो वह है कि जिससे शान्ति मिले। शान्ति मिलती है ज्ञान में ज्ञान को समा लेने के कारण।

(१२२) **सहज स्वभाव की दृष्टि का उपाय**—यह आत्मज्ञान की कला, यह स्वभावदृष्टि कैसे मिलती है ? तो इसके लिए बहुत कुछ विवेचन है, बहुत-बहुत समझाने की बातें हैं। प्रत्येक नय से हम स्वभाव-दृष्टि पर आ सकते हैं। आजकल हम लोग कहते हैं कि निश्चयनय ही हमको कल्याण में ले जायगा, व्यवहारनय ही हमको कल्याण में ले जायगा। अरे भाई कल्याण में तो स्वभावदृष्टि ले जायगी। स्वभावदृष्टि व्यवहारनय के

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

माध्यम से भी कर सकते, निश्चयनय के माध्यम से भी कर सकते। वह क्या पद्धति है यह सब स्पष्ट हो जायगा थोड़ा बहुत विवेचन करने से, मगर स्वभाव दृष्टि से हम कल्याण प्राप्त कर सकते हैं। वह प्राप्त हो सकता है ज्ञान से, इसके लिए उत्सुकता बनानी चाहिए। जो कुछ हम पर बीतती है वह इसही पद्धति से बीतती है कि हमारे ज्ञान में कुछ ज्ञेय आते हैं और जिस ढंग से हम ज्ञान करते हैं उस ढंग से हम पर सुख दुःख अथवा आनन्द आया करते हैं। अब इसमें यह छटनी कर लें कि हम कैसा ज्ञान बनाते हैं कि सुख होता है और कैसा ज्ञान बनाते हैं कि दुःख होता है और कैसा ज्ञान बनायें कि आनन्द होगा ? पहिले तो सुख, दुःख और आनन्द इन तीनों का विरोध समझिये—दुःख उसे कहते हैं जो इन्द्रियों को असुहावना लगे, सुख उसे कहते हैं जो इन्द्रियों को सुहावना लगे, ये सुख दुःख दोनों ही क्षोभ से भरे हुए हैं, दोनों में आकुलता पडी है, पर यह जीव सुख में समझता है कि आनन्द है और दुःख में समझता है कि कष्ट है, कष्ट दोनों में है। जरा विवेक बुद्धि से विचारें तो दुःख में जैसा कष्ट होता है उस ही प्रकार इन्द्रिय विषयों के सुख भोगने में भी कष्ट रहता है, मगर इस झंझट पर दृष्टि नहीं है मोही जीवों की तो वे उसमें मौज मानते हैं। दुःख और सुख से परे जो आनन्द की स्थिति वहां केवल ज्ञाता दृष्टा रहने की स्थिति है। कुछ जान लिया, आगे न राग है न द्वेष है, न इष्ट अनिष्ट की बुद्धि है, ऐसा ज्ञाता दृष्टा रहने की स्थिति में होता है आनन्द।

(१२३) **ज्ञान की विपरिणति में काल्पनिकता**—देखो जब ज्ञान में हमारी वैसी कल्पना जगती है कि यह इष्ट है, यह अनिष्ट है, वह हट जाय, वह इष्ट क्यों नहीं मिल रहा ? इसी के मायने विकार है। इस प्रकार की ज्ञान में जब हम कल्पना बनाते हैं तब हमें कष्ट होता है। यह मेरा गिर गया, मेरा नुक्सान हो गया, इससे मेरी बरबादी है, आदिक रूप से जो नाना कल्पनायें उठती है उन कल्पनाओं से कष्ट होता है—और जहां ज्ञान में ऐसी कल्पना जगती है कि यह मेरा हितू है, यह मेरा इष्ट है, यह मुझे सुख देता है, कुछ धन सम्पदा आये. अथवा स्त्री पुत्रादि आज्ञाकारी हुए, कुछ से कुछ ज्ञेय बने, उसमें यह जीव सुख मानता है। किन्तु ज्ञान में जब ज्ञानस्वरूप ही समाया रहता है, जैसे प्राणी जानता है बाहरी चौकी फर्स आदिक, सो इनको इनको न जानकर, यह न जानकर यह जानें कि जो जान रहा है वह क्या है ? मैं जो ज्ञानमय अंतस्तत्त्व हूं, उसका स्वरूप तो है ना, कुछ न कुछ। इस जानन की स्थिति को, प्रतिभासमात्र ज्ञानज्योति इस जाननस्वरूप को ज्ञान में लें तो वहां आनन्द प्रकट होता है। तो इसका यह भाव हुआ कि जब हम स्वभावदृष्टि करते हैं तब आनन्द मिलता। तब ही कर्म कटते हैं, इससे मुक्ति की प्राप्ति होगी। अन्य मन, वचन, कायकी चेष्टावों से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। तब ध्यान में लावो कि मेरे को तो स्वभावदृष्टि चाहिए। जैसे लोगों के चित्त में कुछ न कुछ लक्ष्य रहता है ना, मेरे को मकान चाहिए, मेरे को सम्पदा चाहिए, मेरे को परिजन चाहिए भले मित्र चाहिए आदि, पर ज्ञानी पुरुष तो यह लक्ष्य बनाता है कि मुझे तो स्वभावदृष्टि चाहिए। मेरे ज्ञान में मेरा ज्ञानस्वरूप समाया रहे। मुझे तो केवल यह ही चाहिए। इसे कहते हैं ज्ञाता दृष्टा की स्थिति पाने की उत्सुकता।

(१२४) **वस्तुस्वातन्त्र्यपरिचय व निमित्तनैमित्तिक भाव के निर्णय की उपयोगिता**—अब स्वभावदृष्टि की बात कैसे प्राप्त हो ? इस पर जरा विचार करो हमें चाहिए क्या ? स्वभावदृष्टि। याने मैं स्वयं सहज जैसा ज्ञानस्वरूप हूं, वह मेरे ज्ञान में रहे, यही तो चाहिये ना ? इसकी पुष्टि कैसे होगी ? तो देखिये—इस पौरुष में सहायक है निमित्तनैमित्तिक भाव का और वस्तुस्वातंत्र्य का सच्चा परिचय। मैं एक आत्मा हूं, इसी प्रकार जगत् के जितने भी जीव हैं वे सब भी एक-एक आत्मा हैं। यह देह है और इस देह के साथ कर्म भी लगे हैं। हम आप जो बैठे हैं वह इन तीन चीजों का पिण्ड है, लगता यह है कि एक ही तो यह बैठा है, मगर वह एक नहीं है। वह तो तीन चीजों का पिन्ड है। वे कौन सी तीन चीजें हैं ? कर्म, देह और जीव। एक आदमी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ने किसी का निमन्त्रण किया कि देखो भाई आप कल हमारे यहां भोजन करेंगे। हमारी अधिक हिम्मत नहीं है, इसलिए कृपा करके आप अकेले ही आना। और देखो हमारे यहां बुलाने वाला भी कोई नहीं है इसलिए आप १० बजे स्वयं ही आ जाना। अच्छी बात। अब दूसरे दिन वह १० बजे पहुंच गया भोजन करने तो वह निमन्त्रण करने वाला कहता है कि भाई साहब आ गए ? हां आ गए। देखिये हमने आपसे कहा था कि आप अकेले आना, पर आप अकेले क्यों नहीं आये ? अरे भाई अकेले ही तो आये हैं। कहां अकेले आये ? आप अपने साथ में इस शरीर को क्यों लाये हैं ? अब भला बतलाओ वह अकेले कैसे आवें ? देह तो साथ जायगा ही। तो इस जीव के साथ तीन चीजें लगी हैं—देह कर्म और जीव। इन तीनों का पिण्ड है यह जीव। अब देखना यह है कि जो कुछ बीत रहा है वह इन तीन के प्रसंग में बीत रहा है। बाहर में यह चाहे जीव हो चाहे अजीव हो, उनकी चेष्टा से यहां कोई फर्क नहीं आता। हम कल्पनायें कर लेते हैं कि देखो उसने मेरे लिए बुरा किया तो ऐसी ऐसी जो भीतर में कल्पना की उससे बुरा हुआ नहीं, उसकी चेष्टा से मेरे को दुःख नहीं हुआ। वह चाहे हजारों कुछ भी क्रियायें करे, पर उससे मेरे में कोई फर्क नहीं आता। बाहरी वस्तु के विषय में कल्पना बनाते हैं तो चूंकि हमने यहां ही कुछ कर डाला इसलिए उसका प्राभव पड़ता है, बाहर में कोई कुछ करे तो उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बाहरी वस्तु हैं। उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उसमें ही है, मेरे पर उसका क्या प्रभाव ?

(१२५) निमित्त नैमित्तिक परिज्ञान द्वारा देह, कर्म व विकार से विविक्त अन्तस्तत्त्व की दृष्टि—अब यहां भीतर में देखो—देह, कर्म, और मैं। तो ये तीनों अलग अलग चीजें हैं। देह की सत्ता देह में है, जीव की सत्ता जीव में है और कर्म की सत्ता कर्म में है, और परिणमन भी इन तीनों का अपने आपमें अलग-अलग है, किन्तु निमित्त नैमितिक भाव यह पाया जा रहा है कि कर्मोदय आये तो जीव में रागद्वेष की कल्पना जगती है, बस दुःख तो हुआ रागद्वेष के उठने से, उसमें निमित्त हुआ कर्म का उदय, ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, पर वस्तुस्वातंत्र्य क्या है कि कर्म भले ही उदय में आ रहे मगर वे कर्म अपने आपमें उदित हो रहे हैं, मुझमें उदित नहीं होते हैं और जो इस कर्म का विधान है उसमें उपयोग लगाते हैं तो ऐसा उपयोग लगाने की चेष्टा मुझमें है, वह कर्म में नहीं है। कर्म की बात कर्म में है, मेरे आत्मा की बात मेरे आत्मा में है, परन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है। अब इन दोनों बातों के सम्बन्ध में थोड़ा समझियेगा। निमित्तनैमित्तिक संबंध मानने के माध्यम से भी हम स्वभावदृष्टि तक पहुंच जाते हैं और वस्तुस्वातन्त्र्य मानने के माध्यम से भी हम अपने स्वभाव तक पहुंच जाते हैं। निमित्त नैमित्तिक भाव होने पर भी वस्तुस्वातंत्र्य का होना, उसमें कोई विरोध की बात नहीं। निमित्त नैमित्तिक भाव होने पर कर्ता कर्म नहीं रहता, यह बात बराबर पायी जाती है। भूल यहां होती है कि लोग निमित्त को निमित्त न मानकर कर्ता मान लेते हैं। एक वस्तु दूसरे वस्तु का नहीं है। पर निमित्तनैमित्तिक भाव अवश्य है। निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी कर्ता कर्म भाव एक वस्तु का दूसरे में त्रिकाल नहीं है। कहीं कर्म ने मुझमें कोई बात नहीं किया और न मैंने कर्म में कुछ किया, किन्तु निमित्तनैमित्तक भाव ऐसा अवश्य है कि रागद्वेष भाव यदि है तो वहां कर्म बन्धन होता, कर्म का उदय हुआ तो ये रागादिक भाव बने, अब देखिये दोनों बातें कि कैसे अपना ज्ञान भोगा जाता है ? ये रागद्वेष भाव मेरे स्वरूप नहीं हैं, ये कर्म का निमित्त पाकर आये हैं। जिस प्रकार के कर्म का उदय हुआ उस ही प्रकार से इस उपयोग ने अपने आपमें इस ढंग का चेतनभाव पैदा किया। ऐसा निमित्तनैमित्तिक भाव है कि मुझमें भी रागद्वेष आये हैं, जो मेरे स्वरूप से, मेरी सत्ता से बिना निमित्त के अपने आप मेरे में नहीं आये, इसलिए रागद्वेष मेरी चीज नहीं है। उस निमित्त-नैमित्तिक भाव की विधि से हम विभाव से हटकर स्वभाव दृष्टि में आ गए।

(१२६) वस्तुस्वातन्त्र्यदृष्टि से स्वभाव की अभिमुखता का विधान—अच्छा वस्तुस्वातंत्र्य की

Version 1

दृष्टि से कैसे हम स्वभाव में आते ? मैं एक उपयोगमय पदार्थ हूं और मैं अपने उपयोग का ही परिणमन करता हूं। किसी अन्य वस्तु को नहीं करता हूं, किसी अन्य से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं तो उपयोग मात्र हूं, अपने आपका उत्पाद व्यय करता रहता हूं। तो ऐसा वस्तुस्वातन्त्र्य को जिसने निरखा उसकी परमें दृष्टि न होने के कारण वह अपने स्वभाव की ओर आ जाता है। तो वस्तुस्वातन्त्र्य का ठीक परिचय करना भी मेरे हित में है और निमित्त नैमित्तिक भाव का परिचय करना भी मेरे हित में है। कोई लोग वस्तुस्वातन्त्र्य न मिट जाय इस कारण निमित्तनैमित्तिक भाव का खण्डन करते हैं कि निमित्तनैमित्तिक भाव कुछ है ही नहीं। आत्मा में जिस समय जो परिणमन होता है उस समय जो सामने हो उसको निमित्त कहा जाता है। यद्यपि बात ऐसी है कि आत्मा में जिस समय जो भाव पैदा होने को है वह होता है, मगर वह होता इस ही विधान से कि कर्म का विपाक हुआ और यहां इस जीव ने स्वतन्त्रता से अपने में रागादिक पैदा किया। जिस विधान से जो चीज होनी है वह टलती नहीं है, वही सर्वज्ञने जाना, अवधिज्ञानी ने जाना, इससे सिद्ध है कि जब जो होना होता है वह अवश्य होता है, मगर ऐसा मानने में विधान नहीं चलता। जिस देश में, जिस काल में जो कुछ होने को है उस देश में उस काल में होता ही है, इस तरह का निर्णय रखना चाहिए। अब इस विधान को तो हटा दिया, विधान के मायने निमित्त-नैमित्तिक भाव। और, एकान्त कर लिया कि जब जो होना है सो होता है, अपने आप जो चीज सामने हाजिर हो उसे लोग निमित्त कह देते हैं, यद्यपि कर्ताकर्मभाव एक ही होने के कारण ऐसा भी कहा जाता है और उसमें कोई बाधा की बात नहीं है, पर वस्तु सामने हो वह निमित्त है, यों अटपट निमित्तव्यवस्था प्रतिनियत है। सर्वतोमुखी निर्णय करें और उसमें जैसी जो प्रतीति हो उस माध्यम से आप अपना प्रमाण रखें। वस्तुस्वातन्त्र्य न मिट जाय, इस कारण निमित्तनैमित्तिक भाव के खण्डन करने में कोई बुद्धिमानी नहीं है। निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी वस्तुस्वातन्त्र्य रहता है।

(१२७) निमित्तनैमित्तिकभाव होने पर भी वस्तुस्वातन्त्र्य के परिचय का कुछ दृष्टान्त— देखो एक दृष्टान्त लो—तबला बजाने वाले ने तबला बजाया, तो उसने क्या किया ? उसने तो हाथ का थप्पड़ मारा। तबले पर हाथ का थप्पड़ लगने पर वहां भाषावर्गणा के शब्द स्वयं शब्दरूप परिणम रहे हैं। तो हाथ के उस थप्पड़ ने भाषावर्गणा के परमाणुवों को शब्द रूप नहीं परिणमाया, वह वस्तु अलग है। उसने हाथ का स्पर्श किया तब भाषावर्गणा के शब्द निकले, लेकिन उसमें अपना विधान अवश्य है, जब उसने हाथ लगाया उस विधान पूर्वक भाषावर्गणा के शब्द शब्दरूप परिणमे, तो वस्तुस्वातन्त्र्य नहीं मिट गया। निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी वस्तुस्वातंत्र्य है, किन्तु कुछ लोग कहीं निमित्तनैमित्तिक भाव न मिट जाय सो वस्तुस्वातंत्र्य का ही खण्डन करते हैं। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि कर्मविपाक निमित्त ने किया रागद्वेष। आत्मा कुछ नहीं करता। कुम्हार ने ही बनाया घड़ा। तो इस तरह निमित्त को कर्ता मानकर और उपादान में कुछ बनना मानकर वे वस्तु-स्वातंत्र्य को मिटाते हैं इसलिए कि निमित्तनैमित्तिक भाव पुष्ट हो जाय, मगर इस उदाहरण में भी देखिये—कुम्हार कितना है ? जितना कि उसके हाथ पैर आदिक वाला शरीर है। तो कुम्हार ने क्या किया ? उसने तो अपने आपमें अपनी क्रिया की। उसने मिट्टी में भी कुछ कर डाला क्या ? वह मिट्टी रूप परिणम गया क्या ? कुम्हार ने तो अपने हाथ में अपने हाथ की चेष्टा की। अपनी चेष्टा करते हुए कुम्हार का निमित्त पाकर मिट्टी अपने आपमें अपनी परिणति से फैलकर उस ही अनुरूप अपने आपकी परिणति बनाकर घड़ा रूप में बन गई। कहीं वह कुम्हार घड़ा नहीं बन गया। तो देखो उस दृष्टान्त में भी मिट्टी स्वतंत्रता से घड़ारूप बनती है, कहीं कुम्हार का हाथ लेकर नहीं बनती। तो निमित्तनैमित्तिक भाव होकर भी वस्तु स्वतंत्र है। होता क्या है ? कर्म का उदय हुआ तो जैसे कर्म में अनुभाग रहता है ना क्रोध, मान, माया, लोभ तो वह कर्म भी क्रोध दशा को

http://www.jainkosh.org

प्राप्त हो जाता है, मान, माया, लोभ दशा को प्राप्त हो जाता है, मगर उसकी दशा भी अचेतन है, अनुभव की बात नहीं है। जैसे स्फटिक पाषाण सामने है और सामने लाल कपड़ा कर दिया तो स्फटिक में लालिमा आ गई तो वह कपड़ा स्वयं लाल है। स्वयं लाल रंग को प्राप्त जो लाल कपड़ा है उस कपड़े की सन्निधि में यह स्फटिक भी लाल बन गया। तो इसी तरह वह कर्म भी स्वयं क्रोध है, स्वयं मान है, स्वयं माया है, स्वयं लोभ है तो ऐसा क्रोधभावापन्न उस कर्मविपाक का निमित्त पाकर उसके सन्निधान में ये अशुद्ध जीव भी क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक रूप परिणम गए हैं। आत्मा का क्रोधरूप परिणमन तो चेतनाभास के ढंग का है और कर्म भी क्रोधरूप परिणमे उसके अनुभाग के ढंग का है, तो निमित्त नैमित्तिक भाव होने पर भी वस्तुस्वातंत्र्य रहता है। तो इसका जो भली प्रकार निर्णय कर लेता है उसको कल्याण मार्ग में विलम्ब नहीं लगता।

(१२८) आश्रयभूत कारण व निमित्त कारण के परिचय का लाभ—तीसरी बात यह है कि जिसे लोग दृष्टान्त देकर कुछ से कुछ सिद्ध करना चाहते हैं। जैसे ये बाहरी पदार्थ होते तो आश्रयभूत हैं, पर ऐसा उदाहरण देने लगते कि निमित्त से क्रोध नहीं होता। देखो नौकर ने यह काम बिगाड़ा, निमित्त तो मिला मगर कोई कोध नहीं करता। देखो एक वेश्या मरी उसे लोग जलाने के लिए लिए जा रहे थे तो उसे देखकर कोई कामी पुरुष सोचता है कि अगर यह वेश्या कुछ दिन और जीवित रहती तो मैं इसके साथ और मौज मानता। कुत्ता स्याल आदिक सोचते हैं कि यह व्यर्थ ही जलाई जा रही है, अगर ये इसे यों ही छोड़ जाते तो मेरा कुछ दिनों का भोजन बनता। वहां बैठे हुए कोई मुनि महाराज इस तरह विचारने लगे कि देखो कैसा दुर्लभ मानव जीवन पाकर इसने व्यर्थ खो दिया। तो अगर निमित्त से काम होता तो फिर उन सबका एक जैसा भाव होना चाहिये था, लेकिन अलग-अलग भाव हुए, इससे निमित्त कुछ नहीं है ऐसा लोग कहते हैं। उनकी बात ठीक है, मगर वह वेश्या शरीर बाह्य पदार्थ निमित्त नहीं कहलाता, वह तो आश्रयभूत है। निमित्त तो कर्म की दशा है। मुनि महाराज के कर्म मन्द हैं इसलिए उनका वैसा भाव हुआ। कामी पुरुष के कर्म तीव्र है इसलिए उसका ऐसा भाव हुआ, इसी प्रकार उन कुत्ता स्याल आदिक के भी कर्म तीव्र हैं इसलिए उनका वैसा भाव हुआ। तो निमित्त बाह्यवस्तु नहीं होती। बाह्यवस्तु तो आश्रयभूत है, इन बाहरी पदार्थों को देखकर उनमें कोई राग करे तो वह उसकी मर्जी है, मगर जैसा कर्मोदय जैसा आयगा वैसा झलक गया, लेकिन यदि ज्ञानबल आ गया तो वह उसकी उपेक्षा कर सकता है और अपने आपके स्वभाव में आ सकता है, उस समय अन्य कोई बाधा नहीं पड़ सकती। तो कम से कम यह निर्णय बनायें कि जो बाह्यवस्तुयें हैं उनका जो समागम मिला है वे मेरे सुख दुःख के कारण नहीं हैं। मेरे सुख दुःख के कारण मेरी कल्पना है, इसलिए बाहर में कुछ भी बिगड़ जाय क्रोध न लावें, बाहर में कुछ भी बात बन जाय पर हर्ष न मानें। इन बाहरी बातो के कुछ होने से मेरे आत्मा का हित अहित नहीं होने का, मेरा हित अहित तो मेरे अपने आपकी ज्ञानपरिणति से है, इसलिए शान्ति अगर पाना है तो बाह्य-पदार्थों में संग्रह विग्रह न करना, सुधार बिगाड़ की चिन्ता न करना, किन्तु अपने आपमें ही मेरे ज्ञान में सुधार बने जिससे कि मैं निकट काल में ही मुक्त हो जाऊं।

(१२९ आत्मपोषण के लिये स्वाध्याय की महती आवश्यकता—एक बात और संक्षेप में समझें कि मानो यह जीवन १०५ वर्षों के साधन जुटाकर अपनी कल्पना के अनुसार कुछ मौज मान लिया तो इससे तुम्हारा क्या पूरा पड़ेगा ? मरण होगा, आगे जन्म लेना होगा, आगे की यात्रा करनी पड़ेगी, अनन्त काल पड़ा है। इन १०-५ वर्ष की मौज से कुछ भी लाभ नहीं होने का। तो इन १०-५ वर्षों के लिए अपनी सब कल्पनायें न बनाइये, ऐसा उपाय करें जो सदा के लिए, अनन्त काल तक के लिए मेरी सब आकुलतायें समाप्त होवें। इसका उपाय बन सकेगा भेद विज्ञान से, आत्माज्ञान से, आत्मचर्चा से। इसके लिए अपने जीवन में एक काम नित्यप्रति

Version

http://sahjanandvarnishastra.org/

करें— क्या ? स्वाध्याय और स्वाध्याय के लिए गृहस्थों को उपयुक्त होता है रात्रि को सोने से पहिले और रात्रि में जगने से बाद। ये दो समय इतने उपयुक्त हैं गृहस्थों के लिए कि वे निर्विघ्न स्वाध्याय कर सकते हैं ? स्वाध्याय ऐसे ग्रन्थों का करें कि जो सरल हों, जो तत्त्वज्ञान की बात बतायें। देखो—कोई भी काम तब बनता है जब उसको विधि से किया जाय। जैसे एक भोजन का ही काम ले लो, वह भी अगर विधि से किया जायगा तो भोजन करने को मिल सकेगा। यही बात व्यापार के सम्बन्ध में है। आत्मज्ञान का भी ऐसा ही काम है। उसकी भी विधि है। आप उपयुक्त ग्रन्थों का स्वाध्याय कीजिए, विधिवत् तत्त्वज्ञान का मनन कीजिए। कुछ वर्ष तक लगातार विधिवत् स्वाध्याय करने पर आप स्वयं ही उसका अनुभव कर लेंगे। आप स्वयं अपने आत्मा का प्रकाश पायेंगे। उसमें आपको वह आनन्द प्राप्त होगा जो तीन लोक की सम्पदा इकट्ठी हो जानेपर भी नहीं प्राप्त हो सकता।

(१३०) हमारा वर्तमान जीवन—जब हम अपने आपके स्वरूपपर दृष्टि देते हैं तो विदित होता है कि मैं ज्ञानमात्र हूं, उपयोग स्वरूप हूं। ज्ञान प्रकाश ज्ञानप्रकाश ही मेरा सर्वस्व है, ऐसा जान लेने के बाद एक यह शंका होती है। यह समस्या सामने आती है कि यह मैं उपयोग मात्र, स्वच्छतामात्र, ज्ञानप्रकाशस्वरूप एक आज क्लेशमयी स्थिति को कैसे और क्यों प्राप्त होता हूं ? आज की स्थिति बड़ी भयंकर स्थिति है। जन्म मरण के बीच में थोड़ा सा जीवन मिलता है तो तीन बातें हैं ना जन्म, जीवन और मरण। उसके बाद फिर भी जन्म, जीवन और मरण यह परम्परा चलती रहती है। जन्म में भी क्लेश, जीवन में भी क्लेश और मरण में भी क्लेश, निरन्तर क्लेश ही क्लेश चले आ रहे हैं। जैसे बांस की पोर में कोई कीड़ा फंस जाय और उस बांस के दोनो ओर छोर में आग लग जाय तो जैसे उस कीड़े की कुशल नहीं है इसी प्रकार जन्म और मरण ये दोनो ओर छोर हैं, इनमें आग लगी है, बीच में है जीवन, तो उस जीवन की कहां कुशल है ? ऐसा जीवन हम आपको क्यों प्राप्त हुआ है इस विषय में कुछ विचार करना है। इतना तो निश्चित है कि यह स्थिति मेरे मेरे में अपने आप केवल मेरे सत्त्व की ओर से नहीं हुई है, क्योंकि किसी भी पदार्थ का सत्त्व उस पदार्थ के विषाद के लिए नहीं होता। तो मेरा सत्त्व मेरे बिगाड़ के लिए नहीं हो सकता। तो मैं अपने आपकी ओर से, अपनी सत्ता की ओर से सहज निरपेक्ष होकर स्वयं ऐसी विपत्तियों में पड़ रहा हूं सो बात तो है नहीं। तब यह निश्चित होता है कि मेरे साथ कोई विरुद्ध उपाधि लगी है, जिसके सन्निधान में मेरी ये विकार दशायें होती हैं। किसी भी वस्तु में अगर स्वभाव से विपरीत कोई विकार दशा बनती हो तो वह किसी विपरीत उपाधि के सन्निधान में ही बन पाती है। खोजना यह है कि वह बाहरी उपाधि क्या हो सकती है। मैं हूं चैतन्यस्वरूप तो बाहरी उपाधि चैतन्य-स्वरूप न होगी, मुझसे विरुद्ध होना चाहिए वह उपाधि। तब ही उस सन्निधान से इस मुझमें विकार आ सकते हैं वह समान उपाधि न होगी मैं चेतन हूं तो उपाधि अचेतन है। मैं अमूर्त हूं तो वह उपाधि मूर्त है लेकिन मूर्त होने पर अगर इतना मूर्त हो, इतना स्थूल हो कि जिससे आकार प्रकार दृष्टि गोचर हो, जिसको पकड़ सकते हों, ऐसा कोई मूर्त पदार्थ हो तो वह भी मेरे लिए उपाधिभूत नहीं बन सकता है, क्योंकि अमूर्त का स्थूलमूर्ति के साथ उपाधिभात्र न बन सकेगा। सम्बन्ध ही नहीं बन सकता। तो वह मूर्त है, अचेतन है तिस पर भी सूक्ष्म है। ऐसी कोई बाहरी उपाधि लगी है जिसे कर्म नाम से कहो, प्रकृति नाम से कहो, दोनो नाम सही हैं क्योंकि कर्म का अर्थ है—'क्रियते इति कर्म' जो किया जाय सो कर्म। यद्यपि किया जाता है आत्मा के द्वारा अपना उपयोग याने भाव ही किया जाता है, मगर उन भावों का निमित्त पाकर जो बात बनती है उसे भी कर्म कह सकते हैं। तो वह कर्म स्थूल नहीं किन्तु सूक्ष्म, अमूर्त नहीं किन्तु मूर्त, चेतन नहीं किन्तु अचेतन, ऐसी कोई एक विलक्षण योग्यता को लिए हुए पौद्गलिक कर्म उपाधि साथ में है, जिस सन्निधान में हम आपकी ऐसी विचित्र दशायें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

होती है।

(१३१) नवीन कर्मों के आस्रवण की पद्धति—अब जरा कर्म के सम्बन्ध में दो बातों पर दृष्टि देना है कि ये कर्म बनते कैसे हैं, आते कैसे हैं ? और उन कर्मों के उदय में इसको रागद्वेष होते कैसे है ? इन दो उपायों पर विचार करना है, कुछ युक्ति से, कुछ आगम से, कुछ अनुभव से सभी आधारों से इस पर विचार करना है। कर्म आते कैसे हैं ? तो एक बात सामने आती है कि कर्म आयें और कर्म बंधें तो कर्म का बन्धन अमूर्त के साथ नहीं हो सकता क्योंकि वे मूर्त हैं। मूर्त का मूर्त के साथ बन्धन बनेगा, मूर्त का अमूर्त के साथ बन्धन न बनेगा बन्धन के मायने है फंस जाना। जैसे रस्सी का एक छोर दूसरे छोर से गाँठ में किया जाता है इस तरह की गांठ हो जाना यह न सम्भव हो सकेगा। क्योंकि कर्म मूर्त है, आत्मा अमूर्त है, लेकिन हां निमित्तनैमित्तिक भाव तो हो सकता है, जैसे कि लोग पुत्र को देखकर बन्धन में बंध जाते हैं, मुग्ध हो जाते हैं, परतन्त्र हो जाते हैं तो वह पुत्र इतना स्थूल, इतना मूर्त, उसके साथ देखो एक परतन्त्रता का बन्धन बन गया. मगर गठजोरी नहीं हो सकती। किसी पिता के शरीर में पुत्र का शरीर गठबन्ध को प्राप्त हो जाय सो तो नहीं है। ऐसे आत्मा के साथ पौद्गलिक कर्म गठबन्ध को प्राप्त हो जाय, ऐसा बन्धन तो नहीं हो सकता। किन्तु मूर्तकर्म का आत्मा के साथ, निमित्तनैमित्तिक भाव हो सकता है। हम बाहरी गठबन्धन की बात कह रहे हैं कि कर्म का बन्धन जीव के साथ नहीं हो सकता, किन्तु कर्म का बन्धन कर्म के साथ हो सकता है। याने जो अभी सत्ता में पड़े हैं पहिले से बंधे हुए कर्म उनमें नये कर्म आते हैं और उनसे कर्मों का बन्धन होता है, पर निमित्तनैमित्तिक भाव ऐसा है कि आत्मा में बन्धन, क्लेश, परायत्तता हो जाती है। यहां बहुत तर्क करने की आवश्यकता नहीं, सामने ही विदित होता है कि यह जीव परतन्त्र होता है लेकिन बन्धन है कर्म का कर्म के साथ अब देखिये वे कर्म किस किस तरह हैं, कार्माण वर्गणायें अब भी जीव में अनन्त पड़ी हैं, जो कि विस्रसोपचय कहलाती हैं। उनमें कर्म आते हैं इसके मायने हैं कर्म का आस्रव हुआ। ऐसे कर्मों का आस्रव होने में निमित्त क्या है ? तो देखो प्रसिद्ध बात यह है कि जीव का रागद्वेष, मोह का निमित्त पाकर कर्म में कर्मपना होता है यह बात यद्यपि सही है फिर भी और जानने के लिए एक बात और सुनें। नये कर्म के आस्रव होने में निमित्त जीव का रागद्वेष मोहभाव नहीं है, किन्तु उदय में आ रहे कर्म नवीन कर्म के आस्रव के निमित्त होते हैं। तब इस उदय में आये हुए कर्म में ऐसा निमित्तपना आया कि वे नवीन कर्म आस्रव के निमित्त बन जायें, ऐसा निमित्तपना होने में निमित्त जीव का रागद्वेष मोह भाव है तो नवीन कर्म के आस्रव के निमित्त के निमित्तपने का निमित्त है रागद्वेष मोह, न कि नवीन कर्मों के आस्रव का साक्षात् निमित्त है। इतनी टेढ़ी बात को बहुत घुमा फिरा कर कहने कि आवश्यकता न होना चाहिए, क्योंकि आखिर बन्धन का मूल तो जीव का रागद्वेष हुआ। जीव में रागद्वेष भाव न हो तो उदयागतकर्म में निमित्तपने की बात नहीं बनती। जब तक उसमें निमित्तत्व की बात नहीं बनती तब तक कर्म का बन्धन नहीं होता तब सीधी बात यह है कि जीव में कर्म रागद्वेष है इसी को सीधा नवीन कर्मों के आस्रव का निमित्त कहा गया है, ऐसा कुछ समझ लेने में उसको अपने हित के लिए बहुत सी प्रेरणायें प्राप्त होती हैं।

(१३२) उदाहरणपूर्वक नव्यकर्मास्रवण की विधि का विवरण—कर्मास्रव के विधान को ठीक समझने के लिए जरा एक दो दृष्टान्त लीजिए। जैसे सड़क पर जो उजेला है अभी प्रकाश है तो यह बतलावो कि यह किसका प्रकाश है ? आम लोग तो यह कहेंगे कि यह प्रकाश सूर्य का है, लेकिन एक यह नियम है कि जिस वस्तु में जो चीज है वह चीज उस वस्तु के प्रदेश में ही रहेगी, उससे बाहर न रहेगी तो सूर्य का अगरवह प्रकाश है तो या तो यह मानो कि सूर्य यहां तक है, बहुत बड़ा है, पर ऐसा नहीं है। सूर्य तो करीब पौने दो हजार कोस का है इसलिए सूर्य का रूप, रस, गंध, स्पर्श, प्रकाश आदिक जो कुछ भी होगा वह सब सूर्य का सूर्य में

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

होगा। उससे बाहर सूर्य की चीज नहीं आ सकती। तब फिर सूर्य का प्रकाश यहां कैसे आ गया ? यहां तो इस बात को सभी लोग यों समझ रहे हैं कि सब सूर्य का प्रकाश है और यहां कहा जा रहा कि यह प्रकाश सूर्य का नहीं है तो फिर किसका है और कहां से आया ? तो सुनो यह प्रकाश जो जमीन पर है वह इस जमीन का ही प्रकाश है। भींत पर अगर धूप आयी है तो वह प्रकाश उस भींत का ही है। लेकिन वह प्रकाश सूर्य का निमित्त पाये बिना नहीं हो सकता, इसलिये निमित्त दृष्टि से एकदम यह कहा जाता कि सूर्य का प्रकाश है। कहने में गलती नहीं है। लेकिन उसके लिए उसका मंतव्य समझना चाहिये। अच्छा तो यह संदेह होता कि हम कैसे जानें कि यह प्रकाश सूर्य का नहीं है, यह प्रकाश भींत का है ? तो सुनो—सूर्य का प्रकाश होता तो उसका प्रकाश तो एक सा ही होगा, लेकिन दर्पण पर सूर्य का प्रकाश बड़ा तेज चमकता है और जमीन पर कम पड़ता है तो यह भेद क्यों आया ? अगर यह प्रकाश सूर्य का है तो वह हर जगह एक समान रहना चाहिये। चाहे भींत पर पड़े, चाहे पृथ्वी पर पड़े, चाहे दर्पण पर पड़े, लेकिन यह भेद क्यों हुआ ? उसका कारण यह है कि यह प्रकाश सूर्य का नहीं है। दर्पण पर पड़ने वाला प्रकाश दर्पण का है, भूमि पर पड़ने वाला प्रकाश भूमि का है, भींत पर पड़ने वाला प्रकाश भींत का है। सूर्य सामने हो तो ऐसी स्थिति बनती है। दर्पण सामने हो तो सूर्य का निमित्त पाकर इस रूप झलक गया। ये सब उपादान की विशेषतायें हैं। इस वर्णन से आप समझ लेंगे कि वस्तु का स्वरूप कैसे स्वतन्त्र होता है ? प्रत्येक पदार्थ स्वयं सत् है, अपने आप में अपना उत्पाद व्यय करता रहता है। यह वस्तु का एक स्वरूप है, ऐसा जाने बिना, स्वतन्त्रता का कुछ बोध हुए बिना लोगों को शान्ति का मार्ग न मिल पायगा। तो साथ ही साथ इस पर भी दृष्टिपात करते जायें। प्रकृत बात कर रहे थे कि भूमि पर जो प्रकाश है वह भूमिका है, सूर्य भी प्रकाश मान पदार्थ है, वह स्वयं प्रकाशित है और पर के प्रकाश में निमित्त भूत है। भूमि ऐसा पदार्थ है कि वह स्वयं प्रकाशित नहीं है, किन्तु सूर्य का निमित्त पाकर प्रकाशित हो जाय, इतना उसमें माद्दा है।

(१३३) **निमित्त में निमित्तत्व के निमित्त की मौलिकता**—दर्पण पर जो प्रकाश आया है वह दर्पण का प्रकाश है और उसमें सूर्य निमित्त है, और कदाचित् उस दर्पण को सड़क पर खड़े खड़े ही इस हाल की तरफ कर दिया जाय तो प्रकाश हाल में आ जाता है, बच्चे लोग अपने खेल में ऐसा किया भी करते हैं। अब बतलाओ उस हाल में जो दर्पण द्वारा प्रकाश आया उस प्रकाश का निमित्त कौन है ? उस प्रकाश का तो दर्पण निमित्त है सूर्य नहीं। और दर्पण पर जो प्रकाश आया है उसका निमित्त सूर्य है, लेकिन दर्पण में ऐसा निमित्तपना आया उसमें सूर्य सन्निधान निमित्त है जब कि यह दर्पण कमरे के अन्दर के प्रकाश का निमित्त बना। इसके लिए निमित्त है सूर्य। इसलिये एकदम यहां के प्रकाश को भी सूर्य का प्रकाश कहा जाता है, पर गहरी दृष्टि से अगर देखा जाए तो कमरे के अन्दर आने वाले प्रकाश का निमित्त है दर्पण और दर्पण में प्रकाश आने का निमित्त है सूर्य। इसी तरह यहां देखें कि नवीन कर्मों के आश्रव का निमित्त है उदय में आये हुए पुद्गल कर्म और उन पुद्गल कर्मों में ऐसा निमित्तपना आ जाये कि वे नवीन कर्म आश्रव के निमित्त बनें इसमें निमित्त है ये रागद्वेष मोह भाव। यह सब समझ लीजिये कर्म बन्धन की तरकीब।

(१३४) **आस्रव की मुद्रा**—अब देखिये—ये आश्रव कैसे क्या हुआ करते हैं। तो आश्रव के मायने आना है और बंधके मायने बंधना। बंधन कब होता है जब कम से कम दो समय तक ठहरे। स्थिति पड़ी, उसके साथ बंध होना पड़ता है। स्थित तो सागरों पर्यन्त चलती रहती है। इस समय बहुत पहिले के बांधे हुए कर्म भी इस आत्मा के साथ बंधे हैं। देखो—हम आप लोगों की वर्तमान स्थिति कुशलता की नहीं है। अगर ऐसा वैभव समागम आज पाया है तो इसमें मौज न मानें और अपनी शान्ति के लिए अपने को सुखी बनाने के लिए ऐसा विचार करें कि मेरे को जो वैभव मिला है वह मेरी जरूरत से कई गुना अधिक है। इतने की जरूरत न थी।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कैसे जाना कि जरूरत से अधिक है ? देखो—इससे भी कई गुना कम मिलता तो भी गुजारा होता कि नहीं ? और लोगों का भी गुजारा हो रहा कि नहीं ? तो ऐसा ही जान कर संतोष करना चाहिए। तृष्णा न करें और दूसरों को देख देखकर मन में मोहभाव न लायें। जो हो रहा है ये सब कर्म के ठाठ हैं। इनसे मेरे आत्मा का उद्धार नहीं है। यहां की मौज में न आयें। यह सब पूर्वबद्ध कर्म का विपाक है जो नाना स्थितियां बन रही हैं और कभी कोई क्लेश आये तो उसमें खेद न मानें और यहां तक की प्रभु से प्रार्थना करें तो यह प्रार्थना न करें कि हे भगवान मुझे विपत्ति न आये। हे भगवान मेरे पर कोई उपसर्ग न आये, निर्धनता न हो, अरे माँगना ही है तो यह मांगो कि हे प्रभो ! मेरे में ऐसा ज्ञानबल प्रकट हो कि चाहे कितने ही कष्ट आ जायें, मैं उनको समता से सह लूं, याने मुझे कष्टसहिष्णुता प्राप्त हो। देखो—भगवान से मांगने से कुछ मिलता नहीं और मांगने की कोई हद भी नहीं होती। एक सहनशीलता (कष्टसहिष्णुता) आ गई तो फिर किसी भी प्रकार का दुःख हो तो चलो उन दुःखों से निवृत्त तो हो गए। तो यह सब जितना जो कुछ हो रहा है, विकल्प होते हैं, अज्ञान होता है, रागद्वेष होते हैं, कल्पनायें उठती हैं, लगाव बनता है। यह सब कर्मविपाक है। ये भावास्रव व द्रव्यास्रव की द्विविधा में पड़े रहते हैं।

(१३५) **कर्मविपाक व जीवविभाव का परस्पर योग**—अब दूसरी बात इसी सम्बन्ध में कहना है कि ये कर्मविपाक कैसे होते हैं ? कर्मफल कैसे मिलता है ? तो ग्रन्थों में लिखा है, संतजनों का उपदेश है कि कर्म जब उदय में आते हैं तब इस जीव के रागद्वेष मोह होता है। पर एक बात विचारिये जो कर्म बंधे हैं उन कर्मों में स्थिति भी पड़ी थी कि ये कर्म इतने वर्ष तक जीव के साथ रहेंगे और उनमें अनुभाग पड़ा था कि जब ये कर्म उदय में आयेंगे तो उसमें इतनी शक्ति वाले रागद्वेष इसमें पैदा होंगे। तो आप समझिये कि जिस जीव में रागद्वेष पैदा होते हैं यह तो बाद की बात समझिये लेकिन जो कर्म बंधे हैं उन कर्मों में रागद्वेष पहिले से ही भरे हैं। जब कर्म का उदय आयगा तब जीव में रागद्वेष होंगे लेकिन कर्म जब से बंधे हैं तबसे लेकर लगातार अब तक उसमें रागद्वेष के अनुभाग पड़े हैं, जिन्हें अनुभाग कहते हैं। ग्रन्थों में करणानुयोग में बताया गया है कि इसमें इतने अनुभाग का राग है इतने अनुभाग का द्वेष है। क्रोधप्रकृति नाम क्यों धरा कि इसमें क्रोधन दशा की प्रकृति पड़ी हुई है, मान में मान की प्रकृति पड़ी है, उसी पर तो नाम है। बंधते के साथ ही उसमें अनुभाग आ गया था। तो ध्यान हम आपका इस ओर दिलाते हैं कि जो आपको सरल पड़ेगा। बीच में जो थोड़ा सा कुछ कठिन प्रकरण आ गया है उसको सुनकर अधीर न हो जाना। बात यह बतला रहे हैं कि जो प्रकृति पड़ी उसमें क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रकृति पड़ी है और उसमें उस प्रकार का अनुभाग पड़ा है और जब उदय में आता है तो क्रोधप्रकृति में क्रोध प्रकट होता है, लेकिन यहां यह बात जानने की है कि वह अचेतन प्रकृति है। आप उसको महसूस करना चाहेंगे अपने ढंग से तो वह स्वरूप न मिलेगा। उस क्रोध में न क्रोध होता है मगर वह अचेतन क्रोध न है। जिसे समयसार में अनेक जगह बताया गया है कि क्रोध, रागद्वेष, मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति ये दो दो प्रकार के हैं—चेतन और अचेतन। अचेतन क्रोध है तो कुछ बात तो होगी या जिसे चाहे कर्म का नाम क्रोध धरो या उसमें मान माया आदि नाम न रखो, इसका कारण क्या है। एक विलक्षणता है। विलक्षणता क्या है कि क्रोध में क्रोधनदशा प्रकट होती है। बात यहां तक कुछ कठिन थी, आगे आप समझेंगे कि जिस समय कर्म उदय में आते हैं उस समय तो उस कर्म में क्रोधकर्म में एक क्रोधन दशा हुई। वह क्रोधन दशा तत्काल हुई। उस ही समय इस उपयोगस्वरूप जीव में अनेक बातें एक साथ पैदा हो गई। क्या ? चेतना, प्रतिभासना, उसका क्षोभ होना, उसका लगाव होना, उसको अहंरूप से अंगीकार करना, और वह होता है चेतनरूप से। जैसे एक स्फटिक स्वच्छ पत्थर है, स्फटिक पाषाण स्वयं ही लाल, काला, पीला आदिक रूप नहीं होता, वह तो स्वयं स्वच्छ

Version 1

होता है, किन्तु उसमें लाल, काला, पीला जो कागज अथवा कपड़े की उपाधि लग जाती है उससे वह स्फटिक उस रंग का हो जाता है। मगर वहां यह भेद अवश्य है कि उस स्फटिक में लाल पीला आदिक रूप परिणमन और ढंग का है और कपड़ा अथवा कागज और ढंग का है। तो उसी प्रकार से अचेतन क्रोध प्रकृति में जो क्रोधन अवस्था है वह अचेतन है, वह उसके ढंग की चीज है, जैसा अनुभाग बांधा था उसका निमित्त पाकर इस जीव में चूंकि यह उपयोगमय है, स्वच्छस्वरूप है, तो इसकी स्वच्छता में विकार आया है, वह विकार किस तरह का आया है? जिस जिस तरह की प्रकृति का उदय है। अब जो इन विकारों को अपनाते हैं उन्हें तो कहते हैं मोही अज्ञानी, मैं क्रोधी हूं, मानी हूं, इस तरह अपने आपको मान लेते हैं वे कहलाते हैं अज्ञानी। और जो यह जानते हैं कि यह सब कर्म की लीला है, कर्म का परिणाम है, इसे आत्मा नहीं करता है उसे कहते हैं ज्ञानी, इसका संकेत समयसार की ७५ वीं गाथा में दिया हुआ है। 'मोहरागद्वेषसुखदु:खादिरूपेणांत: उत्प्लवमानं कर्मण: परिणामं' कर्मों के परिणाम मोह रागद्वेष सुख दु:ख आदिक रूप से अतरंग में उठ रहे हैं, उनका व्याप्य व्यापक सम्बन्ध कर्म के साथ है। ये सब बातें इस बात को पुष्ठ करती हैं कि उन प्रकृतियों में ऐसी अवस्था होती है और यह उपयोगस्वरूप आत्मा उस क्रोधादिभावापन्न कर्मविपाक का निमित्त पा कर यह स्वयं रागद्वेषरूप चेतन रागद्वेषरूप परिणमता है, यही इसके साथ क्लेश है।

(१३६) क्लेश भी एक और क्लेश मेटने का उपाय भी एक—जीव के चिदाभासरूप क्लेश को मेटने का एक उपाय है। पहिले तो जाने कि हम आपको क्लेश कितने हैं, लोग तो बतायेंगे कि हमारा लड़का यों नहीं बन सका, इसका क्लेश है। यों लोग पचासों तरह के क्लेश बतावेंगे, पर वास्तव में क्लेश सिर्फ एक है—क्या? परको निज मानना, उस परमें स्व का विकल्प करना, बस इतना ही क्लेश है। बाकी कितने ही क्लेशों के नाम लेकर कहा जा रहा हो लेकिन वे सब क्लेश उठे किस तरह हैं, उनकी पद्धति क्या है? तो बताना यह चाहिये कि परको निज जान लिया, परमें लगाव लगा लिया, परकी और उपयोग बना लिया, बस यही मात्र एक क्लेश है। तो इस क्लेश को दूर करने के उपाय कितने होंगे? नाना नहीं हो सकते। वह भी उपाय एक है, परसे विमुख हो जाय और निज के सम्मुख हो जाय। स्व में स्व का अनुभव करना, परको पर जानना। 'निजको निज परको पर जान, फिर दु:ख का नाहिं लेश निदान।' इन दु:खों से मुक्त होने का उपाय है जिसे सरल भाषा में कहो—भेदविज्ञान। भेदविज्ञान ज्ञान का अर्थ है—परको अपने से भिन्न समझना। देखिये—मकान, वैभव, सोना, चांदी आदिक अपने से निराले हैं ना, और जो घर में परिजन हैं, कुटुम्बीजन हैं वे भी हम से निराले हैं ना, और यह शरीर यह भी निराला है, कम से कम कहते तो जावो (हंसी) अच्छा, और जो भीतर में कर्म बंधे हैं वे भी निराले हैं और इन कर्मों के उदय से जो रागद्वेष मोह पैदा हुआ वह भी निराला है। वह कैसे निराला है कि जीव सदा रहता है। रागद्वेषभाव सदा नहीं रहते। मैं मिटने वाला नहीं हूं। ये रागद्वेष कर्म के उदय में होते और फिर मिट जाते, इससे जाना कि ये रागद्वेष मुझसे न्यारे हैं और मन में जो विचार उठता है कल्पनायें उठती हैं, ये भी निराली हैं कि नहीं? ये भी निराली हैं, क्योंकि ये सब उपाधि की वजह से विचार उत्पन्न होते हैं।

(१३७) आत्मनिर्णय—मैं क्या हूं? मैं हूं एक ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मवस्तु ज्ञायक भाव, ज्ञानमात्र। एक अपने को समझना हो तो ज्ञान में एक बात लावो कि मैं सिर्फ जानकारी मात्र हूं, ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान से अतिरिक्त और मैं कुछ नहीं हूं, ऐसा अपने आपमें भाव लावें तो ऐसा ज्ञानमात्र भाव जब चित्त में आयगा तो ज्ञान में ज्ञान जब समा गया, ज्ञान में जब ज्ञानस्वरूप ज्ञेय बन गया तो और विकल्प न रहने के कारण ज्ञान का अनुभव होगा ओर उस ज्ञानानुभव में जो अनुपम आनन्द है वह आनन्द हमारे भव भव के कर्मों को काट देगा। जन्म

http://www.jainkosh.org

मरण के संकटों से छूट जायेंगे। तो हमें आनन्द पाने के लिए बाहर में करने को कुछ नहीं पड़ा है। यह निर्णय बना लें तो अपने पर बड़ी दया होगी। शान्ति पाने के लिए बाहर में कुछ करने को नहीं पड़ा है। किन्तु भीतर में करने को पड़ा है। क्या करने को पड़ा है? अज्ञान हटे और ज्ञान के प्रकाश में आवे—जैसे बोलते हैं 'तमसोमा-ज्योतिर्गमय' याने अन्धकार से हटाकर मुझको ज्ञानज्योति में ले जाओ। फर्क क्या पड़ा कि अन्य लोग ऊपर नीचे आंखें गड़ा कर कहते हैं कि हे भगवान् मुझे अन्धकार से उठाकर ज्योति में लावो, और यहां ज्ञानी अपने आपमें अपने स्वरूप को ज्ञान में लेकर अपने स्वरूप में कह रहा है, अपने अन्तरंग में पुकार रहा है कि 'तमसोमाज्योतिर्गमय, अर्थात् मेरे अन्दर बसा हुआ अज्ञान अन्धकार दूर हो जावे और अपना वास्तविक ज्ञानप्रकाश प्रकट हो जावे। मेरा अज्ञान हटे और ज्ञानप्रकाश मेरे में आवे तो मेरा भला हो सकता है।

(१३८) सरस्वती माता का प्यार—हमारे पूर्व ऋषिसंतो ने यह स्पष्ट घोषणा की है कि यह संसारी प्राणी सुख चाहता है और दुःख से डरता है। तो मैं तेरे मन के मुताबिक कुछ उपदेश करूंगा। तू घबड़ा नहीं। लेकिन जैसे किसी बच्चे को किसी विपरीत काम की धुन लग जाय तो वह उसमें हित मानता और उसकी ही हठ करता है। उसकी मां उसे कितना ही समझाये, पर उसके मन में नहीं आता। क्या मां कभी उस बच्चे के विरुद्ध भी कुछ कर सकती है? वह तो उसके हित के लिए ही सारी बातें किया करती है तिसपर भी उस हठी अज्ञानी बालक को जो चित्त में आया उस ओर ही वह बढ़ता है इसी प्रकार अज्ञानी जीवों को जो कुछ मनमें आया, विपरीत आया है तो वह विपरीत मार्ग की ओर ही चलता है, यह जिनवाणी मां कितना ही समझाती है लेकिन इसके चित्त में नहीं उतरता। क्या यह श्रुतदेवता कभी मेरे अहित के लिए भी बोल सकता है? जितना जो कुछ यह जिनवाणी बतलाती है, इस शारदा, सरस्वती मां का सारा प्रयास यही है कि ये संसारी प्राणी दुःख से हटकर सुख में आयें। मगर इन अज्ञानियों की समझ में नहीं आता।

(१३९) सर्वाधिक वस्तु से प्यार का कर्तव्य—एक बात यहीं देख लो लोग यह चाहते हैं कि मैं अधिक से अधिक राग बनाये रहूं, प्रेम बनाये रहूं और किससे प्रेम बनाना चाहते हैं जो इनको प्रेम के लायक जंचते हैं। तो संत भी यह उपदेश करते हैं कि तू सही है, ठीक मार्ग पर है, तू प्यार कर मगर उससे अपना प्यार बना जो सर्वाधिक प्यार की चीज हो। तुझे प्यार करने को हम नहीं मना करते, खूब प्यार कर, डटकर प्यार कर लेकिन प्यार उससे कर जो जगत में सर्वाधिक प्रिय चीज हो, ऐसी चीज से प्यार करने से क्या लाभ कि जिसका प्यार टिकता नहीं। अभी प्यार किया कुछ समय बाद वह प्यार छूट गया, दूसरी जीच से प्यार करने लगा, तो ऐसी चीज से प्यार करने से फायदा क्या? प्यार कर उस तत्त्व से, उस वस्तु से, उस तथ्य से जो लोक में सर्वाधिक प्रिय वस्तु हो। अब विचार करें कि ऐसी कौन सी वस्तु है जो लोक में सर्वाधिक प्रिय होती है। उससे अधिक प्रिय वस्तु नहीं मिला करती। तो जरा इस बात को एक घटना द्वारा समझिये किसी छोटे ४—६ माह के बच्चे को सबसे प्रिय चीज क्या होती है? अपनी मां की गोद। कभी उस बच्चे को कोई डराये तो वह बच्चा अपनी मां की गोद में छिपकर अपने को रक्षित समझता है। तो उस बच्चे को सबसे अधिक प्रिय है अपनी मां की गोद। वही बच्चा जब कुछ बड़ा हो जाता है, ४—६ वर्ष का हो जाता है तो उसे सबसे अधिक प्रिय हो जाते हैं खेल खिलौने। अब उसे मां की गोद भी प्रिय नहीं रहती मां उसे खाने पीने को बुलाती है, पर वह बच्चा खेल में चित्त होने से भाग जाता है। अब उसे सबसे अधिक प्रिय हो जाते हैं खेल खिलौने। वही बच्चा जब पढ़कर ८—१० वर्ष का हो जाता है तो उसे सबसे अधिक प्रिय हो जाती है विद्या। नई नई बातें सुनता है, भूगोल की बातें, जोड़, घटाना, भाग आदि की बातें सुनता है तो वे बड़ी प्रिय लगती हैं, अब उसे खेल खिलौने प्रिय नहीं रहते। वही बालक जब १७, १८ वर्ष का हो जाता है तो फिर उसे वह विद्या भी प्रिय नहीं रहती।

Version 1

उससे प्रिय हो जाती है डिग्री। उसको तो विद्या सीखने से मतलब नहीं, बस किसी तरह से पास हो जाना चाहिए, डिग्री मिल जानी चाहिए। वह परीक्षा देने के बाद पता लगाता है कि कापियां किस प्रोफेसर के पास गई। अनेक प्रयत्न करके वह परीक्षा में पास होना चाहता है तो उसे अब वह विद्या प्रिय नहीं रहती। वही बालक जब कुछ और बड़ा हो जाता है तो उसे सर्वाधिक प्रिय स्त्री हो जाती है। अब उसे वह डिग्री भी प्रिय नहीं रहती। कुछ वर्ष बाद जब कुछ बच्चे हो जाते हैं तो फिर बच्चे उसे सर्वाधिक प्रिय हो जाते हैं। अब उसे वह स्त्री भी प्रिय नहीं रहती। कुछ और बड़ा होने पर उसे सर्वाधिक प्रिय हो जाता है धन। क्योंकि उसे बच्चों का पालन पोषण भी करना है, समाज के लोगों के बीच भी रहना है। अब उसे वे बाल बच्चे भी सर्वाधिक प्रिय नहीं रहते। मान लो वह किसी दफ्तर में काम करता हो, कदाचित् टेलीफोन आ गया कि घर में आग लग गई तो वह झट घर भागता है। वहां क्या देखता है कि आग बड़ी तेज लग गई है। बढ़ती जा रही है तो वह झट घर का सारा सामान निकाल देता है। घर के बाल बच्चों का बाहर निकाल देता है। मान लो कोई बच्चा अभी नहीं निकल सका, घर के अन्दर ही रह गया तो वह सड़क पर खड़े हुए लोगों से मिन्नत करता है कि भैया मेरे बच्चे को कोई निकाल दो। हम १० हजार रुपये देंगे, अब बताओ उसे क्या प्रिय हो गया? उसे प्रिय हो गए प्राण। अब उसे धन भी प्रिय न रहा। मान लो कदाचित् उस घटना में वह विरक्त हो जाय, घर बार छोड़कर जंगल में पहुंच जाय वहां पहुंच कर वह ज्ञानाभ्यास करे। वहां मानो उसे हो गया आत्मस्वरूप का दर्शन। अद्भुत आनन्द प्राप्त कर ले, अब उसे चाहे कोई भी जीव जन्तु चीथे, खाये, मारे अथवा कोई शत्रु सताये फिर भी वह अपने प्राणों की रंच भी परवाह नहीं करता। उसे वहां प्राण प्रिय नहीं रहते। वह तो अपने ज्ञानानन्द स्वरूप में लवलीन रहता है। तो अब उसे सबसे अधिक प्रिय वस्तु हो गई ज्ञान। उसका प्यार आत्महितकारी कदम है।

(१४०) सर्वाधिक प्रिय तत्त्व की शरण्यता—अब ज्ञान के बाद सर्वाधिक चीज क्या हो सकती है सो आप लोग बताओ। इसके बाद भी अगर कोई सर्वाधिक प्रिय चीज हो तो हमें मालूम नहीं। आप लोगों को अगर मालूम हो तो बताओ। इससे अधिक प्रिय चीज और कुछ तो नहीं है ना? तो सर्वाधिक प्रिय चीज है ज्ञान। अब यह समझिये कि सर्वाधिक प्रिय वस्तु, उत्तम वस्तु, शरणभूत वस्तु है तो यह एक ज्ञान तत्त्व है, अपने ज्ञानस्वरूप से, ज्ञानस्वभाव से इसे प्यार हो तो यह चीज तो सारभूत है और बाकी बातें तो अत्यन्त असार हैं। अब सारहीन बातें होकर भी कुछ बातें ऐसी होती हैं कि जो गृहस्थावस्था में रह कर करनी पड़ती हैं। ठीक है करनी पड़ती हैं तो करें मगर सही तत्त्व अपनी दृष्टि में रखें कि मेरे लिए सारभूत है तो अपने अन्तः प्रकाशमान प्रभुस्वरूप की उपासना ही सारभूत हैं, बाकी सब असार है। स्थिति है। कैसे समझा? यह तो प्रकट दिख रहा कि घर मकान मेरे से भिन्न हैं, मेरे से मिले हुए नहीं हैं। इनको छोड़कर जाना पड़ता है और छूटे हुए तो हैं ही। देखो आप लोग यहां मन्दिर में बैठे हुए हैं तो कहीं आपका मकान आपके साथ चिपक कर नहीं आया। वह आप से अत्यन्त भिन्न है, असार है, ये धन वैभव मकान महल कुछ भी सारभूत चीजें नहीं हैं। मेरे लिए सारभूत चीज है तो मेरा ज्ञान है। अगर उन बाह्य चीजों से कुछ सुख मिलता है तो वह सुख उन बाह्य चीजों से नहीं आया, किन्तु उन बाह्य पदार्थों के प्रति जो अपने अन्दर ज्ञान बनाया, कल्पना बनाया, ख्याल बनाया उसका सुख है। आप कदाचित दुःखी हो रहे हैं तो कहीं किसी बाह्य पदार्थ से दुःख नहीं आता, किन्तु आपने उन बाह्य पदार्थों के प्रति उस ढंग का ख्याल बनाया, ज्ञान बनाया, उससे आप दुःखी हो गए। तो यहां के ये सुख दुःख तो ज्ञान की कला पर निर्भर करते हैं। कहीं धन कम होने से दुःख नहीं होता, परिवार में किसी के मर जाने से दुःख नहीं होता। किन्तु जो यह कल्पना बनाया कि हाय मेरा यह चला गया, बस इस ज्ञान की कल्पना ने ही उसे दुःखी कर डाला। ये सुख दुःख तो कल्पना के आधार पर चलते रहते हैं। अगर अपने आपको एक सच्चा ज्ञानप्रकाश हो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

जाय, तो फिर ये दु:ख नहीं पैदा हो सकते।

(१४१) ज्ञान की शुद्ध व अशुद्ध दशावों के परिणामों का अन्तर—जो दु:खी होने की विधि है वह भी ज्ञान की एक दशा है और जो सुखी होने की विधि है वह भी ज्ञान की ही एक दशा है। और जो आनन्द पाने की विधि है वह भी ज्ञान की ही एक दशा है। जहां भ्रम है वहां क्लेश है और जहां सच्चा ज्ञान है वहां उसे आनन्द है। देखो है तो मामूली सी बात पर वहां एक तथ्य का दर्शन होगा। जब कोई सेठ अपनी बारात ले जाता है तो पहिले दिन एक बड़ा जलूस निकालता है, जिसे कहते हैं चढ़त। यह चढ़त शब्द ठीक ही रखा गया। चढ़त का अर्थ है चढ़ गया। किस पर चढ़ गया ? लड़की के बाप पर चढ़ गया। तभी तो देखो आजकल लड़की का बाप बहुत दु:खी हो जाता है। लोगों के आजकल शादी ब्याह में बहुत कुछ फिजूल खर्च रख दिया है। उस फिजूल खर्च के कारण लड़की का बाप हैरान हो जाता है। तो पहिले दिन जब चढ़त गया तो उस दिन लड़के का बाप कोई एक हजार रुपये की आतिशबाजी फूंक देता है। वह भी कोई १०-१५ मिनट में ही फुंक जाता है। देखो १०००) का नुकसान हो गया फिर भी इस नुकसान से लड़के का बाप रंच भी दु:खी नहीं होता। उसके दु:खी न होने का कारण यही था कि उसने उसके विषय में सही ज्ञान पहिले से ही बना रखा था, क्या कि यह आतिशबाजी तो फुंकने की ही चीज है। तो इस सही ज्ञान के कारण उसे दु:ख नहीं होता। और कदाचित् उस सेठ का कोई चार-पांच रुपये का गिलास गुम जाय, मानो १० गिलास लाया था और रह गये ९ ही तो वह उसके पीछे बड़ा दु:खी होता है। उसको वह दु:ख क्यों आया ? इसलिये कि उसने उसके विषय में सही ज्ञान न बनाया था। उस गिलास के विषय में उसे यह भ्रम बना था कि वह तो मेरा था, वह मेरे पास रहने वाली चीज थी। इस मिथ्या धारणा के कारण ही वह दु:खी हुआ। इसी प्रकार अगर यहां ग्रहस्थावस्था में यह ज्ञान बनाये रहें कि ये जो समागम हैं वे सब विनाशीक हैं, मिटने वाले हैं। यह बात सच है ना ? जितनी सयुक्त वस्तुवें हैं उनका वियोग नियम से होगा। जो कुछ भी स्त्री पुत्र पिता वैभव घर इज्जत लोगों के द्वारा कुछ मान्यता है याने ये सब जो मायायें हैं ये मिटने वाली हैं, यह विश्वास बनाये रहें तो अचानक कुछ भी घटना घट जाय तो आपको क्लेश न होगा और अगर इस श्रद्धा से चिगे तो क्लेश होगा। तो सच्चा ज्ञान ही आनन्द का कारण हैं और भ्रम वाला ज्ञान ही दु:ख का कारण है।

(१४२) सुख दु:ख का कारण स्वयं का परिणमन—सुख दु:ख देने वाला कोई दूसरा नहीं है। 'सुख दु:ख दाता कोई न आन। मोह राग रुष दु:ख की खान॥' तो भाई एक निर्णय बने कि मेरे को जितने क्लेश हो रहे हैं वे सब मेरे रागद्वेष मोह से हो रहे हैं, किसी दूसरी घटना के कारण नहीं होता। जब अज्ञान छाया हुआ है तो दूसरे जीवों से यह विरोध रखता है, द्वेष करता है—इसने मुझे सताया। अरे आपका कोई सताने वाला नहीं है, आपका रागद्वेष मोह ही आपको सताने वाला है। दूसरा क्या कर रहा ? वह तो अपने आपमें अपनी चेष्टा कर रहा है। जैसे एक बालक बीस हाथ दूर खड़ा हुआ किसी बालक को चिढ़ा रहा है। जीभ निकालता है, अंगुठा दिखा रहा है, वह तो २० हाथ दूर खड़ा हुआ बालक चिढ़ता है, रोता है, दु:खी होता है। अब भला बतलाओ—उस बालक ने इसे दु:खी किया क्या ? अरे उसने तो अपने आपमें अपनी सब कुछ परिणति की। अपनी जीभ हिलायी, अपना अंगूठा दिखाया। पर वह २० हाथ दूर खड़ा हुआ बालक दु:खी होता है अपनी कल्पना से। अगर वह यह ज्ञान करे कि इसने अपनी ही तो जीभ हिलायी, अपना ही तो अंगूठा दिखाया, मेरे में उसने क्या किया ? इस तरह की दृष्टि बने तो फिर क्यों चिढ़े ? तो जितने भी लोग दु:खी हैं वे अपने आपकी कल्पना से। जगत में मेरा कोई दूसरा विरोधी नहीं है। मैं कल्पनायें करता और दु:खी होता हूं। मैं कल्पनाओं को छोडूं और सुखी हो लूं।

(१४३) कल्पनाओं की निर्मूलता—लो कल्पनायें छोड़ने के प्रसंग की बात सुनो—देखो जगत के ये लौकिक वैभव मकान सोना चांदी आदिक ये प्रकट पर हैं, भिन्न हैं, इनसे मेरा क्या तालुक ? परिजन मित्रजन

http://sahjanandvarnishastra.org/

कुटुम्बीजन जितने जो कुछ हैं वे सब भी मेरे से जुदे हैं, इनसे भी मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। यहां तक कि देह से भी मैं न्यारा हूं, देह भी मेरा कुछ नहीं है। मैं क्या हूं? इस देह से निराला कोई एक चैतन्य स्वरूप जीव हूं। इसके भीतर एक क्षेत्रावगाह कर्म भी पड़े हैं वे कर्म भी मैं नहीं हूं, क्योंकि वे जड़ हैं, मैं चेतन हूं, और जब उन कर्मों का उदय होता है तो इस चेतन में एक ऐसी छाया आती है जो एक रागद्वेषरूप बन जाता है। तो वह रागद्वेष भी मैं नहीं हूं। जैसे दर्पण के सामने कोई बच्चा बैठा हो और उसकी छाया दर्पण में आ रही, तो दर्पण में जो छाया आयी है क्या वह बच्चा है? अरे बच्चा वह है जो दूर खड़ा है, और दर्पण में जो छाया आयी है वह क्या दर्पण की असली चीज है?…नहीं। क्योंकि बच्चे की छाया पड़ रही है। तो जैसे उस छाया से दर्पण का स्वरूप निराला है इसी प्रकार ये रागद्वेष विषय कषाय, इच्छा, विचार संस्कार कल्पनायें इन सबसे निराला मेरा स्वरूप है। वह स्वरूप है केवल ज्ञानज्योतिमात्र। ये कुछ भी मेरे नहीं हैं। ऐसा निर्णय करके ये पदार्थ अगर उल्टे चलते हों तो ठीक, सीधे चलते हों तो ठीक। जैसे चलते हों चलें। इनसे मेरा कोई सुधार बिगाड़ नहीं है, ऐसी दृढ़ श्रद्धा अपनी बनाये रहो। करें अपनी शक्ति के अनुसार। नहीं करने की शक्ति है तो श्रद्धा तो रखें, जानें तो सही कि इसका सब कुछ इसमें ही होता है। इससे निकलकर मेरे में कुछ नहीं आता। मेरा सब कुछ मेरे में ही होता है, मेरे से निकालकर बाहर में कुछ नहीं जाता, इस प्रकार की सच्ची श्रद्धा तो रखें तो अवश्य ही कल्याण होगा। बेड़ा पार होगा। और अगर इस श्रद्धा से विमुख हुए तो कल्याण नहीं हो सकता।

(१४४) जीवतत्त्व की भौतिक पदार्थों से विविक्तता—बात यह चल रही थी कि भाई हमें सुख मिले, दुःख न रहे, तो ऋषि संतों के उपदेश इसीलिये हैं कि हमें शांति मिले, दुःख न मिले। थोड़ा विवेक करके सोचेंगे तो सब समझ में आ जायगा और एक विवेक को हटा लेंगे तो कुछ समझ में न आयगा। भीतरमें परखो, बाहर के विचार देखकर जराअपने अन्दरकुछ निरखने चलें, भीतरजो सोच रहा है, विचार रहा है, ऐसा वह कौन पदार्थ है? वह पदार्थ है केवल एक ज्ञानस्वरूप। आत्मा और कुछ नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु मिल गए तो जीव बन गया, मगर यह बात नहीं है। अगर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के मिलने से जीव मिल जाय तब तो बड़ा गड़बड़ हो जायगा। जैसे जब कभी मिट्टी की हांडी में खिचड़ी पकाई जा रही हो तो वहां देखो मिट्टी भी है, जल तो उसमें भरा ही हुआ है, अग्नि भी खूब तेज जल रही है, और हवा भी वहां खूब भरी हुई है। हांडी के अन्दर पानी का उबाल होता है, भाप निकलती है, तो वहां हवा भी है। अब देखो वहां पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु सभी मिल गए। अगर इन चारों के मिलने से जीव बनता होता तब तो उस हांडी में से हाथी, घोड़े, बाघ, शेर सब कुछ निकल पड़ने चाहिए था, पर ऐसा तो नहीं होता तो उनकी यह बात गलत है। इन चारों चीजों के सम्बन्ध से जीव नहीं बनता। जीव तो एक ही सत्वान पदार्थ है, बस जब यह श्रद्धा नहीं रहती तब वह किसी भी काम का नहीं रहता जीव। दुःखी रहता है। अपनी श्रद्धा बनावें कि मैं हूं, स्वतन्त्र हूं अर्थात् मेरी सत्ता को किसी ने बनाया नहीं। ऐसा बताते ही हैं दार्शनिक लोग, वैज्ञानिक लोग भी यही कहते हैं कि जो असत् पदार्थ है उसकी उत्पत्ति नहीं होती जो सत् है उसका कभी विनाश नहीं होता। जो है नहीं, क्या वह बन जायगा? जो है क्या वह मिट जायगा? वे भी बता देंगे कि जिनकी सत्ता ही नहीं है वे कभी बन नहीं सकते। और जिनकी सत्ता है वे कभी मिट नहीं सकते। उसकी दशा कितनी ही बदल जाय मगर वे मिट नहीं सकते। तो मैं हूं, अपने आपमें हूं इसका तो विश्वास है कि मेरी सत्ता है। जब मैं हूं तो नियम से अनादि से हूं और जब मैं हूं तो नियम से अनन्तकाल तक रहूंगा। अब जो नहीं रहता है उसे हूं न मानें। यह देह नहीं रहता इसे मैं मत समझें। विकल्प, विचार, ख्याल ये सब होते हैं और मिट जाते हैं, इन्हें मैं न समझें।

(१४५) ध्रुव अन्तस्तत्त्व की अध्रुवों विविक्तता—मैं ज्ञान परिणामों का आधारभूत कोई ज्ञानज्योति

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्वरूप पदार्थ हूं, उसकी श्रद्धा बनायें और जब मैं हूं तो पहिले भी तो था। यह सोचें कि मैं पहिले क्या था? तो इस समय मैं अशुद्ध हूं, शुद्ध नहीं हूं। अशुद्ध होता है तो अशुद्ध से अशुद्ध बनता है, शुद्ध के बाद अशुद्ध नहीं बन सकता। तो इतना निर्णय है कि मैं इस भव से पहिले भी कोई आत्मा था। अब वह मैं अशुद्ध आत्मा क्या था? तो उसका निर्णय बना लें जगत के जीवों को देखकर। ये पशु पक्षी कीड़ा मकोड़ा, पेड़ पौधे ये सब जीव जितने दिख रहे हैं बस इनमें से ही तो कोई मैं था। एक बात और संतों ने बताया है कि थे तो जरूर हम ऐसे शुद्ध मगर सबसे पहिले हम कैसे अशुद्ध थे? जिसे कहते हैं निगोद, बहुत खोटी दशा। याने ज्ञान ऐसा दवा है कि समझो जड़वत हो? जड़ तो नहीं होते, हैं वे चेतन, मगर वे एकेन्द्रिय हैं और उनमें भी एक निगोद जीव हैं। एक जीव में जितना वहां ज्ञान बताया है वह क्या है? एक अक्षर के अनन्तवें भाग प्रमाण। ऐसा तो वह ज्ञान है। और जितने भी जीव हैं वे सब एक शरीर के आधीन है। ऐसी कठिन दशा है। वहां से किसी तरह निकल आये तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु प्रत्येक वनस्पति आदिक हुए। फिर वहां से और विकास किया तो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय, और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय आदि जीव हुए। फिर वहां से भी बड़ी कठनाई से निकलकर हम आप आज मनुष्य की पर्याय में आये हैं। अब समझ लो—यहां आकर हम आपकी कितनी बड़ी जिम्मेदारी है। लोग तो पुण्योदयवश जो चाहते हैं सो पा भी लेते हैं, लेकिन इनको पाकर जो मुग्ध हो जाते हैं वे तो अपने आपके भगवान पर हमला कर रहे हैं। फल इसका क्या है कि मरने के बाद कुयोनियों में जाना पड़ेगा। देखो जिसमे विश्वास बनाये हुए हैं—घर में, परिवार में, सम्पदा में ये कुछ भी मदद देने वाले न होंगे! शरीर छोड़कर चले गए, अब इसका कोई साथी नहीं। न जाने कहां उत्पन्न होंगे? अब इसका यहां रहा क्या? तो भाई जब मरने के बाद कुछ मेरा रहने का नहीं, जिन्दगी में भी अगर यह श्रद्धा बनाये रहें कि ये मेरे कुछ नहीं हैं, इसी के मायने तो संत पुरुष है। घर में रहकर भी संत बनें तो सुखी हो जायेंगे।

(१४६) सत्य से विपरीत आचरण में कष्टों का समागम—जो बात सत्य है उसे मान लो। अभी कुछ ही वर्ष बाद सब कुछ छूट जायगा। उसे अभी से यह समझें कि यह तो मेरे से छूटा हुआ ही है। मेरे में कहां चिपका है। इससे मेरे आत्मा का क्या भला होता है, यह तो तृणवत् असार है। इससे मेरे आत्मा के हित का कोई सम्बन्ध नहीं। इस तथ्य को परख लो, सत्य बात को मान लो अगर नहीं मानते हो सत्य तत्त्व को तो दु:खी कौन होगा? कोई दूसरा दु:खी होने न आयगा। जैसे कोई बच्चा रुठ गया है, बहुत रोता है, हठ पकड़ गया है तो उस बच्चे को बहुत-बहुत लोग समझाते हैं बेटा हठ न करो, रोवो मत, यहां बैठ जावो, कुछ खा पी लो, लेकिन उसने ऐसी हठ पकड़ लिया कि मुझे तो खाना ही नहीं है तो वह एक कोने में बैठकर रोता रहता है। अब भला बतलावो जब उसने ऐसी हठ पकड़ लिया तो फिर दु:खी कौन होगा? उसे ही तो दु:खी होना पड़ेगा। तो भाई यहां व्यर्थ की हठों को छोड़ें, पर का आग्रह छोड़े, अपने आपके स्वरूप की ओर आयें और यहां का आनन्द लूटें। बाह्य पदार्थों को ऐसा जान लें की आखिर ये १०—५ वर्ष बाद में मेरे से छूट ही जायेंगे तो अभी से उन्हें छूटा हुआ मान लें। उसके प्रति एक सच्चा ज्ञान बनायें तो आनन्द मिलेगा। और अगर मिथ्या ज्ञान रहेगा तो कष्ट ही सहना पड़ेगा।

(१४७) अपने भविष्य निर्माण का अपने पर दायित्व—सम्यग्ज्ञान भेद विज्ञान में मिलेगा। मैं जुदा हूं, सबसे निराला हूं। केवल अपने ज्ञान की विधि से सुख, दु:ख आनन्द पाता हूं, मेरा जिम्मेदार केवल मैं ही हूं। मैं संसार में एक अकेला केवल अपने आपका जिम्मेदार हूं। अन्य कोई मेरा जिम्मेदार नहीं। ऐसी श्रद्धा बनावें और उसके अनुसार अपनी कुछ कुछ परिणति बने तो कल्याण का मार्ग मिलेगा। इसलिए तो हम प्रभु की भक्ति करते, प्रभु का पूजन करते। प्रभु हो गए ऐसे। प्रभु से हमारा रिश्ता क्या? रिश्ता यही है कि जो पुरुष किसी से

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मिलता है तो उसके मिलने का रिश्ता केवल एक यह है कि इनमें कोई बड़ी चीज है जिससे हमको सुख प्राप्त होगा और वह मेरे में आ सकता है। जैसे यहां किसी धनिक से जब यह आशा होती है कि इससे मुझे कुछ धन मिल सकता है तभी तो लोग इसका मान सम्मान करते हैं, ऐसे ही प्रभु के दर्शन पूजन भी हम इसी उद्देश्य से करते हैं कि इनसे मुझे कुछ मिलेगा। उनसे क्या मिलेगा ? अरे उनके पास एक बहुत बड़ी निधि है। क्या ? ज्ञान और आनन्द की उत्कृष्टता। बस उनके वैभव स्वरूपदर्शन से अपने इस वैभव को हम भी प्राप्त कर सकते हैं इनके दर्शन पूजन के माध्यम द्वारा। यह ही उत्कृष्ट वैभव है। यही मेरे को चाहिये और यह मेरा वैभव मेरे में आ सकता है। समंतभद्राचार्य एक बहुत बड़े आचार्य हुए हैं। उन्होंने पहिले तो देवागम स्तोत्र बनाया, जिसमें यह परीक्षा की कि मेरा मस्तक किसे नमना चाहिए ? कौन सा देव ऐसा है जो मेरे सिर झुकाने लायक है ? केवल इसकी परीक्षा की। परीक्षा करने में जो उन्होंने साहित्य निर्माण किया उसमें सभी मतमतान्तरों का जिक्र आ गया है। उसमें उन्होंने शुद्ध तत्त्व का जिक्रकर दिया। उसका आधार यह था कि हे भगवन् एक आप ही निर्दोष हैं इसलिए आप के ही चरणों में मेरा सीस झुकेगा। आप कैसे निर्दोष हैं सो सुनो—आपकी वाणी युक्ति और शास्त्र से विरोध नहीं खाती, इससे जाना कि आप निर्दोष हो। आपकी वाणी कैसे निर्दोष है कि आपकी वाणी से किसी को कषाय नहीं होता, आपकी वाणी में पूर्वापर कोई विरोध नहीं होता। आपकी वाणी निष्पक्ष है, प्राणिमात्र के हित के लिए है इससे जाना कि आपकी वाणी निर्दोष है। जैसे यहां कोई पुरुष स्वस्थ है या अस्वस्थ, यह बात आप कैसे जानेंगे ? तो यह बात उसकी वाणी से पहचानी जा सकती है। किसी को जब सर्दी जुखाम है तो उसकी वाणी और प्रकार की निकलती है और जब बिल्कुल ठीक स्वस्थ दशा होती है तो वह वाणी और तरह की निकलती है तो जैसे इस वाणी के द्वारा ही किसी को स्वस्थ अथवा अस्वस्थ परखा जाता है इसी प्रकार आपको वाणी के द्वारा ही हमने परखा कि आप निर्दोष हैं। इस बात को सिद्ध करने के लिए अनेक मत-मतान्तरों का वर्णन करना पड़ा। तो पहिले तो यह परीक्षा की कि ये प्रभु मेरे नमस्कार किये जाने योग्य हैं। फिर युक्त्यनुशासन बनाया जहां भगवान का स्तवन किया और नमस्कार किया।

(१४८) नयपरिज्ञान न होने से कुलषित जनगण में जैनशासन के निरूपन की कलिकाल में विडम्बना—स्तवन करने से पहिले यह बात बतायी गई कि हे भगवन्, आपका स्तवन कौन कर सकता ? किसी में यह सामर्थ्य नहीं कि जो आपके गुणों का वर्णन कर सके। तब फिर तुम कुछ कहते क्यों आये हो बोलो।··· भगवन् मैं इतना ही कह सकता हूं कि हे भगवन्, आप ज्ञान और आनन्द की उत्कृष्ट दशा हैं। देखो इसमें सब बातें आ गई। याने जिसका ज्ञान ऊंचे से ऊंचा हो, जिसका आनन्द ऊंचे से ऊंचा हो, वह है परमात्मा। फिर एक प्रश्न उत्पन्न होता कि हे समन्तभद्र—भला बतलाओ कि जब ज्ञानानन्द निधान यह परमब्रह्म उत्कृष्ट है, इसका जब उपाय बताया गया है तो फिर ऐसे अलौकिक धर्म का दुनिया में प्रभाव क्यों नहीं फैल रहा ? क्यों नहीं एक अधिपत्य बन रहा है इस पवित्र जैन शासन का ? इस प्रभु की प्रभुता का क्यों नहीं एकछत्र राज्य चल रहा ? तो तीन उत्तर उन्होंने दिये—'कलः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा।' हे भगवन् ! तुम्हारे इस पवित्र शासन का जो जगत में एक छत्र राज्य नहीं है उसका कुछ कारण है। क्या कारण है सो सुनो—एक तो है कलिकाल, दूसरे—सुनने वाले श्रोतावों का आशय कुलषित है और तीसरे—बोलने वाले वक्ताओं को नयों का परिज्ञान नहीं है। इन ही तीनों कारणों के कारण हे भगवन्, आपका पवित्र शासन एक क्षत्र राज्य नहीं कर पा रहा है। अब जरा इन तीनों बातों पर ध्यान दो—कलिकाल है।

(१४९) कलिकाल की जैनशासन प्रसार में बाधकता—कलिकाल का क्या असर है ? इसे एक कथा में बताया है कि जैसे मानो कल के दिन कलिकाल लगना है तो उससे एक दिन पहिले एक आदमी ने किसी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

के हाथ अपना टूटा फूटा मकान बेच दिया। उस मकान को खरीदने वाले ने खुदवाया तो एक अशर्फियों से भरा हुआ हंडा मिला। सो वह मकान खरीदने वाला बेचने वाले के पास जाकर कहता है कि भैया अपना यह अशर्फियों से भरा हुआ हंडा ले लो। यह आपके मकान में से निकला है, यह आपका है। तो वह बेचने वाला बोलता है—अरे अब मेरा क्यों, मैंने तो मकान बेच डाला। अब उसमें मेरा क्या अधिकार? वह तो अब आपका हो चुका, मेरा न रहा, अतः इसे आप ही रखिये, मैं न लूंगा। तो खरीदने वाला बोला कि भाई मैंने तो आप का मकान खरीदा है, इस अशर्फियों के हंडे को नहीं खरीदा, अतः यह मेरा नहीं है, इसे आप लें। यों वे दोनों ही उसे अपने पास रखने को तैयार न हुए। आखिर यह विवाद ऐसा बढ़ा कि राजा के पास न्याय करवाने के लिए वे पहुंचे। जब राजा के सामने उन दोनों ने अपनी-अपनी बात रखी तो राजा उन दोनों की बात सुनकर बड़ा हैरान हुआ। उस समय तो कुछ निर्णय न दे सका, बोला कि इसका न्याय हम कल करेंगे। अब देखिये—एक ही रात्रि के बाद में कलिकाल लगने वाला था, लगा नहीं था, लगने ही वाला था, उसी रात्रि को उन तीनों के परिणाम बदल गए। मकान बेचने वाला सोचता है कि देखो मैंने कितनी बेवकूफी की। अरे वह देने ही तो आया था, लेने तो न आया था, तो कल के दिन तो मैं उसे ले लूंगा। यों ही मकान खरीदने वाला सोचता है कि अरे मैंने कितनी बेवकूफी की। मैं व्यर्थ ही अशर्फियों का हंडा उसे देने गया था, अब कल के दिन मैं ही अपने पास उसे रख लूंगा। ऐसे ही राजा के मन में भी ऐसा विचार हुआ कि खो ये दोनों कैसे बेवकूफ हैं। दोनों ही उसे अपने पास रखना नहीं स्वीकार करते। अरे उस पर अब उन दोनों का क्या अधिकार? वह तो जमीन के अन्दर निकला है, उस पर तो राजा का अधिकार है, अतः कल के दिन मैं उसे ले लूंगा। तो यह एक कलिकाल की बात सुनायी। देखिये जब कलिकाल के प्रारम्भ में ही लोगों की भावनायें इस ढंग की हो गई तो फिर इस कलि-काल के बीच की तो बात ही क्या कही जाय। तो हे भगवन्, कलिकाल है इसलिए आपका यह पवित्र शासन एक छत्र राज्य न कर सका। देखिये—आपके इस पवित्र शासन की बड़ी महिमा है। आपका धर्म एक विश्वधर्म है, आत्मधर्म है। आत्म की बात बतायी जा रही कि रागद्वेष मोह न करो, अपने आत्मा का ज्ञान करो, आपके उपदेश में कोई पक्ष की बात नहीं है, कोई मजहब वाली बात नहीं है। तो एक कारण है कलिकाल।

(१५०) श्रोताओं के कलुषित आशयों की जैनशासन प्रसार में बाधकता—सुनने वालों आशय मलिन है—अजी मेरी जैसी बात कहेंगे तो मेरे लिए अच्छा है और मेरी जैसी बात न कहें तो काहे के अच्छे। एक बार की बात है कि किसी राजा के यहां कोई पुरोहित शास्त्र पढ़ा करता था। एक बार उस पुरोहित को कहीं बाहर जाना था सो वह अपने लड़के से कह गया कि बेटे आज तुम राजा के यहां शास्त्र सुना आना सो जब वह पुरोहित का लड़का शास्त्र पढ़ रहा था तो उसमें प्रकरण वश एक बात आयी कि जो तिलभर भी मांस खाये वह नरक जाता है। राजा उस बात को सुनकर बड़ा दंग रह गया। विचार करने लगा कि देखो आज तो पुरोहित ने मुझे अपने बेटे से गालियां दिलवायी है। बड़ा खेद हुआ उस राजा को। आखिर दूसरे दिन जब पुरोहित राजदरबार में शास्त्र सुनाने आया तो राजा ने बताया कि देखो पुरोहित जी। कल तो आपने अपने बेटे से मुझे गाली दिलायी। कैसे? देखो आपका बेटा यह कह रहा था कि जो तिलभर भी मांस खाये वह नरक जाये। तो पुरोहित बोला—हां महाराज ठीक ही उसने कहा था—जो तिल भर भी मांस खाये वह नरक जाये मगर उसने यह तो नहीं कहा कि जो बहुत ज्यादह मांस खावे वह नरक जावे। तो राजा बोला हां पुरोहित जी आप ठीक कह रहे हैं। तो हे भगवन् इन श्रोतावों का आशय कलुषित है इस कारण आपका पवित्र शासन एक छत्र फैल न सका।

(१५१) वक्तावों के नयविषयक अपरिज्ञान की जैनशासन प्रसार में बाधकता—बोलने वालों

Version 1

का नयों का परिज्ञान नहीं है, वे जरा जरासी बात में झगड़ जाते हैं, वाद विवाद करने लगते हैं। बात को समझते नहीं हैं, तो हे भगवन् यही कारण है कि आपका शासन एक छत्र न फैल सका। तो हे प्रभो, आपकी वाणी निर्दोष है इसलिये आप ही हमारे लिए पूज्य हैं, आपने जिस वैभव को पाया वही वैभव मुझे भी प्राप्त करना है। आपने जिस पंथ से चलकर प्रभुत्ता को प्राप्त किया है वही पंथ मुझे भी अनुकरण करने योग्य है, मुझे वह पंथ मिलेगा आपके प्रति होने से, अतः आपका ही शरण मेरे लिए सच्चा शरण है।

(१५२) अशुभ में उपयोग होने का दुष्परिणाम—जैसे मोटे रूप में कहते हैं कि उसका उपयोग यहां लगा, उसका उपयोग वहां लगा। जब जाप देते हैं उस समय उपयोग स्थिर नहीं रहता, यहां वह भटकता रहता है। बस यहां पर पदार्थों को विषय बनाना और परपदार्थों को विषय बनाकर उनकी ओर धुन रखना, इसी के मायने है उपयोग का भटकना। कहीं उपयोग आत्मा के प्रदेशों को छोड़कर यहां वहां नहीं भटकता लेकिन यह उपयोग यहां ही बना हुआ, यहां ही परविषयों का आश्रय कर करके जो पर की ओर इसका खिचाव, लगाव और आकर्षण बना रहता है, इसी के मायने है उपयोग का भटकना। जो यह उपयोग भटकता है तो उसमें परपदार्थ का विषय होता है। परपदार्थ की ओर धुन होती है, जहां नहीं भटकता है, लीन होता है, वहां एक स्वआत्मा विषय रहता है और एक स्वआत्मा में लीन हो जाता है। कोई स्थिति ऐसी होती है कि जो बहुत ऊंचे गुणस्थान में है, ११वें १२वें गुणस्थान में भी हैं और भगवंत प्रभु के भी है कि अनायास ही बाह्य के सर्व तत्त्व इसको प्रतिबिम्बित होते हैं वहा उपयोग नहीं भटकता, लेकिन हमारी ऐसी ऐसी स्थितियां हैं कि किसी पर पदार्थ में चित्त लगायेंगे तो वह हम आपके भटकने का कारण बनेगा और जिनकी साधना ऊंची हो जाती है, जो अप्रमत्त दशा को प्राप्त होते है उनका उपयोग नहीं भटकता। यहां हम आपके उपयोग भटकने की बात बनी रहती है, तब फिर हमारा कर्तव्य क्या है? कर्तव्य यह है कि अपने उपयोग को खराब चीजों में न भटकने दें, अच्छी चीजों में लगावें बाद में फिर खराब और अच्छी सबसे निवृत्त होकर एकमात्र ज्ञाताद्रष्टा रह जाय, ऐसी एक स्थिति होती है और उसमें जब यह मन चंचल है और कहीं न कहीं जाना ही चाहता है तो हमें मन को ऐसे काम में लगा देना चाहिए कि जिससे यह बुरे कामों से बचकर अच्छे कामों में लगा रहे।

(१५३) शुभोपयोग से अशुभोपयोग के आक्रमणों की विफलता—एक कथानक है कि एक राजा को देवता सिद्ध हो गया। तो देवता ने कहा राजन् आप हमें आज्ञा दीजिए आप जो कहेंगे सो हम कर देंगे। और अगर आप हमें काम नहीं बतावेंगे तो आपको खा जायेंगे। राजा ने कहा—अच्छा महल बना दो लो तुरन्त महल बन गया, राजन काम बताओ अच्छा एक सुन्दर तालाब बना दो—लो एक सुन्दर तालाब बन गया। राजन् काम बताओ अच्छा सड़क बना दो—लो सड़क बन गई। राजन काम बताओ अब तो राजा ने सोचा कि यदि मैं काम नहीं बताता हूं तो यह मुझे खा जायगा, सो एक बार उसको एक उपाय सूझा—राजा बोला—अच्छा एक ५० हाथ का लम्बा लोहे का डंडा गाड़ दो, लो गड़ गया।···राजन् काम बताओ, अच्छा एक पचास हाथ की लम्बी जन्जीर का एक छोर उस लोहे के डंडे में बांध दो और एक छोर अपने कमर में बांध लो। लो बंध गई। राजन् काम बताओ अच्छा जब तक हम मना न करें तब तक इसमें चढ़ो और उतरो। लो जब वह ऊपर चढ़ा तो नीचे उतरने का काम पड़ा है और जब नीचे उतरा तो ऊपर चढ़ने का काम पड़ा है। तो राजा रक्षित हो गया। तो ऐसे ही यह मन बड़ा चंचल है, यह खाली नहीं रहता। अब बतलावो मन को क्या काम बतावोगे कि जिससे अपनी रक्षा बनी रहे? तो मन को लगाता है अच्छे कामों में तभी अपनी रक्षा है। यद्यपि आत्मतत्त्व के प्रकरण में यह बात चरम उत्कृष्ट बात है। यह एक ऊंची स्थिति की बात है। इस उपयोग का कार्य है केवल एक शुद्ध स्वभाव की ज्ञान साधना और आचरण की। इन दो में मग्न रहें। यह स्थिति बहुत ऊंची है, मगर इस स्थिति में जो विषय

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वासना, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक के सस्कार लगे हैं तो ऐसे संस्कार वाले जीव अपनी और जिन्दगी भर में परिणति क्या करें ? तो हमारी प्रवृत्ति ऐसी शुभ होनी चाहिए कि जिसमें हमें शुद्ध की खबर रहे और अशुद्ध से हमारा छुटकारा रहे।

(१५४) शुभोपयोग की कृपालुता—शुभोपयोग में दो बातें बराबर एक साथ चल रही है—वीतरागता और सरागता। केवल राग राग से शुभोपयोग नहीं बनता और केवल वीतरागता से शुभोपयोग नहीं बनता। केवल वीतरागता है तो वहां शुद्धोपयोग बनता है। अशुद्धोपयोग तो अशुद्ध में ही ले जायगा। भला कुछ अनुभव से भी विचारों कि जब देव, शास्त्र, गुरू की भक्ति में आते हैं तो वहां वीतरागता की कितनी सुध रहती है, और जब स्त्री पुत्रादिक परिजनों की भक्ति में रहते हैं तो वहां कहां वीतरागता की सुध रहती है ? जब देव, शास्त्र, गुरू की भक्ति की जाती है तो वहां वीतराग स्वरूप का लक्ष्य प्रधान रहता है, जिससे प्रेरित होकर हम उनकी भक्ति में आते हैं। देखिये—जब समवशरण रचा जाता है उस समय सारा स्वर्ग खाली हो जाता है, देव इन्द्र वहां से चल उठते हैं और वे बड़े नाच गान तान के साथ प्रभु की भक्ति में विभोर होकर समवशरण मे पहुंचते हैं। बताइये उन इन्द्रों को किस चीज की जरूरत है ? उनको किसी बात की कमी है क्या ? अरे उनके पास तो खूब ऋद्धि है। भूख प्यास आदिक की वेदनायें नहीं हैं । अगर कभी खूख प्यास लगी भी तो उनके कंठ से अमृत झड़ जाता है और वे तृप्त हो जाते हैं। उनको किसी चीज की जरूरत तो नहीं है, पर वे क्यों भागे जा रहे उस समवशरण की ओर ? और किसके पास जा रहे ? एक अकिञ्चन के पास, उन प्रभु के पास न धन वैभव रखा है, न मित्रजन है, कुछ भी तो नहीं रहा, वे तो अकिञ्चन हो गए। फिर क्यों वे देव उनकी ओर भागे जा रहे ? और ये देखो—मनुष्यों में राजा महाराजा, चक्रवर्ती आदिक भी उनकी ओर भगे जा रहे। क्या हो गया उन्हें ? यह तो एक सन्देह वाली बात है। अरे जिनके पास न कोई दूकान है न रोजिगार है, जो अकिञ्चन रह गए, ऐसे जिनेन्द्र देव के पास ये सब लोग क्यों भागे जा रहे ? ये पशु पक्षी, बैल, मेढ़क, नेवला आदिक भी उनकी ओर भगे चले जा रहे। तो क्या हो गया उन सबको ? अरे हो क्या गया ? वह सब चमत्कार है एक वीतरागता का, वह महत्त्व है एक शुद्ध ज्ञान का, केवल ज्ञानका कि जिसके कारण तीनों लोकों के इन्द्र नाचते गाते भगते चले आ रहे हैं। तो जो प्रभु भक्ति कर रहा है अगर उसके लक्ष्य में राग है तो वह प्रभुभक्ति नहीं कर सकता। क्या पड़ी थी उन देवों को, इन्द्र को जो कि प्रभु के चरणों में नाचते गाते दौड़ते आये ? यह समझिये कि हम आप इस समय करें क्या ? करना है शुद्धोपयोग। हम अपने शुद्ध स्वभाव को लक्ष्य में लेते हैं, जो कि हमारा कर्तव्य है उस लक्ष्य के लेने वाली जो स्थिति है वह स्थिति शुद्धोपयोग है कि शुभोपयोग है ? उस शुभोपयोग में शुद्धोपयोग चल रहा है। एक होता है शुद्धोपयोग। जहां रागरहित उपयोग हो उसे कहते हैं शुद्धोपयोग। एक अर्थ है—रागरहित जो शुद्ध स्वभाव है उसके उपयोग को शुद्धोपयोग कहते हैं। तो तृतीय अर्थ वाला भी शुद्धोपयोग है वह तो हम आपके आजकल हो सकता है, मगर कर्मधारय वाला शुद्धोपयोग हम आपके नहीं हो सकता। जब तक कि ये रागद्वेष न मिटें। उपयोग तीन भेदों में पड़ा हुआ है—अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। और जो तत्पुरुष वाला शुद्धोपयोग है, जो कि अनादि अनन्त अखण्ड चैतन्य स्वभाव के शुद्धनय का विषयभूत है, जिसके मुकाबले में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष आदिक ७ तत्त्व बताये हैं, ये अशुद्धनय पड़ते हैं, शुद्धनय का विषयभूत जो अखण्ड चैतन्यतत्त्व है वह विषय में आया है तो वह तत्पुरुष वाला उपयोग है। इस समय इस शुद्धोपयोग की चर्चा की जा रही है। इस जाति का शुद्धोपयोग जो परिणति से शुभोपयोग कहलाता है वह हमारे होता है। तो हमें निरन्तर जागरूक किस ओर रहना चाहिए कि हमारा लक्ष्य शुद्ध तत्त्व की ओर रहे, हम उससे गिर न जायें हम उसके पात्र बने रहें, ऐसा हम आपको अपना उपयोग बनाये रहना चाहिए।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(१५५) शुद्धोपयोग की पात्रता के साधक श्रावकों के षट्आवश्यक कर्मों में देवपूजा व गुरूपास्तिका वर्णन—शुद्धोपयोग की पात्रता बनी रहे इसके लिए श्रावकों के ६ कर्तव्य बताये गए हैं। देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय संयम तप और दान इन छहों प्रकार के कर्तव्यों में अगर रत्नत्रय का कोई पुट न हो तो ये कभी धर्म नहीं हो सकते। फिर तो वह एक तरह का व्यायाम है। आप देवपूजा करते हैं तो आपका श्रद्धान पुष्ट होता है, श्रद्धा हो, उसके स्वरूप की चाह हो, उसके स्वरूप की ओर आकर्षण हो तब ही तो कोई आदर कर सकेगा, तब ही तो कोई पूजा कर सकेगा। तब ही तो कोई उपासना में आयगा। देव पूजा से हमारे सम्यक्त्व को बल मिलता है। गुरूपासति—गुरुवों की सेवा कौन कर सकता है ? जब हमें नियम संयम आचरण द्वारा सम्यक् चरित्र की पूर्ति होती है तब ही हम मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं। धन्य है यह संयम आचरण, चाहे कोई साधु अटपट हो और जान लिया जाय कि यह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील लग गया है तो ऐसे साधु की तो हम बात नहीं कर रहे, वह तो साधुपना ही नहीं है, जो पाप में लगे हों, जो अशुद्ध कार्यों में लगे हैं ऐसे साधुवों की बात क्या करना ? वे साधु हैं ही नहीं, पर जो अपनी बुद्धि के अनुसार एक संयम के कार्य में लगे हैं, उनकी पहिले परीक्ष कर लें। परीक्षा में सही उतरें तो उनकी उपासना करें। उन साधुवों में से किस साधु को सम्यक्त्व है किसको नहीं, इसका कुछ निर्णय नहीं दिया जा सकता। वहां कोई यह नियम नहीं बना सकते कि इन्हें सम्यक्त्व होगा ही। देखिये—ये मेढक, बिल्ली, गाय, बैल आदिक पशु ये तो कुछ बोलना ही नहीं जानते, कुछ भी तो नहीं बोल सकते, लेकिन उनको भी सम्यक्त्व जग सकता है। आपने देखा होगा कि ये बैल जब बड़े आराम से बैठे होते हैं तो बैठे हुए में जुगालियां किया करते हैं, याने उनका मुख बड़े आराम के साथ चलता रहता है। मान लो कोई बैल आराम से बैठा हुआ जुगालिया कर रहा था। कदाचित् उसका ध्यान अच्छी ओर लग जाय और शुद्ध तत्त्व की ओर उसकी दृष्टि लग जाय तो उसे सम्यक्त्व हो सकता है। एक शुद्ध ज्ञान मात्र चैतन्य स्वभाव का जिसने परिचय पा लिया है उसने तो सब जान लिया। बताते हैं कि जिसने आत्म स्वरूप को जान लिया उसने सब जैन शासन को जान लिया। तो हम जो कुछ भी निर्णय रख सकते हैं वह जैन धर्म में बतायी हुई वृत्ति प्रवृत्ति आचरण के द्वारा मान कर सकते है कि हां यह है हमारे पूज्य गुरुजन। तो गुरुजनों की उपासना कौन कर सकता है जिसे संयम की ओर लगन हो, चारित्र की ओर धुन हो। कब मेरे को संयम प्राप्त हो, कब चरित्र प्राप्त हो, कब मेरा उपयोग ऐसा स्वच्छ रहे कि बाह्य पदार्थों में रागद्वेष विरोध भाव न रहे, अपने आप में ही रत रहा करे। कब ऐसा उपयोग हो ? ऐसी जब भावना भीतर में बनती तब ही गुरुवों की उपासना सेवा बन सकती सकती। अगर यह भावना भीतर में नहीं बनता है तो समझो कि वह सब बहारी दिखावा है, दूसरों को धोखा देना है। वह उल्टा एक व्यायाम है। तो रत्नत्रय क्रिया से सम्भन्ध हो जिस क्रिया में उस क्रिया मेंधर्म है।

(१५६) श्रावकों के षट् कर्तव्यों के स्वाध्याय, संयम व तप का निर्देश—तीसरा कर्तव्य है स्वाध्याय। स्वाध्याय तो बहुत से लोग करते हैं—पुस्तक की कोई २-४-६ लाइनें बांच लीं और उसे रख दिया, लो हो गया स्वाध्याय, लो हो गया स्वाध्याय का नियम पूरा। अरे यह स्वाध्याय करने का कोई ढंग नहीं है। इस ऊपरी-ऊपरी स्वाध्याय करने की रीति से स्वाध्याय से कुछ भी लाभ नहीं मिलने का। स्वाध्याय इस रीति से हो कि जो दर्शन ज्ञान चारित्र की रीति से होता है। स्वाध्याय के मायने है स्वका अध्ययन। जहां अपने आत्मा का स्वरूप चिन्तवन में लिया जा रहा हो, जहां अपने आत्मा स्वरूप की ओर दृष्टि हो, आत्म स्वरूप का जहां अध्ययन चल रहा हो वह है वास्तविक स्वाध्याय। संयम—जीवरक्षा करना, प्राणि रक्षा करना, इन्द्रिय संयम करना, इन्द्रिय को विषयों में न लगाना आदिक संयम आचरण हैं। तो यह संयम कौन कर सकता है ? जिसको

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

रत्नत्रय धर्म की प्रतीति हुई है। आत्म कल्याण की जिसके भावना जगी है उसके ही संयम बन सकेगा। जो संयम आचरण करता है उसकी सम्यक् चरित्र पर दृष्टि रहती है। तप—इस तप का भी अगर रत्नत्रय के साथ सम्बन्ध हैं तब तो तप करना कार्यकारी होगा नहीं तो वह भी एक कोरा व्यायम ही रहेगा। इसी तरह दान देने में भी के रत्नत्रय साथ उसका सम्बन्ध रहे तो वह दान देना कार्यकारी होता है।

देखिये—आचार्यजनों ने हम आप पर कितनी परम करुणा करके धार्मिक कर्तव्यों को करने के लिये बताया है। इस ही साधना में रहकर स्वरक्षित रहना हो तो अपने भीतर की साधना की कोशिश करें। जैसे किसी राजा का किला जब मजबूत है तो उसका साज-श्रृङ्गार, हुकूमत बन सकेगा और वह सुरक्षित रहेगा, इसी प्रकार जहां हमारा मन जगह-जगह भटकता है तो वहां इन बाहरी धार्मिक क्रियाओं में रहकर अपने को सुरक्षित रख सकेंगे क्या ? और फिर अन्दर ही अन्दर अपने उस चैतन्य स्वभाव का, उस वीत राग ज्ञान भाव का, अपने आपके अंतस्तत्व का हम चिन्तन करें, मनन करें, खूब अपना साज-श्रृङ्गार बनायें। अपनी सेवा, अपना श्रृङ्गार अपना व्यवहार सहज आनन्द स्वरूप में मिलेगा। उस ही में प्रवेश करें, उस ही का चिंतन करें और उस ही में खूब आनन्द लूटें। खूब अपने निश्चय धर्म का पालन करें। और इस निश्चय धर्म का पालन हम तभी कर सकते हैं जब कि अपने स्वभाव को हम स्वरक्षित बना सकें इन विषय कषायों के आक्रमण से तो संक्षेप में आप समझ लीजिये कि जैसे १ डिग्री से लेकर १०० डिग्री तक का जो राग है उस राग की कोटि में आपका शुभपयोग किस जगह में मिलेगा ? न १ नम्बर वाले में मिलेगा और न १०० नम्बर वाले में मिलेगा, किन्तु जो एक बीच की धारा है उसमें मिलेगा। उसका नाम शुभोपयोग है। वह शुभोपयोग कब होता है कि जब इसमें वीतरागता हो और राग भी आया हो। तो उस वक्त जितने अंश में राग है उतने में आस्रव है और जितने अंश में वीतरागता है उतने अंश में निर्जरा है। एक ही भाव में आस्रव, बंध, संवर निर्जरा ये चारों तत्व हुआ करते हैं। जैसे करणानुयोग की योग की परिपाटी में छठे, सातवें गुण स्थान में बताया कि इनमें आस्रव, बंध, सवर निर्जरा हैं कि नहीं और एक ही समय चल रहे हैं, न रहें क्या ऐसा भी है ? ये चारों एक साथ चल रहे हैं और एक समय की परिणति एक होती है कि दो ? एक समय में एक द्रव्य में एक ही परिणति होती है। एक द्रव्य दो द्रव्यों की परिणति नहीं कर सकता। जहां यह बात है वहां यह भी बात है कि एक द्रव्य अपने आप में एक समय में एक परिणति करता, है यह भेद विवक्षा से कहते हैं कि ज्ञान परिणित कर, दर्शन परिणित कर, चरित्र परिणित कर। अगर एक अखण्ड वस्तु को देखा तो उसका जिस समय जो परिणमन है वह एक अखण्ड परिणमन है। जब अशुद्ध हो रहा हो तब भी एक समय में एक अखण्ड परिणमन है। वह जैसा जो है सो है। तो परिणमन एक है एक समय में, और उस ही परिणमन को निमित्त करके आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा ये चारों ताव चल रहे हैं, विकल्प भी जगे वह स्थिति वीतरागता और सरागता दोनों के मध्य जुड़ी हुई है कि जितने अंश में वीतरागता है उतने अंश में निर्जरा है, और जितने अंश में राग है उतने अंश में आश्रव है। परिणाम एक है, उसका इस ढंग से निर्माण हुआ है कि जिस ढंग में दो शक्तियां पड़ी हुई हैं—वीतरागता और सरागता। तो लक्ष्य तो अपना एक वीतराग विज्ञान, राग द्वेषरहित सहज ज्ञान स्वभाव का रहे। कहां हमें जाना है, कहां आश्रय लेना है, इसका तो निर्णय पहिले कर ही लेना चाहिये। मगर वहां तक पहुंचने के लिये हमारा कुछ पौरुष चाहिये। वह पौरुष तपश्चरण के रूप में व्रतों के रूप में आचार्य महाराज ने करुणा करके चरणानुयोग की प्रक्रिया में बताया है।

(१५७) चरणानुयोग की प्रक्रिया के अनुसार प्रवर्तने में पात्रता व सफलता की संभूति— चरणानुयोग के अनुसार प्रक्रिया में रहते हुए हम अन्तः अपने आप की उपासना में चलें तो अपने उद्देश्य में सफल हो सकते हैं। तब हम आपके लिये परमार्थता कोई शरण है तो शुद्ध स्वभाव का दर्शन शरण है। और शुद्ध स्वभाव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

का दर्शन करने की जो हम आपकी आज की स्थिति है और उसका क्लेश विशेष करने की जो आज की स्थिति है वह हमारा अशुभोपयोग कहलाता है, ऐसे अशुभपयोग से हटकर शुभोपयोग में आकर हम उस शुद्ध तत्त्व का उपयोग बनायें। उसका चिन्तन करें, उसका अधिकाधिक आलम्बन लेने की धुन रखें, यह प्रक्रिया हम आप लोगों के कल्याग के लिये है। इसके अतिरिक्त एक व्यवहार उपासना के सम्बन्ध हम अपनी श्रद्धा के मुताबिक बात कहते हैं कि जैसे जिन प्रतिमा को देखकर उन भगवन्तों की स्तुति है, वह हममें उनके प्रति विनय आये बिना नहीं हो सकती, इसी प्रकार एक दि० जैन धर्म के अनुसार चारित्रपालन करने वाले को निरखकर उन ऋषि संतों की स्तुति में जिन्होंने मुक्ति पायी है उनकी याद आती है और उनका याद आने पर धर्मात्मा व्यक्ति के प्रति विनय आये बिना नहीं रह सकता। और देखिये—स्थितिकरण के जितने अंग हैं उन आठों अंगों में हम आज कहां टिक सकेंगे ? न टिक सकेंगे। हम उन ८ अंगों की प्रवृत्ति छोड़कर अपना आचरण न बनायें। मान लो कोई साधु अपने पद के विरुद्ध कार्य करता है, व्यभिचार आदिक के खोटे कार्यों में अपनी प्रवृत्ति करता है तो ऐसे व्यक्ति को साधु मानना यह हमारा काम नहीं है। उसे स्पष्ट कह दें कि यह हमारे साधु नहीं रहे। अगर उसे साधु मानकर उसको पूजते रहें तो यह लोगों का भ्रम है। लेकिन जो साधु अपने आचरण से ठीक है, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह से दूर हैं अर्थात् संयम आचरण में रहते हैं, सामायिक प्रतिक्रमण, प्राषधोपवास आदिक की क्रियावों में रहते हैं, ऐसे साधुवों को साधु मानकर पूजा करना, कदाचित् कोई साधु किसी कारण से उत्तर गुण नहीं पाल सकता उसे मानना कि यह साधु नहीं है यह तो ठीक नहीं। अगर साधु अपने मूल गुण से भ्रष्ट हो, पंच पापों में रत हो तो वह भ्रष्ट कहलाता है। और अगर साधु मूल गुण निर्दोष रूप से पालता है और उत्तर गुण पालने में कुछ शिथिलता दिखती है तो ऐसे साधु के प्रति उपेक्षा का भाव न लायें।

(१५८) साधुवों के प्रति विनम्रता व सेवा का परिणाम—साधुवों के प्रति व्यवहार की बात हम कह रहे हैं अपने आपकी दया के लिये। इसी विषय को लेकर आज हम दो बातें स्पष्ट कर रहे हैं कि जैसे कभी कोई लोग इन साधूजनों से चित्त हटाने के लिये कोई दलील देते हैं तो वे दो बातें कहते हैं, एक तो उत्तर गुण की बात कहते हैं, कि ये परीषह नहीं सहते, ये वन में नहीं रहते अथवा अमुक परीषह नहीं सहते। तो देखिये ये तो हैं उत्तर गुण, पर इन बातों की चर्चा करके लोग उनमें दोष निकालते हैं मगर भाई ऐसी बात मन में न लावो, इससे बहुत पाप लगता है, और उसकी ठीक स्थिति नहीं होती है इसलिये अपने आपपर दया करके बहुत सोच समझकर बात करनी चाहिये, दूसरी बात—लोग उद्दिष्ट कह देते हैं, अरे ये तो उद्दिष्ट आहार करते हैं—अरे भाई उद्दिष्ट का अर्थ यह है कि आपके घरमें जैसी अशुद्ध रसोई रोज-२ बनती है वैसी ही घर में रसोई बने और सिर्फ साधु के लिये अलग बना लिया जाय, साधु अगर जान जाय कि यह तो सिर्फ मेरे लिये ही भोजन बना है फिर भी उसे ग्रहण करे तो यह उसके लिए उद्दीष्ट का दोष है। और अगर घर वालों के लिये भोजन बनना ही है उसमें साधु को आहारदान दने के ध्यान से भी घर में शुद्ध भोजन बना तो वह उद्दिष्ट नहीं। देखो और दिन तो अशुद्ध आहार रोज-रोज बना करता था, उस दिन साधु को आहार देने के ध्यान से भोजन बनाया जायगा तो वहां तो बड़े विशुद्ध भाव होंगे, उसमें हिंसा से बचते हुये शुद्ध विधि से आहार बना तो बताओ यह गुण की बात हुई कि दोष की ? अरे जहां जीव हिंसा से बचाकर शुद्ध विधि से भोजन बना तो वह तो एक गुण की ही बात हुई, और अगर कोई अपने पूरे घर के लिये तो वैसा ही अशुद्ध भोजन बनावे जैसा कि रोज-रोज बनता था और सिर्फ साधु के लिये अलग भोजन बनाया जाय और यह बात जानकर भी साधु उस आहार को ग्रहण करे तो वह उद्दिष्ट दोष है। देखिये चार शिक्षा व्रतों में एक अतिथिसम्विभाग व्रत भी आया है। १२ व्रत तो आप लोगों ने सुने होंगे—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्माचर्याणुव्रत, व परिग्रह परिमाणाणुव्रत, दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

परिमाण व अतिथिसंविभागव्रत इनमें पहिला तो है अहिंसाणुव्रत और आखिरी है अतिथिसंविभाग। देखो ऋषी जनों की प्रणाली बड़ी अच्छी होती है। अच्छा आप प्रक्रिया देखिये—सबसे पहिले तो कहा अहिंसा अणुव्रत और सबसे बाद में कहा—अतिथिसम्विभाग व्रत। अतिथिसम्विभाग व्रत में किसी का ऐसा व्रत होता है कि हम अमुक दिन अतिथि सम्विभाग व्रत करेंगे मानो इतवार के दिन करेंगे, या किसी का ऐसा व्रत होता है कि हम अमावस पूर्णिमा को अतिथिसम्विभाग व्रत करेंगे। अतिथिसम्विभाग व्रत का अर्थ है—पहिले अपने यहां आये हुए अतिथि त्यागी, व्रती मुनि वगैरह को आहार देकर बाद में खुद भोजन करना। वह अगर अपने लिए तो अशुद्ध ढंग का भोजन अलग बनावे और मात्र अतिथि के लिए थोड़ा सा शुद्ध भोजन बनाकर अतिथि को दे तो वह उसके लिए उद्दिष्ट दोष है। यह तो है आहार दाता के आश्रय का दोष और अगर साधु यह जानकर भी कि इसने तो सिर्फ मेरे लिये ही शुद्ध विधि से ही आहार बनाया है, उसे अगर ग्रहण करे तो वह उस साधु के आश्रय का उद्दिष्ट दोष है यह सब कहने का हमारा प्रयोजन यही है कि जहां विषय कषाय रागद्वेष आदिक विरुद्ध कार्यों में इतना मस्त रहते हैं, निरन्तर कषायें बनाये रहते हैं, ऐसी स्थिति वाली परिस्थिति में हम थोड़ा विनयभाव रखें, नम्रता रखें तो हममें पात्रता रहेगी और हम उस शुद्ध स्वरूप के दर्शन के पात्र रहेंगे।

(१५९) हमारा लक्ष्य व उपलक्ष्य—करने योग्य काम केवल एक यह ही है—शुद्ध चैतन्य स्वभाव का दर्शन करना, उस ही में मग्न होना और उस ही में निरन्तर बने रहना। हम आप आजकल इतना बड़ा कार्य कर सकने में असमर्थ हो रहे हैं तो हमें कैसा व्यवहार बनाना चाहिये उसका विवेक अवश्य होना चाहिये और अपना लक्ष्य रखें एक। देखो जैसे कोई मकान बनवाता है तो उसका लक्ष्य तो रहता है मकान बनवाने का, मगर उसके लिये वह रोज-रोज अनेक कार्य करता है, जैसे कभी ईंटे मंगवाना, कभी सीमेंट मंगवाना, कभी लोहा मंगवाना, कभी कारीगरों के पास जाना, कभी बालू मौरंग आदि मगवाना, ये सब काम उसे रोज-रोज करने पड़ते हैं तो ये हुए उपलक्ष्य। अगर कोई सोचे कि लो आज तो हमने ईंटे मंगवा लिया, लोहा भी मंगवा लिया, अब तो हमारा लक्ष्य पूरा हो जायगा सो कैसे पूरा हो सकेगा ? अरे लक्ष्य तो उसका बना है मकान बनवाने का अब उसके लिये जो अनेक कार्य और करने पड़ते हैं वे सब उपलक्ष्य हैं। वे सब उपलक्ष्य उस मूल लक्ष्य की सिद्धि करने वाले हैं। जब तक मकान नहीं बन जाता तब तक उन उपलक्ष्यों को करना पड़ता है, उनके किए बिना उस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकती। ठीक इसी प्रकार हमने उस निश्चय धर्म की प्राप्ति के लिए जो जो भी प्रोग्राम बनाया है वे सब रोज-रोज करते रहने का हमारा कर्तव्य है। वे सब उपलक्ष्य हैं, अगर आप यह सोच लें कि आज हमने पूजा पाठ कर लिया, प्रभु भक्ति कर लिया, हम तो भगवान हो गए, हमारा लक्ष्य पूरा हो चुका तो ऐसा मानकर बैठ जाने से आपका वह लक्ष्य तो न पूर्ण हो पायेगा। उस लक्ष्य की पूर्ति जब तक हो न जाये तब तक वे सारे उपलक्ष्य रोज-रोज करने होंगे, तभी उस लक्ष्य की प्राप्ति हो सकेगी। जैसे मकान बनवाने वाला प्रतिदिन अनेक उपलक्ष्यों को करते हुए अपने मकान बनवाने के लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, ठीक इसी प्रकार उस निश्चय धर्म को लक्ष्य में लेने वाले ज्ञानी पुरुष को उसकी प्राप्ति के लिए प्रतिदिन अनेक उपलक्ष्य करने होंगे जब तक उसे अपने वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो जाती अर्थात् जब तक उसे निश्चय धर्म की पूर्ण रूपेण प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक वह किन्हीं भी उपलक्ष्यों में अटकता नहीं है। ऐसी उसकी स्थिति रहती है।

(१६०) रागादिविकारों की अहितकारिता—मैं रागाद्वेषादिक नहीं हूं। जो पुरुष स्त्री पुत्रादिक परिजनों में, धन सम्पदा में, इज्जत पोजिशन आदि में मोह करते हैं, अर्थात् वे ही मेरे सर्वस्व हैं, ये ही मेरे प्राण हैं, इस तरह का अज्ञान बसाते हैं उन जीवों को शान्ति कहां और आनन्द कहां ? जब भीतर में भाव विपरीत

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हो गया है, मिथ्याधारणा हो गई है पर वस्तु को अपना मानने की बुद्धि हो गई है वहां शान्ति और आनन्द कहां से प्राप्त हो सकते हैं ? इस प्रकार जब किसी पर वस्तु में हम राग रखते हैं, लगाव करते हैं, उसके प्रति प्रीतिका परिणाम करते हैं, जैसे कुटुम्बपर, देह पर, सम्पत्ति पर जो लगाव होता है उस लगाव में भी शान्ति और आनन्द कहां से हो सकता है ? लेकिन मोही जीव तो जिसके कारण कष्ट है उस ही को अपनाया करते हैं। यही तो अज्ञान की बात है। जैसे बालक को कुछ पता ही नहीं रहता, आग हो उसे भी उठा ले, कोई गंदी वस्तु हो उसे ही उठाकर मुख में रख ले, जैसे उसे कुछ पता ही नहीं, इसी प्रकार मोही जीवों को भी कोई विवेक नहीं रहता। जिन पर वस्तुवों से उन्हें कष्ट होता उन्हें ही वे अपनाते हैं। एक ओर से देखो तो जितने भी समागम प्राप्त हैं वे सब समागम हमारे कष्ट के ही कारण बन रहे हैं—शान्ति के कारण नहीं बन पा रहे। इनसे विरक्ति कैसे हो ? जब समझ लिया कि ये मेरे आनन्द के कारण हैं तो इनसे वैराग्य कहां से आये ? और जब ऐसी धारणा बनी है तो संयुक्त जीव का, संयुक्त पदार्थ का नियम से वियोग होता है, तो वियोग होगा और जब वियोग होगा तब इसे भय और कष्ट भोगना पड़ेगा। शान्ति कहां है परवस्तु के लगाव में ? द्वेष में भी कहां शान्ति रखी है ? वहां तो हृदय जलता रहता है, अनिष्ट वस्तु को देखने का भी मन में परिणाम नहीं रहता। और उससे होता है द्वेष। द्वेष होने से शान्ति कहां होती है ? शान्ति तो समता में है और समता भावना से पैदा होती है। बाह्य वस्तुओं से समता पैदा न होगी। कोई सोचे कि मेरे पास इतना धन जुड़ जाय, तो उतने धन से समता आ जायगी क्या ? शान्ति प्राप्त हो जायगी क्या ? अरे धन समागमों का जुड़ना शान्ति का कारण नहीं है। शांति का कारण तो अपना विशुद्ध भाव है। जिन्हें बारह भावनाओं के रूप में बताया गया है।

(१६१) अनित्यभावना की उपयोगिता—बारह भावनाओं का चिन्तन करें तो वह भी प्रतिदिन का काम होना चाहिये। जब जाप देते हैं सामायिक करते हैं तो उस समय ये बारह भावनायें चिन्तन में आनी चाहिये—भावना कहते हैं उसे जो बारबार भायी जाय, विचारा जाय, उसका अनुसंधान किया जाय अपने आपमें, ऐसे चिन्तन का नाम है भावना। इसका दूसरा नाम है अनुप्रेक्षा। अर्थात् जैसे अपने आपका शरण, अपने आपका प्रभु मिले उसे प्रकर्ष रूप से देखना इसे कहते हैं अनुप्रेक्षा। पहिली भावना है अनित्य भावना। अनित्यभावना का स्वरूप कहा गया हैं कि समस्त वस्तुओं को विनाशीक देखना। राजा, राणा, छत्रपति ये सब मरणहार हैं, यौवन जीवन ये सब क्षणभंगुर हैं, चपल बिजली की तरह हैं, सबको विनाशीक देखना यही है अनित्यभावना, लेकिन एक रहस्य और जानो कि अगर हम ऐसा ही ऐसा लखते रहेंगे ये मरेंगे, वे मरेंगे, तो ऐसा ऐसा ही लखने में धीरता आयगी कि अधीरता ? अधीरता ही आयगी ? घबड़ाहट ही बनेगी। ये भी मरेंगे, मैं भी मरूंगा, सब कुछ विनाशीक है, यों घबड़ाहट पैदा हो जायगी, लेकिन अनित्य भावना में तो यह बताया ही गया है कि देखना कि सब विनाशीक है, तो क्या भावना घबड़ाहट पैदा करने के लिए होती है ? नहीं। उसमें एक राग है। यह निरखिये कि सब पदार्थ विनाशीक हैं, मगर यह श्रद्धा बनाये रहें कि मेरा जो आत्मस्वरूप है वह अविनाशी है दोनों बातें दृष्टि में रखें, नहीं तो विनाशीक विनाशीक ही निरखने में रहे तो उसमें घबड़ाहट हो जायगी। मैं आत्मास्वरूप, चैतन्यस्वरूप जो मैं हूं सहज, स्वतन्त्र, निश्चल निष्काम, ज्ञाता दृष्टा, याने सहज स्वरूप की बात की गई है, इस समय मैं क्या बन रहा हूं ? संसार की क्या परिणति है, इस समय मेरी क्या क्या दशायें हो रही हैं, नाना पर्यायों में परिभ्रमण चल रहा है। यह तो जान लिया कि यह पर्याय है, विपरीत है, वह हटाने योग्य है। समझ लिया, पर इसमें भाव तो नहीं लगाया जाता। मनुष्य हूं, लेकिन जब मैं अपने आपकी भावना बनाता हूं उस समय मैं मनुष्य हूं यह भावना नहीं आती। उस समय यह भावना आनी चाहिये कि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व हूं। देखिये यह रहस्य कोई नया निकला हुआ नहीं है, इसकी सूचना कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा में मिलती है, जो द्रव्यपर्यायों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

से उत्पन्न होता है, विनाशीक होता है, उनके विनाश की बात कही गई है। द्रव्यदृष्टि से विनाशीक की बात नहीं कही गई तो अपने आत्मा को नित्य है ऐसी श्रद्धा रखते हुए जो बाहर के समागमों को ये विनाशीक हैं, मिटेंगे, ऐसी भावना करें तो उसके अनित्यभावना होती है।

(१६२) अशरणभावना की उपयोगिता—अशरणभावना मेरे लिए कोई शरण नहीं है, सब अशरण हैं, सब असार हैं, मेरे कोई सहाय नहीं—"दलबल देवी देवता, मात पिता परिवार। मरती बिरिया जीव को कोई न राखनहार" अच्छा इतनी बात देखने वाले लोग दुःखी रहते हैं, घबड़ाहट उत्पन्न करते हैं—हाय मेरा कोई राखनहार नहीं है। सब मेरे से किनारा काट जायेंगे। तो अशरण भावना में जब तक अपने आपके शरण की सुध न हुई तो तब तक अशरणभावना सही ढंग की नहीं बनती। सब अशरण हैं, किन्तु मेरे आत्मा का यह मैं आत्मा शरण हूं। देखो भाई जब किसी बड़े आफीसर का तबदला होता है ना तो उसको उस तबादले मे कोई कष्ट तो नहीं होता। अरे उसका सामान ले जाने के लिए मालगाड़ी का एक डिब्बा मिलता है। बैठने के लिए एक सवारी गाड़ी का एक डिब्बा मिलता है। इधर भी कई नौकर पहुंचाने वाले मिलते हैं, उधर जहां पहुंचेगा वहां भी तमाम नौकर मिलते हैं। स्वागत करने वाले लोग मिलते हैं। रहने के लिए अच्छा मकान मिलता है। बताइये उस आफीसर की उस तबादले में क्या कष्ट ? कष्ट होता है छोटे-छोटे क्लर्कों को, जिन्हें तबादला होने पर बड़ी दिक्कत उठानी पड़ती है। उनको किराये का नया मकान तलाशना पड़ता है, उनको अपने बच्चों को स्कूल में भर्ती कराने का सारा कष्ट करना पड़ता है। तो कष्ट करना पड़ता है उन छोटे लोगों को। और आत्मा की बात देखो—जो आत्मा ज्ञानी है, सम्यक्त्वी है, अपने आपकी श्रद्धा वाला है, अपने स्वरूप का जिसको परिचय है, जो जानता है कि मेरा सब कुछ मेरेमें है। जो मेरेमें है वह बाहर नहीं, जो बाहर है वह मेरे में नहीं। मेरे में मेरा सर्वस्व है, इसका जिसको अभ्यास है, यहां जिसने बहुत बहुत दृष्टि की है ऐसे बड़े ज्ञानी पुरुष को मरण के समय में वह भी तो तबादले का सम्बन्ध है। एक जीव का दूसरे भव में तबादला हो रहा है तो उस तबादला के समय इस ज्ञानी गृहस्थ को क्या परेशानी ? जा रहा है आनन्द से। अपना पूरा का पूरा जो कुछ इसकी सम्पदा है, जो कुछ इसका वैभव है वह सारा का सारा साथ लिए जा रहा है, वह कुछ नहीं छोड़ जा रहा है। वह जान रहा है कि मैं जहां जाऊंगा वहां तो तैयारी ही सारी है। बतलावो क्या परवाह है उस ज्ञानी पुरुष को तबादले के समय में अर्थात् मरण के समय में ? तकलीफ तो अज्ञानी को है, मोही को है, गरीब को है। मर रहा है और कह रहा है अरे भाई फलाने लड़के को दिखा दो, फलाने मुन्ने को मेरी छाती पर धर दो। यों वह मर रहा है संक्लेश पूर्वक। हाय मैंने बड़ी मुश्किल से जीवन भर सम्पदा जोड़ा देखो आज सारी की सारी सम्पदा हमसे छूटी जा रही है। आज हमारे साथ कुछ भी नहीं जा रहा है। कदाचित अभी वह अधमरा है, बोल बन्द है, बातें सब सुन रहा है, समझ रहा है, अब वह मरने वाला है, लोगों ने उसे खाट से उतार कर नीचे रख दिया, कपड़े उतारने लगे, जो कुछ सोने की अंगूठी जंजीर आदि जेबर पहिने थे वे उतारने लगे। वह पड़ा हुआ देख रहा है और संक्लेश करके मर रहा है कि हाय मेरा सब कुछ आज मुझसे छूटा जा रहा है, यों ये अज्ञानी मोही प्राणी बड़े संक्लेश परिणाम करके मरते हैं, पर वह ज्ञानी पुरुष जानता है कि मेरा तो सब कुछ मेरे साथ ही जा रहा है, मुझे इस शरीर के बदलने में क्या कष्ट। उस ज्ञानी पुरुष ने पहिले से ही ऐसा समझ लिया था कि ये दिखने वाले समस्त पर पदार्थ मेरे कुछ नहीं हैं, ये मेरे लिए शरण नहीं हैं। मेरा शरण, मेरा सर्वस्व तो मेरे साथ है, इसलिए उसे मरण के समय में रंच भी खेद नहीं होता है।

(१६३) संसार, एकत्व व अन्यत्व विषय की भावना की उपयोगिता—तीसरी है संसार भावना। विचारते हैं ना कि जगत में सब बेकार है, कुछ भी सार नहीं है। बात ठीक है, जो कुछ है सब असार

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है, कोई मेरे काम नहीं आता। ठीक है। ऐसी बात तो जिन्हें क्रोध आता है, जो रूठ जाते हैं वे भी कह बैठते हैं कि सब बेकार है, कोई किसी का नहीं है सब बेकार है, जिन्दगी बेकार है, अरे इतने से संसार भावना न बनी। यह तो हुआ संसार का स्वरूप पर यह भी बात होनी चाहिए कि मेरे आत्मा का जो स्वभाव है वह मेरे को सारभूत है। अपने सार का पता होने के साथ बाहरी असार का परिचय होने में संसार भावना सही तौर में बनेगी ? चौथी है एकत्वभावना—इस एकत्व भावना में कहते हैं कि अकेला ही सुख दुःख भोगे, अकेला ही जन्म मरण पावे, अकेला ही मरे। तो यह बात ठीक है। ये सब ऊपरी ऊपरी बातें हैं, इतनी बात तो जो चाहे गरीब, देहाती, या मामूली पढ़े लिखे लोग भी कह देते हैं—कि हां हमें अकेला ही तो मरना है। देखते ही हैं कि जो मरता है वह अकेला ही जाता है, उसके साथ कोई दूसरा नहीं जाता। जो लोग उस मरने वाले से मोह करते थे, उसके भाई, पुत्र, पिता अथवा स्त्री आदिक वे मरने के बाद थोड़ी देर के लिए उस मृतक शरीर से बड़ा प्रेम दिखाते हैं, उसे छोड़ते नहीं हैं, उसके पीछे बड़ा रुदन मचाते हैं। जब पंच लोग उसे श्मशान ले जाने के लिए उठाने चलते हैं तो वे घर वाले कहते हैं—अरे न ले जावो मेरे फलाने को। मानो पंच लोग कह बैठे कि अच्छा भाई तुम लोग कहते हो तो चलो न ले जायेंगे यहीं पड़े रहने दो, तो शायद वे घर वाले यही कह उठेंगे कि अब तो इन्हें जल्दी यहां से ले जावो, देर न करो। आखिर वह अकेला ही वहां से जाता है उसके साथ कोई दूसरा नहीं जाता। तो केवल इतना कह देने से एकत्व भावना का सही काम नहीं बन पाता कि यह जीव मरकर अकेला ही जाता है। उस एकत्व के साथ साथ यह भी सोचना चाहिए कि मैं आत्मा जो कि इस शरीर से निराला कर्मों से निराला हूं समस्त परभावों से निराला हूं। मात्र ज्ञानस्वरूप हूं ऐसा जो सर्वपर से निराला मैं हूं वह अकेला ही यहां से जाऊंगा। इस मुझ के साथ यहां का कोई भी परपदार्थ न जायगा यह एक सही ढंग की एकत्व भावना हुई। पांचवीं है अन्यत्व भावना। इस अन्यत्व भावना में कहते हैं कि मेरे से सब जुदे हैं, मेरा कुछ नहीं है। "जहां देह अपनी नहीं, तहां न दूजा कोय।" सब प्रकट पर हैं, ऐसी बात तो हर एक कोई कह लेता है, पर उसके साथ ही साथ ऐसी भी अन्यत्वभावना होनी चाहिए कि मेरा तो एक मात्र चैतन्यस्वरूप है। इसके अलावा जो मेरे में छाया आती है, विकार, विचार, विभाव विकार तरंगे होती हैं ये मेरी नहीं हैं। मैं तो एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूं।

(१६४) अशुचि, आस्रव संवर व निर्जरा विषयक भावना की उपयोगिता—छठवीं है अशुचिभावना। इस अशुचि भावना में कहते हैं कि सब अपवित्र है। यह देह बड़ा गंदा है, इसमें खून है, विष्टा है। यह महा मलिन है, यों गंदा गंदा देखने से काम न बनेगा। इसके साथ यह भी देखें कि मेरे में जो मेरे आत्मा का स्वरूप है वह पवित्र है, उस पवित्र ज्ञानस्वरूप आत्मा को श्रद्धा में रखते हुए बाकी ये सब बाहर के शरीर आदिक की अशुचित्व की भावना होगी तो वह हमारी इस अशुचिभावना में और भी मददगार होती है। ७ वीं है आस्रवभावना। इस आस्रवभावना में कहते हैं कि रागद्वेष मोह करने से कर्म आते हैं। कर्म बन्धते हैं, ठीक है, बंधते हैं। सही बात है, पर साथ ही मेरा स्वरूप तो निराश्रव है, मेरा स्वभाव तो निराश्रव है, मेरे में तो मात्र मैं ही हूं। इसकी दृष्टि न बनने से आस्रव हो रहा है। अपने आप में अन्तः जो स्वरूप है उस स्वरूप की भावना हो तो यह आस्रव न हो। यह आश्रव दुःख दायी है, इससे निवृत्त होना चाहिए, ये सब बातें ठीक समझ में आयेंगी। ८ वीं है संवर भावना। इस संवर भावना में कहते हैं कि जब मोह नींद से जग जाय, अपने आपके स्वरूप की सुध हो जाय तो कर्म का संवर होता है याने जो दुःख के हेतु हैं, दुःख के साधन हैं वे समागम मेरे कैसे निवृत्त होंगे ? वे निवृत्त होंगे जग जाने से। सम्यक्त्वभाव, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रय के परिणाम द्वारा भी सब आश्रव बंध भाव दूर हो जाते हैं। ९ वीं है निर्जराभावना, जो इस निर्जरा भावना को भाता है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वह ठीक ही है। जब ज्ञान का दीपक भरा हो, तप का तैल भरा हो, फिर उस में उस ज्ञान से जो संयत है उससे अपने घर का शोधन करे तो ये कर्मचोर भगने लगते हैं। मेरा धाम कितना है? "जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम। राग त्यागि पहुंचूं निजधाम, आकुलता की फिर क्या काम॥" ये सब नाम तो इस आत्मा के ही पर्यायवाची शब्द हैं—जिन—जो जाने सो जिन। वह हूं मैं शिव—जो कल्याणवान हो सो शिव, वह हूं मैं, ईश्वर—जो उत्कृष्ट हो सो ईश्वर, वह हूं मैं, ब्रह्मा—जो सृष्टि करे सो ब्रह्मा—वह हूं मैं, राम—जिसमें योगीजन रमण करें सो राम, वह हूं मैं, विष्णु—जो व्यापक हो सो विष्णु वह हूं मैं बुद्ध—जो सर्वज्ञाता हो सो बुद्ध, वह हूं मैं, हरि—जो पापों को हरे सो हरि, वह हूं मैं। मैं ऐसे धाम से पहुंचूं तो फिर वहां आकुलता का कोई काम नहीं रहता।

(१६५) लोक बोधिदुर्लभ व धर्मविषयक भावना की उपयोगिता—१० वीं है लोक भावना—इस लोक भावना में यह भावना करनी है कि इतना बड़ा है लोक, और इस लोक का कोई ऐसा प्रदेश नहीं बचा जहां इस जीव ने अनेक बार जन्म मरण न किया हो। उसके साथ ही यह भी भावना बनायें कि हाय—एक इस अज्ञान से मैंने ऐसा परिभ्रमण किया। अगर हमें अपने आत्मा की सुध हो और इस ही आत्मा की धुन बने, सारे पौरुष इसके लिए किये जायें तो एक समय वह आयगा कि लोक का सारा परिभ्रमण समाप्त हो जायगा। ११ वीं है बोधिदुर्लभ भावना—इस भावना में यह भावना बनाना है कि इस संसार में यहां कि सभी चीजें मिलनी सुलभ हैं किन्तु यथार्थ ज्ञान का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। उस यथार्थ ज्ञान की पूर्ति कहां है? जहां ज्ञान करने का श्रम न करना पड़े। तो उसके मायने क्या है कि स्याद्वाद शैली से हम सब कुछ जान लें, सर्वनय विभागों से हम परख कर लें और किसी भी नय का आश्रय न रखें, समस्त नयों से अतीत बनें, ऐसा अपना परिणाम बने, वहां पहुंचना है, वहां है ज्ञान की पूर्ति, जहां एक भी विकल्प न रहे, अनेकान्त जहां अनेक अन्त हों मायने धर्म हो सो अनेकान्त। नित्य है अनित्य है, एक है अनेक है। जैसे किसी पुरुष का परिचय कराना है तो कहते हैं यह अमुक का पुत्र है, अमुक का पिता है, अमुक का बाबा है आदि, यह अनेकान्त की पद्धति है। वस्तु का परिचय कराने की पद्धति है अनेकान्त। अनेकान्त से परिचय करने के बाद क्या करना है? ये सब परिचय समाप्त हो जायें और एक निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप परिचय में रहे कोई कहे कि आप तो पहिले कहते कि अनेकान्त से ये सब परिचय करो और फिर परिचय करने के बाद उनका परिचय छोड़ दो, तो जब छोड़ना ही है तो फिर हम पहिले से ही क्यों न छोड़े रहें? तो भाई ऐसी बात नहीं है। पहिले तो पदार्थ का पूरे रूप से परिचय पावो इसके बिना वह स्थिति न मिलेगी कि उस परिचय को छोड़कर ज्ञानस्वरूप में मग्न हो जाय। जैसे किसी महल पर चढ़ना है, तो महल पर चढ़ने के लिए पहिले सीढ़ियों पर चढ़ना पड़ता है। क्रम क्रम से वे सीढ़ियां छूटती जाती हैं और वह महल पर पहुंच जाता है। अब कोई कहे कि आखिर उन सीढ़ियों को छोड़ना ही पड़ता है, तो हम उनको पहिले से ही क्यों न छोड़े रहें' हम महल पर चढ़ जायेंगे। तो बताओ क्या वह महलपर चढ़ पायगा? न चढ़ पायगा। अरे भाई अगर नीचे बैठे ही रहो, सीढ़ियों पर चढ़ो ही नहीं, तो ठीक है, बैठे रहो नीचे, इस तरह से तो महलपर न चढ़ सकोगे। ऐसे ही समझिये कि पहिले अनेकान्त द्वारा वस्तु का सम्पूर्णतम परिचय करो, परिचय करने के बाद उसे छोडो और केवल एक ज्ञानस्वभाव चैतन्यस्वभाव का अनुभव हो। ये दोनों उपाय अनेकान्त में बनते हैं। जहां अनेक धर्म हों सो अनेकान्त और जहां एक भी धर्म नहीं रहता है वह है अनेकान्त। एक अनेकान्त परिचय वाला है और एक अनेकान्त स्वरूपों में मग्न रखने वाला है। तो एक इस सच्चे ज्ञान के पाये बिना हम लोक में यत्र तत्र खूब भ्रमण करते रहे। १२ वीं है धर्मभावना—धर्म भी ऐसी चीज है कि जिसके फल में बिना चिन्ता करे यहां की सभी चीजें स्वयमेव प्राप्त होती हैं। यह तो एक व्यवहारिक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बात बतायी। सभी चीजों की प्राप्ति यही है कि जहां फिर किसी चीज की इच्छा ही नहीं रहती। जहां तक इच्छा रहती है वहां तक समग्रता नहीं बनती और जहां इच्छा न रही वहां सर्वोपरि सिद्धि हो गई याने समस्त प्रयोजनों की सिद्धि हो गई। जहां तक इच्छा है वहां तक सिद्धि नहीं है।

(१६६) इच्छा के आभाव की सुखरूपता—सुख मिलता है इच्छा के आभाव से। इच्छा से सुख नहीं मिलता। यह तो लोगों की कल्पना है कि देखिये—हमने ऐसा किया तो सुख मिल गया, हम फलाने से मिले तो आनन्द आ गया...। अरे इच्छा के आभाव में आनन्द आता है, न कि बाहरी वस्तु के मिलने में आनन्द आता है। हर एक चीज पर दृष्टि डालो। भोजन खाया, तृप्त हो गए, तो वह तृप्ति असल में किसी को है? अब भोजन करने की इच्छा न रही उसकी तृप्ति है। किसी मित्र ने आपको पत्र दिया कि हम कल के दिन सुबह सवा आठ बजे की ट्रेन से आपके यहां के स्टेशन से होकर जावेंगे सो आप मिल लेना। पत्र के पाते ही आपके मन में उस मित्र से मिलने की इच्छा उत्पन्न हो गई। अब आप और दिन तो उठा करते थे मानो ७–८ बजे के करीब में, पर उस दिन आप ६ बजे ही जग गए। सारे काम आप जल्दी-जल्दी निपटाने लगे, क्योंकि अभी मित्र से मिलने जाना है। अब आपकी सारी क्रियायें आकुलतापूर्ण हो रही हैं। जब आप स्टेशन पहुँचे तो वहां पूछते कि गाड़ी कितनी लेट है? अगर बता दिया कि गाड़ी आधा घंटा लेट है तो आप कुछ चिन्ता में पड़ जाते और कहते—अरे आज तो बेचारी आधा घंटा लेट है। लो आज वह गाड़ी बेचारी बन गई। जब वह गाड़ी आयी तो आपने खूब दौड़ धूपकर अपने मित्र को किसी डिब्बे में पा लिया, आप उससे गले मिले और बड़ा आनन्द आया। अब बताओ वह आनन्द उस मित्र से मिलने का है क्या? अरे अगर मित्र से मिलने पर आनन्द आता है तो ठीक है, तुम्हें आनन्द ही तो चाहिए, खूब मिलते रहो उस मित्र से और आनन्द लेते रहो। पर आप कहां उसके पास रहना चाहते। आप तो झट खिड़की से इधर-उधर झांकने लगते कि कहीं गार्ड ने सीटी तो नहीं दे दी, कहीं गाड़ी चल न दे। तो भाई इससे मालूम होता है कि मित्र से मिलने पर आपको वह आनन्द नहीं आया किन्तु मित्र से मिलने का काम अब नहीं रहा, मित्र से मिलने की इच्छा अब नहीं रही उस बात का आनन्द है। तो इतनी इतनी आकुलातायें आपको उठानी पड़ीं उस मित्र से मिलने की इच्छा हो जाने के कारण। यदि पत्र पाते ही आप उसे कूड़े में फेंक देते और सोच लेते कि अरे क्या मिलना, तो फिर वहां कोई आकुलता की बात न थी। आपने इच्छा किया इसलिए आकुलता हुई। तो इससे आप जाने कि जितने भी दुःख होते हैं वे इच्छा से होते हैं और जो भी दुःख मिटते हैं वे इच्छा के आभाव से। हमको इन इच्छावों का आभाव करना चाहिए। वह होगा सम्यग्ज्ञान से। जो जैसा पदार्थ है उसका उस तरह ज्ञान कर लें तो आपकी इच्छायें दूर हो जायेंगी। क्यों चाहें बाह्य वस्तुओं को? वे बाह्य वस्तु मेरी हैं क्या? ये मेरे नहीं हैं। ये सब एक दिन मेरे से छूट जायेंगे। जब पर तत्त्व पर तत्त्व हैं। ऐसा जान लें तो उनका लगाव छूट जायगा। जब देह पर है तो फिर उसका क्यों आश्रय करें? क्यों इसको विषयों में, आराम में रखना, क्यों इस प्रकार की प्रवृत्ति करना? ये सब छूट जायेंगे। "निजको निज, परको पर जान, फिर दुःख का नाहिं लेश निदान।" जान लें कि यह देह पर है। कषायें भी पर हैं, इन कषायों का मेरे पर अधिकार नहीं हैं, ये निमित्तनैमित्तिक भाव से होती हैं, जैसे दर्पण में हाथ किया तो छाया आ गई। हाथ हटाया तो छाया खतम हो गई, यद्यपि निमित्त ने उसमें कुछ किया नहीं तो भी ऐसा ही सहज योग है कि निमित्त के सन्निधान में विकार भाव होते हैं। ये विकार भाव मेरे सहजभाव नहीं हैं। ये विकारभाव हट जायें, अपने शुद्धस्वरूप का आश्रय लें, यही तो करने की चीज है। इससे इच्छावों का अभाव हो जायगा। जहां इच्छावों का अभाव हो गया वहां सुख शान्ति होगी। सो भाई सम्यग्ज्ञान बनाओ। बारह भावनाओं का इस ढंग से चिन्तन करो कि आपको नित्य भी अनित्य भी शरण अशरण भी, सार भी, असार भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

ज्ञान में आये। इस तरह का बारह भावनाओं का चिन्तन चले और अपने आपके भावों में विशुद्धि बढ़ावें और अपने सबके जो आवश्यक कर्तव्य बताये हैं उन आवश्यक कर्तव्यों का पालन करते हुए अपना लक्ष्य विशुद्ध रखें और अपने आपमें अध्यात्मरस का पान करके तृप्त रहें।

(१६७) शान्ति के उपाय में मौलिक उपाय सत्य परिचय—विचार यह करना है कि सुख शान्ति के लिये नाना उपाय करने पर भी सुख शान्ति प्राप्त नहीं हो सकी तो अब क्या उपाय करना चाहिए? तो इतना तो जानना ही होगा कि अभी तक जो उपाय बना रखे उनसे सुख शान्ति नहीं मिली तो वे उपाय मिथ्या हैं। अब दूसरा उपाय सोचना पड़ेगा। हम शान्ति चाहते हैं तो हमें दो बातों का निर्णय पहिले करना होगा। हम क्या है और वह शान्ति क्या है जो हमें अभीष्ट हैं? दो बातें पहिले समझ लो। पहिले अपने आपके बारे में ही विचार करें इससे पहिले एक बात और जान लें कि परिचय का उपाय क्या होता है? किन ढंगों में हम परिचय करें। जब वे ढंग हमें विदित होंगे तो परिचय हमें हो जायगा और यह ढंग ज्ञात हो जायगा कि इस तत्व का आश्रय करने से कल्याण है। तो हम उस तत्त्व की ओर अभिमुख हो जायेंगे। देखिये सूत्र जी में बताया हैं कि "प्रमाणनयैरधिगमः" तत्त्व का ज्ञान, वस्तु का ज्ञान प्रमाण और नयों के द्वारा होता है। प्रमाण और नयों के द्वारा सही ज्ञान होता है। मिथ्या ज्ञान नहीं होता और सही ज्ञान के कारण भूत जो प्रमाण और नय है यह भी सही हुआ करता है। प्रमाण भी यथार्थ है, नय भी यथार्थ और प्रमाण नयों के द्वारा जो ज्ञान होता है वह भी यथार्थ। तो हम प्रमाण और नयों का कुछ प्रयोग करके अपने आपके सहज स्वरूप का परिज्ञान करें। देखिये—सब लोग अनुभव करते हैं अपने आपको कि यह मैं हूं। अब कोई देह में अनुभव करता कि यह मैं हूं। कोई इस देह से भिन्न ज्ञान स्वरूप को अनुभव करता कि यह मैं हूं, कोई कषायों को अनुभव करता कि ये मैं हूं, कोई ज्ञान से भिन्न ज्ञान स्वरूप को अनुभव करता कि यह में हूं। इस प्रकार से मैं का अनुभव प्रत्येक जीव करता है। तो मैं हूं इसमें कोई संदेह नहीं, पर मैं क्या हूं इसे जानना है। जितने भी उपाय हैं प्रमाण और नय। प्रमाण तो होता है सर्वात्मविज्ञान और नय होता है प्रमाण से जाने हुए पदार्थ में एक देश धर्म को जानना।

(१६८) नय विज्ञान—हम जरा एक देश परिचय की ओर से बढ़कर प्रमाण की ओर पहुंचे। नय कितने प्रकार के हैं? तो आगम में बताया है—नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय ऋजुसूत्रनय, समभिरूढ़नय और एवंभूतनय। ये सातों के सातों नय सही परिचय देते हैं, उसमें ऐसा नहीं है कि कोई नय हमें विपरीत रास्ते पर ले जाय और कोई नय हमें सही रास्ते पर ले जाय। हां नयों से जो परिचय किया जाता है वह भी यदि उपचार भाषा में चलेगा तो उपचार मिथ्या हो जायेगा, पर नय कोई मिथ्या नहीं होते। यह एक नैगम, संग्रह आदिक की जो परम्परा है इसका दर्शन शास्त्र से अधिक सम्बन्ध है। जैसे नैगम से जाना क्या? सत्, और असत, संग्रह नय से जाना क्या? सत्, व्यवहार नय से जाना क्या? सत के भेद, ऋजु सूत्र नय से जाना क्या? सत् की पर्याय। शब्द नय से जाना क्या? ऋजु सूत्र से जानी हुई बात में शब्द भेद से और भेद करके जानते हैं। समभिरूढ़नय से जाना क्या? शब्द के वाच्य अनेक अर्थों में से जिस अर्थ में उस शब्द की रुढ़ि है उस अर्थ को जाना। एवं भूत नय से जाना क्या कि जिस शब्द से बोला उस शब्द में जिस परिणति का द्योतन हुआ है उस परिणति से परिणत हुए को ही उसे उस शब्द से कहना। देखिये यह परम्परा अभेद से भेद की ओर ले जाने वाली हुई और दूसरी तरह देखो तो स्थूल से सूक्ष्म की सूक्ष्म की ओर ले जाने वाली हुई। यह एक आगम और दार्शनिक परम्परा में बहुत काम देता है। अब दूसरी तरह से देखो—नयों के चार प्रकार हैं परमशुद्धनय, शुद्धनय, अशुद्ध नय और व्यवहारनय नय सभी यथार्थ परिचय दिया करते हैं। अन्य नयों की बात हम दूसरे उपचार की ओर से पहिचानें तो वह मिथ्या भाषा है। प्रयोजन को देखो तो वह ठीक है, लेकिन प्रयोजन पर दृष्टि न दें और जो भाषा सीधी बोली जाती

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है उपचार से वह मिथ्या है और सभी नय हमको एक समीचीन मार्ग का प्रदर्शन करते हैं।

(१६९) परमशुद्ध निश्चयनय से शाश्वत स्वरूप का परिज्ञान—परमशुद्ध निश्चयनय का अर्थ क्या है ? वस्तु के शुद्ध सहज अनादि अनन्त अहेतुक स्वभावका बोध कराने वाला परमशुद्ध निश्चयनय होता है। देखो इन नयों के विवरण के समय यह दृष्टि डालें कि हमारा कल्याण स्वभाव दृष्टि में है। हमने अब तक पर्यायों को अपनाया और उसका फल यह है कि हम संसार में अब तक रुलते चले आये। हमने अपने ज्ञान में अभी तक पर्यायों को महत्व दिया पर अपने सहज स्वभाव को महत्व नहीं दिया। तो उस स्वभाव दृष्टि की ओर हम किस प्रकार आ जाते हैं इन नयों के द्वारा परिचय करने पर ? तो परमशुद्ध निश्चय नय तो सीधा साक्षात् प्रेरणा देता है स्वभाव दृष्टि में आने का। जो शाश्वत अपने आपके स्वभावमय ही है, जो कभी किसी पर पदार्थ रूप न हो, जो कभी अपने आपका सत्त्व निकालकर नहीं फेंकता ऐसा शुद्ध एक स्वभाव वह परम शुद्ध निश्चय नय का विषय है। जैसे शुद्ध दूध किसे कहते हैं ? नहा धोकर लाये हुए शुद्ध दूध की बात हम नहीं कह रहे। हम पदार्थ की निगाह से शुद्ध दूध की बात कह रहे हैं। शुद्ध दूध का यह अर्थ है कि जिसमें न कोई दूसरी चीज पानी वगैरह मिलायी गई हो और न उसमें से सपरैटा वगैरह निकालकर बाहर गया हो। तो ऐसे शुद्ध दूध की बात हम कह रहे जिसमें न कोई अन्य चीज मिले और न कोई चीज उसमें से निकलकर बाहर जाय तो ऐसे ही परम शुद्ध का विषय भूत जो शुद्ध तत्व है वह किस प्रकार है कि पर से विभक्त है और अपने एकत्व में तन्मय है। ऐसा अनादि अनन्त ध्रुव तत्त्व अपने आत्मा में विराजमान जो ज्ञान स्वभाव चैतन्य स्वभाव है उसका बोध कराने वाला परम शुद्ध निश्चयनय है।

(१७०) शुद्धनिश्चयनय व अशुद्ध निश्चय नय से वस्तु का परिचय—शुद्ध निश्चयनय किसे कहते हैं कि एक द्रव्य का ही ज्ञान जो कराये क्योंकि यह निश्चयनय का एक नियम है कि वह एक ही द्रव्य को जाने, एक में ही जाने। तो शुद्ध निश्चयनय जानता तो एक है मगर शुद्ध पर्याय रूप में जान रहा है। जैसे प्रभु केवल ज्ञानी हैं। केवल ज्ञान होना एक शुद्ध अवस्था है। तो इस आत्मा को केवल ज्ञानी निरखना यह शुद्धनय का विषय है। परमशुद्ध निश्चयनय से शुद्ध निश्चयनय में कितना अन्तर आया कि उसने तो स्वभाव को विषय किया और इसने पर्याय को विषय किया, लेकिन क्या एक द्रव्य में उस पर्याय को अभेद रूप करके देखा ? देखा शुद्ध पर्याय को। इससे हम स्वभाव दृष्टि पर किस तरह उतरेंगे कि हमने केवल एक ज्ञान पर्याय को देखा, वह है स्वभाव के अनुरूप तो हम उस केवल ज्ञानपर्याय को देख करके स्वभाव में उतर आयेंगे और जब स्वभाव में आये तो स्वभाव में जब दृष्टि करते हैं तो पर व्यक्ति नहीं रहता है, मात्र स्वभाव रहता है, और उस स्वभाव का आश्रय खुद तो है ही, परका हो गया परिहार, तो वह अपने आपकी दृष्टि में आ जाता है यह है शुद्धनय का उपयोग। अशुद्ध निश्चयनय किसे कहते हैं कि एक द्रव्य में जाना किन्तु अशुद्ध पर्याय को जाना। जैसे जीव रागी है, जीव है, रागी है, जीव की राग परिणति है, राग परिणति से परिणमता है, वह अपने आपके राग के लिए परिणमा है। सारी बात एक में देख रहे हैं षट्कारक विधि से, लेकिन देखा अशुद्ध पर्याय को तो उसे कहेंगे अशुद्ध निश्चयनय का विषय। अशुद्धनिश्चय द्वारा जब हम एक तत्त्व को जानते हैं तो कितना उपकार मिलता है। कैसे स्वभाव दृष्टि की ओर आते हैं सो इसे भी परख लो। जाना जीव, पर रागी। यहां निमित्त पर दृष्टि न दें, क्योंकि हम एक निश्चयनय के केन्द्र में बोल रहे हैं। जब परकी ओर हमारी दृष्टि नहीं हैं तो हम कब तक उस राग को लम्बा करेंगे ? वह राग अपने श्रोतभूत स्वभाव की ओर हम अपनी बुद्धि ढालेंगे तो स्वभाव की दृष्टि हम करने लगेंगे। इसमें कठिनाई पड़ती है, क्योंकि पर्याय विपरीत को पर्याय देखकर विपरीत पर्याय के श्रोत को देखा तो उसमें हमें जरा कठिनाई पड़ती है। तो परम शुद्ध निश्चय की अपेक्षा शुद्ध निश्चयनय में थोड़ी कठिनाई पड़ती है स्वभाव दृष्टि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

के लिए, उससे अधिक कठिनाई पड़ी हमको अशुद्ध निश्चयनय द्वारा स्वभाव दृष्टि करने के लिये मगर उपयोग यह ही है कि हम जिस किसी भी प्रकार इन नयों के प्रयोग से स्वभाव दृष्टि में आयें।

(१७१) व्यवहारनय से वस्तु का परिज्ञान—अब देखिये चौथा व्यवहारनय। व्यवहारनय यह बतलाता है कि जितने विकार होते हैं, विभाव होते हैं वे विकार और विभाव स्वयं पदार्थ में अपने ही मात्र सत्त्व के कारण परके निमित्त सनिन्धान बिना उपाधि के अभाव में अपने आप में स्वयं नहीं होते हैं अन्यथा वे विभाव न कहलाते, स्वभाव कहलाते। विभाव और विकार का अर्थ ही यह है कि और किसी उपाधि संसर्ग में स्वभाव के विपरीत परिणति बने उसे कहते हैं विभाव। स्वभाव के विपरीत परिणति निमित्त सन्निधान में ही हो सकेगी निमित्त के अभाव में नहीं होती। किया तो इस तरह लेकिन यह परखिये कि निमित्त नैमित्तिक भाव होने पर भी वस्तु स्वातन्त्रय समझ में आने पर वस्तु का सत्ता सिद्ध अधिकार है। जैसे दर्पण के सामने हाथ किया तो दर्पण में हाथ का प्रतिबिम्ब आया वह एक विकार है। वह विकार एक निमित्त के सन्निधान बिना नहीं होता, इतने पर भी हाथ की सारी बात हाथ में ही है, हाथ से कुछ भी निकालकर दर्पण में नहीं गया किन्तु हाथ का सन्निधान पाकर यह दर्पण स्वयं ऐसी अपनी योग्यता रखता है कि वह स्वयं अपने आपकी परिणति से प्रतिबिम्ब रूप परिणम गया तो निमित्त नैमित्तिक भाव होने पर भी वस्तु स्वातन्त्रय होता है। वस्तु स्वातन्त्र्य होने पर भी विकार का विधान यही है कि यह किसी पर उपाधि के संस्सर्ग में ही विकारी होता है। इस सम्बन्ध को कहते हैं निमित्त नैमित्तक योग। हां इस प्रसंग में मूल बात यह कह रहे थे कि व्यवहारनय के प्रयोग से हम स्वभाव दृष्टि का लक्ष्य कैसे ले सकेंगे? देखिये व्यवहारनय बतलाता है कि यह वर्तमान में जो राग होता है, द्वेष होता है, विकार होते हैं ये सब जीव के स्वरूप नहीं है, क्योंकि उपाधि का निमित्त पाकर हुए हैं। इसी कारण उन्हें पौद्गलिक कहा कि पुद्गलकर्म के उदय से ये उत्पन्न हुए, याने निष्पन्न किए गए, मगर पुद्गलकर्म के उदय का निमित्त पाकर जो विभाव निष्पन्न होते हैं वे पौद्गालिक हैं नैमित्तिक हैं सो उन्हें निमित्त के पास ले जावो, ये पौद्गलिक हैं, ये मेरे स्वभाव नहीं हैं। मेरा स्वभाव तो अनादि अनन्त एक ज्ञानस्वभाव है, चैतन्य स्वभाव है। जो मेरे सत्त्व के कारण ही होता है। जैसे व्यवहारनय की कैसी कृपा हुई कि उसके प्रयोग से ही हमने ऐसा पाया कि जिसमें ऐसी सुविधा दिखी कि इसका प्रभाव देखकर स्वभाव में से भी हटाकर फेंक दिया। यह मैं नहीं हूं। मैं तो एक अनादि अनन्त ज्ञान स्वभावी हूं। तो व्यवहारनय की पद्धति से हम स्वभाव दृष्टि की ओर आये।

(१७२) चारों नयों में यथार्थता का प्रकाश—अब बात यहां यह समझनी है कि यद्यपि ये चारों नय यथार्थ हैं, सत्य बात का प्रतिपादन करते हैं। क्या अनादि अनन्त ध्रुव अखण्ड स्वभाव यह यथार्थ नहीं है? है। क्या कोई जीव केवल ज्ञानी है, शुद्ध पर्याय में परिणत हो रहा है, क्या यह यथार्थ नहीं है? है। कोई जीव रागी है' रागपरिणमन से परिणत हो रहा है, क्या यह घटना सही नहीं है? है। इस प्रकार निमित्त के सन्निधान में पुद्गलकर्म का उदय पाकर जिसे इन शब्दों में कहो कि पुद्गल कर्मोदय के सन्निधान में याने पुद्गलकर्म विपाक का निमित्त पाकर आत्मा में आत्मा की योग्यता से आत्मा की परिणति से विकार हुआ है क्या यह बात यथार्थ नहीं है? है। इतने पर भी यदि कोई यह कह दे कि पुद्गल कर्म ने राग किया, राग परिणति को किसने किया? पुद्गलकर्म ने, तो यह बन गया उपचार। कर्ता कर्मभाव एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ नहीं होता। निमित्तनैमित्तिक भाव तो रहता है, पर कर्तृकर्म भाव एक द्रव्य में एक से ही होता है, अन्य में नहीं हुआ करता, क्योंकि जो परिणमता है इसे कर्ता कहते हैं, कर्ता नाम ही उसका है जो परिणमता हो। जो परिणति है वह क्रिया है, जो परिणाम है वह है कर्म और जो परिणमता है वह है कर्ता। इस तरह कर्ता कर्म का जो भाव

Version 1

है वह एक द्रव्य का दूसरे के साथ नहीं है। इस पर भी चूंकि यह बताने के लिए कि कर्म के उदय का निमित्त पाकर उस निमित्तसन्निधान में जीव में यह रागपरिणित हुई है, इतनी बात को लोक भाषा में समझाने के लिए औपचारिक भाषा बोली जाती है, वहां प्रयोजन मात्र ग्रहण करना है। जब यह कहा जाता है कि पुद्गल कर्म ने जीव में राग किया तो यह हुई औपचारिक भाषा। इस ही रूप में कोई बात माने तो वह मिथ्या है। व्यवहारनय का जो विषय है वह प्रयोजन है उपचार का। इसलिये उपचार तो मिथ्या है, लेकिन व्यवहारनय ने जो बात दिखाया वह मिथ्या नहीं है उसका प्रतिपादन लोक भाषा में उपचार से होता है। उससे हमें यह शिक्षा लेना है कि रागादिक भावों को परभाव जानकर, भिन्न जानकर उनका आश्रय न करें। परमशुद्ध निश्चयनय के विषयभूत उस अखण्ड चैतन्य स्वभाव का आश्रय करें। देखिये—जब आश्रय की बात आती है—हम किसका आलम्बन लें। तो उस का उत्तरएक ही है अखण्ड सहज स्वभाव का।

(१७३) आश्रेय तत्त्व का निरीक्षण—देखो जगत के सब जीवों की आदत है कि वे किसी न किसी को शरण मानकर उसका आश्रय तका करते हैं। व्यवहार में भी कोई भाई का आश्रय लेता है, कोई स्त्री का, कोई पिता का, कोई गुरु का आश्रय लेता है, यों जीवों में किसी न किसी का आश्रय लेने की आदत पड़ी हुई है। ठीक ही है। जब तक यह जीव परिपूर्ण नहीं है, परम कल्याणमय नहीं है तब तक तो यह अवस्था आयगी ही। अब विवेक यहां यह बनाये कि हम किसका आश्रय लें कि हमारा कल्याण हो, हम संसार के संकटों से सदा के लिए छूट जायें। देखिये भाई जगत में हमारा बाहर में कोई दूसरा नहीं, कोई मददगार नहीं, इसलिए बड़ी सच्चाई के साथ पहिले यह संकल्प बनावें कि मेरे को तो अपना कल्याण करना है, इसके सिवाय और मेरा कोई लक्ष्य नहीं है। बाहर में बहुत फंसाव करना, लगाव करना, यश की बात चाहना, लोगों में अपने नाम की बात चाहना, ये सब बातें कोई कल्याणकारी नहीं। वह तो गुप्त ही गुप्त अपने आपमें मैं इस गुप्त आत्मप्रभु का उस ही के गुप्त रहस्य का पता लेकर इसकी अनुभूति के साथ मैं अपने आपमें सब कुछ पाऊंगा और कल्याण करूंगा। यही एक मात्र अभिलाषा है। संसार में अनेक जीवन पाये; सब जगह कष्ट ही सहे और कुछ उन्नति करते-करते आज हम इस मनुष्यभव में आये, जो बड़ा दुर्लभ है। इस मनुष्यभव में आकर भी हम यदि विकल्पों का इतना उपद्रव बनायें कि रागद्वेष मोह में ही रात दिन पगे रहें, अपने समता रस का स्वाद लेने की पात्रता खतम कर दें तो यह हमारे विवेक की बात नहीं है। हम धीर हों, गम्भीर हों और बड़े विवेक से वस्तु स्वरूप का निर्णय बनायें और उसका फायदा उठायें अपने आपके कल्याण लाभ का। ऐसी हम प्रवृत्ति न बनायें कि जिससे हम इस कल्याण के अपात्र रहें।

(१७४) सहजपरमात्मतत्त्व के अभ्यास के अभयस में मानव जीवन की सफलता—देखिये—यह मानव जीवन बड़ी दुर्लभता से प्राप्त हुआ, जिसको अनेक दृष्टान्तों द्वारा बताया गया है। पा लिया, और साथ ही एक जैनशासन पाया जिसमें वीतराग मार्ग का दर्शन है, जिसमें संसार के संकटों से सदा के लिए छुटकारा होने का उपाय है इतनी सब कुछ दुर्लभ बात पाकर हम केवल क्या अपना लक्ष्य बनायें कि मैं कैसे अपने इस ज्ञानस्वभाव में लीन होऊं। वह उपाय चाहिये हमें और चूंकि ऐसी बात सदा काल नहीं बन पाती। कभी कोई क्षण मिल सकेगा। बड़ी कठिन बात है, यहां कुछ न कुछ मन, वचन, कायकी प्रवृत्तियां करनी ही पड़ेगी। तो हम अपनी कैसी प्रवृत्ति करें जो हमारे स्वभावदर्शन से विमुख न कर दे। जो मेरे में रागद्वेष मोह न बढ़ने दे, ऐसी हम अपनी परिणति बनायें। ऐसी प्रवृत्ति में, ऐसे सद् व्यवहार में विनयशील रहकर, जिसे संक्षेप में कहा गया देवशास्त्र गुरु के प्रति विनयशील रह कर परमार्थतः अपने आपके अविकारी स्वभाव की ओर विनयशील रहकर हम सदा इस धन में रहा करें कि हम कैसे अपने आपके ज्ञानस्वभाव में गुप्त हो जायें? उस धुन में फिर हम जो

 http://www.jainkosh.org

कुछ करेंगे, वे सब हमारे विवेक वाले काम होंगे । हां स्वभावदृष्टि में हमको पहुंचने का काम पड़ा हुआ है ।

(१७५) भूतार्थनय का विषय परम आश्रेय तत्त्व—एक उपदेश में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने बतलाया है कि व्यवहार अभूतार्थ है, शुद्धनय भूतार्थ है और जो भूतार्थ का आश्रय करता है, उसके सम्यक्त्व होता है, वह कल्याणमार्ग में चलता है । जरा अपनी दृष्टि बनावो । भूतार्थ का अर्थ क्या और अभूतार्थ का अर्थ क्या ? भूतार्थ का अर्थ है—शब्द में निकली हुई वस्तु में स्वयं अपने आप सहज निरपेक्षतया मात्र अपने ही सत्त्व के कारण परसन्निधान बिना जो हो उसे कहते हैं भूतार्थ । तो भूतार्थ तत्त्व क्या है ? जो मेरा आत्मा परसम्पर्क बिना परापेक्ष बिना स्वयं अपने आप स्वभावत: स्वयं मौजूद हो ऐसा भाव क्या है, जिसे सहज ज्ञानस्वभाव चैतन्य-स्वभाव आत्मस्वभाव अन्तस्तत्त्व किसी भी रूप में कहो, जो अनादि अनन्त बिराजमान है, पर्याय में घटाया जाता हैं, पर्यायें आया करती हैं, ऐसा जो अन्त: स्वरूप है वह है स्वयं सहज निरपेक्षतया अपने आपमें होने वाला अर्थ । इसे कहते हैं भूतार्थ । भूतार्थ क्या है ? तो संक्षेप में तो भूतार्थ के ही वर्णन से जान लेना चाहिए कि जो भूतार्थ नहीं सो अभूतार्थ । वह क्या कि जो आत्मा में स्वयं सहज निरपेक्षतया अपने स्वभाव से न हो । तो परसम्पर्क में निमित्त सन्निधान में, अशुद्ध पर्याय में या भेद में इन सब बातों में जो हो उसे कहते हैं अभूतार्थ ।

(१७६) सत्य व असत्य रूप में अभूतार्थ की द्विविधता—अभूतार्थ कोई झूठ होता, शेष सत्य अधिक है जैसे आज हम आप मनुष्य हैं, मनुष्य हैं, क्या यह बात झूठ है ? झूठ तो नहीं है लेकिन अभूतार्थ जरूर है । कैसे अभूतार्थ है कि यह मैं आत्मा स्वयं अपने स्वभावत: निरपेक्षतया निमित्त बिना, कर्मसम्बन्ध बिना मनुष्य नहीं होता, इसलिए यह भूतार्थ है । सच होने पर भी अभूतार्थ है अर्थात् मनुष्य है, यह पर्याय है । त्रस स्थावर ये पर्याय हैं, हम आप क्रोध, मान, माया, लोभ में चल रहे हैं, दु:खी हो रहे हैं, ऐसी प्रवृत्ति हो रही हैं, वह हो रही है सम्पर्क में । देह कर्म और जीव इन तीनों का पिण्डोला बन रहा है । इस विवेक से भी एक तत्त्व को जाना, वह हमारी श्रेयोमार्ग की दृष्टि है मगर इस समय तो इन तीनों का समुदाय है, यह जो इतनी यात्रा चल रही है । उसका विधि विधान भी यही है सो यह भी चीज सच है और किस पर्याय में चल रहा है जीव, यह जीव की परिणति कौन सी चल रही है ? यह जानें, यह भी ठीक है । सच होने पर भी एक भूतार्थ नहीं है, किन्तु अभूतार्थ है । क्यों अभूतार्थ है ? है तो सच । क्या सच होने पर भी अभूतार्थ कोई होता है ? सच की परिभाषा अलग है और अभूतार्थ की परिभाषा अलग है । अभूतार्थ की परिभाषा यह है कि स्वयं सहज निरपेक्ष स्वयं जो नहीं है, किन्तु निमित्त सन्निधान में है, स्वभाव में विपरीत है उसे कहते हैं अभूतार्थ । बात सही है । व्यवहार की बात झूठ नहीं है । पर व्यवहार में जो बात समझी जा रही है वह बात अभूतार्थ है, याने जीव का स्वभाव नहीं है, जीव का एक निरपेक्ष भाव नहीं है । अर्थ इतना निकला ।

(१७७) सत्यार्थ व असत्यार्थ की पारमार्थिक परिभाषा से भूतार्थ व अभूतार्थ का मेल—अब देखिये—भूतार्थ का दूसरा नाम सत्यार्थ भी है । अभूतार्थ का दूसरा नाम असत्यार्थ भी है । इसे जरा ध्यान से सुनो—सत्यार्थ का अर्थ क्या है ? सच्चा, यह नहीं, सत्यार्थ के मायने यह नहीं कि बात सच निकले । सच निकले वह बात अलग है मगर सत्यार्थ का अर्थ है सत् में स्वयं अपने आप निरपेक्षतया जो भाव हो उसे कहते हैं सत्यार्थ । याने जो भूतार्थ का अर्थ है वही सत्यार्थ का अर्थ है । याने आत्मा पर घटावो । आत्मा में अपने आप स्वय निरपेक्षतया स्वभावत: जो अनादि अनन्त भाव हैं जिनके बिना अपना अस्तित्व नहीं रहता है, ऐसा जो पारिणामिक भाव से तन्मय जो एक अंतस्तत्त्व है वह है सत्यार्थ । तो असत्यार्थ क्या है ? जो स्वयं सत् में अपने आप निरपेक्षतया न हो उसे कहते हैं असत्यार्थ । याने मुझ आत्मवस्तु में निमित्त पाकर जो वस्तु बनी है, कर्मोदय से जो बात निष्पन्न हो रही है वे सब बातें हैं सत्यार्थ । असत्यार्थ के मायने यह नहीं कि यह झूठ है । यह सच है, मनुष्य है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तिर्यञ्च है, क्रोधी है, मानी है, मायावी है, लोभी है, और उसका विधि विधान भी यही है। ये सब विकार निमित्तनैमित्तिक सन्निधान में हुए हैं इस कारण ये नैमित्तिक हैं, परभाव हैं, इतना सब कुछ होने पर भी बात यद्यपि यह सही है, सही होने पर भी चूंकि यह स्वभाव रूप नहीं है, आत्मा के सत् में स्वयं अपने आप निरपेक्षतया नहीं हुआ है इसलिए यह असत्यार्थ है। असत्यार्थ का अर्थ झूठ नहीं। असत्यार्थ का अर्थ है स्वयं निरपेक्षतया अपने आप न होने वाली बात। अभूतार्थ का अर्थ है स्वयं अपने आपमें न हुई बात। बात सब जान लीजिए, नय कोई मिथ्या नहीं होता। आखिर नय श्रुत ज्ञान का अंश है। जितने भी नय हैं वे सब श्रुत ज्ञान के अंश हैं। ये उपचार में शामिल नहीं इस लिए उपचार की बात मिथ्या है। तब फिर नयों के जितने भी विषय हैं वे कोई विषय मिथ्या नहीं हैं। नैगमनय, संग्रहनय आदिक समस्त नय सम्यक हैं। व्यवहारनय, निश्चयनय, शुद्धनय, अशुद्धनय ये सब सम्यक हैं। किसी का स्वरूप गलत नहीं है, लेकिन जब हम व्यवहार के इस विषय को, उस विधि विधान के विषय को जब हम एक कर्ता कर्म रूप में पेश करते हैं, तब फिर जो जैसा हो उसे वैसा जनें सही जानें वहां कोई अड़चन नहीं है। यहां तक भी बताया है कि शुद्ध निश्चय से तो ये रागादिक विकार पौद्गलिक हैं। जान लिया, समझ गए, लेकिन इस निमित्तनैमित्तिक भाव के रहस्य को जब हम कर्ता कर्म भाव के रूप में पेश करते हैं तब वह उपचार भाषा हमारी मिथ्या हो जाती है। तो हम इन नयों का प्रयोग करके एक ऐसी दिशा में पहुंच जाते हैं जिसमें ज्ञानप्रकाश मिले।

(१७८) स्वभावदृष्टि कराना नयों का प्रयोजन—देखो—सब नयों का प्रयोजन स्वभाव दृष्टि कराने का है यह भी आप ध्यान में रख लीजिए। सभी नयों का प्रयोजन दृष्टि कराने का है, यही परमशुद्ध निश्चयनय हुआ अथवा व्यवहारनय हुआ। सबका प्रयोजन क्या है कि स्वभाव की दृष्टि करें, विभावों की उपेक्षा करें। रागद्वेष मोह से दूर हो जायें—"सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह रागरुष दुःख की खान। निजको निज परको पर जान, फिर दुःख का नाहिं लेश निदान।" निजको निज जान लीजिए, परको पर जान लीजिए। देखिये वस्तुस्वातन्त्र्य से न चिगकर निमित्तनैमितिक भाव को सही पद्धति से पेश करें तो वस्तुस्वातंत्र्य मिट जायगा, ऐसा कोई डर मानकर निमित्तनैमित्तिक भाव को माने तो यह एक ज्ञान की कमजोरी है और निमित्तनैमित्तिक भाव मिट जायगा वस्तुस्वातंत्र्य मानने से इसलिए वस्तु को स्वतंत्र न मानना, खण्डन करना, ऐसा कोई सोचे तो उसके भी ज्ञान की कमजोरी है। ज्ञान का बल वह है कि उसमें दोनों बातें स्पष्ट दिख रही हैं कि निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी कर्ता कर्मभाव उनमें परस्पर नहीं है। जिसे स्पष्ट बताया इन दो कथनों में एकदम स्पष्ट बात बताया कि जीव के विभावों का निमित्त पाकर कर्म पुद्गलकर्मरूप परिणमते हैं और कर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव विकाररूप परिणमता है यह बात गलत नहीं है, यह आचार्य कह रहे हैं। इतनी बात मानने के बाद अब आगे चलो। इतना होने पर भी चूंकि जीव का कर्म का परस्पर में व्याप्य व्यापकभाव नहीं है अतएव कर्तृ-कर्मभाव नहीं है, निमित्त नैमित्तिक भाव है। कर्तृकर्मभाव नहीं है, बस यह ही तो बोध करना है। मोह हमारा कैसे हटेगा? संसार की प्रवृत्तियों से मेरी ममता कैसे हटेगी? जब सबसे निराले अपने आपको समझ पायेंगे तब मोह दूर होगा। एक ओर तो यह मानते रहें कि यह मेरा है, इससे मेरा सम्बन्ध है और दूसरी ओर ऐसा मनायें कि मेरा यह मिथ्यात्व मिटे तो यह कैसे हो सकता है? अपना सच्चा ज्ञान बनावें ग्रहस्थावस्था में राग को छोड़कर विभाव तो नहीं हो सकता। आप घर में रहें, राग न करें, घर के लोगों को गाली दें कि तुम सब नरक के कारण हो, तुम मेरे कुछ नहीं हो, इस तरह से कहकर तो आप घर में पैर तक न रख सकेंगे। आप घर से हटा दिये जायेंगे। आप घर में रहेंगे तो वहाँ रागव्यवहार करना होगा। इतने पर भी अपना शुद्ध ज्ञान बनाये रहें कि मेरा तो केवल मैं हूं, मेरा अन्य कुछ नहीं है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(१७९) आत्मकल्याणाभिलाषी की निर्विवादता—देखो भाई जिसे अपना कल्याण करना है उसको कहीं विवाद नहीं और जिसके मन में कल्याण की बात नहीं है जैसे जो केवल धन वैभव के द्वारा ही दुनिया में अपना बड़प्पन जाहिर करना चाहता है, ऐसे ही ज्ञानद्वारा इस जगत में अपना बड़प्पन करना चाहता है तो उसको न कल्याण है और न वह निर्विवाद बात है। अगर कल्याण का भाव आया है रंच भी विवाद नहीं। देखो जितने भी दर्शन हैं—सांख्य, नैयायिक, मीमांसक, बौद्ध, जैन आदि, तो इनके विषय में एक पुस्तक अध्यात्मरहस्री में स्पष्ट बताया है कि अन्य दार्शनिक जो बात कह रहे हैं वह भी बात सत्य है मगर किस नय से सत्य है ? तो उन ही नयों का स्पष्ट वर्णन एक परिच्छेद में किया गया है। जब सब दर्शनों की बात हम सब नयों का मिलान करके दर्शन स्थापित करते हैं तब फिर इस जैनधर्म में कही हुई बात को क्या सत्य नहीं कह सकते ? फिर परस्पर विवाद क्यों ? अगर कहो कि यह जीव नित्य है, अनित्य है, तो ये दोनो बातें सत्य हैं, जीव नित्य है, जीव में पर्याय अनित्य हैं,दोनों बातें समझ में आ गई। जीव में जीव की योग्यता से विकार हुआ है। यह भी बात सत्य है। कर्म के उदय का सन्निधान पाकर जीव में कर्म हुए हैं यह भी बात सच है। सब नयों का प्रयोग बनावें आप तो उसमें उद्देश्य यह रहे कि मुझे कल्याण चाहिए। हमें कल्याणलाभ मिलेगा विविक्त वस्तु के दर्शन से। सबसे विविक्त अपने आपके अंतस्तत्त्व के दर्शन में लाभ मिलता है। सब नयों के प्रयोग से आप यह लाभ उठा सकते हैं। केवल एक उपचार ही ऐसी चीज है कि जो जिस भाषा में बोलता है उस रूप ही कोई मान ले तो वह विवाद में आ सकता है, मगर नयों का कोई प्रयोग ऐसा नहीं है कि जो हमें विपरीत मार्ग में ले जाय। श्रुतज्ञान के ये सब अंश हैं। ७ नय, निश्चयनय, व्यवहारनय आदिक ये सब हमें विपरीत मार्ग की ओर नहीं ले जाते। ये सब नय हमें स्वभावदृष्टि की ओर ले जाने का एक प्रकाश देंगे। इनको सही रूप से समझ लीजिए और एक अपने आपका सही उद्देश्य बना लीजिए। देखिये सर्वविशुद्ध अधिकार में निश्चयनय का बहुत-बहुत आश्रय कराकर हम आपको एक शुद्ध तत्त्व की ओर ले जाने की करुणा की है आचार्यदेव ने। तो इस जीवाजीवाधिकार में, कर्तृकर्माधिकार में अनेक जगह व्यवहारनय के प्रयोग से वस्तु का वर्णन बताकर हमको स्वभावदृष्टि की ओर ले जाने की प्रेरणा आचार्य महाराज ने दी है। कैसें ? अरे भाई ये सब पौद्गलिक हैं, नैमित्तिक हैं, ये तेरे भाव नहीं हैं, ये सब परभाव हैं, बल्कि यहां तक कहा कि गुणस्थान मार्गणायें आदिक ये सब पौद्गलिक हैं। बतलावो वह है कैसे ? क्या ये सब पौद्गलिक है। हम आपसे पूछें कि निश्चयनय से ये रागद्वेषादिक भाव पौद्गलिक हैं क्या ? तो निश्चयनय से पोद्गलिक नही हैं, यह तो आत्मा की पर्याय है, पुद्गलकर्म की पर्याय नहीं है, लेकिन कितना प्रकाश दिया है कि विकार सब नैमित्तिक हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं।

(१८०) आत्मत्त्व की अङ्गीकारता—जिसके निर्णय में अवश्य मार्गदर्शन होता है वह मैं क्या हूं ? मेरा क्या है ? मैं क्या करता हूं, मैं क्या भोगता हूं ? मैं क्या हूं—इसके उत्तर यद्यपि अनेक आयेंगे, लेकिन जानना यह है कि मैं अपने आप सहज निरपेक्ष परसम्बन्ध बिना अपने ही सत्त्व के कारण क्या हूं ? तो उत्तर मिलेगा—चैतन्यस्वरूप, चैतन्यस्वभाव, ज्ञानप्रकाश। तब इसके अतिरिक्त अन्य जितनी बातें हैं उन्हें मैं न स्वीकार करूं। जैसे घर मकान, धन दौलत, शरीर, कुटुम्ब आदि ये तो एकदम स्पष्ट परद्रव्य हैं, ये मैं नहीं हूं, और कर्म ये भी परद्रव्य हैं, ये भी मैं नहीं, और कषाय—ये परभाव हैं, ये मैं नहीं, क्योंकि कर्म के उदय का निमित्त पाकर हुए हैं। ये स्वभाव से मेरे सत्त्व में नहीं उठे। अगर परसन्निधान बिना रागद्वेषादिक हो तो वे मेरे स्वभाव बनें, ये मेरे स्वभाव नहीं हैं, ये तो विभाव हैं। ये मैं नहीं हूं, ये निमित्तिकभाव हैं, परभाव हैं, इनसे न्यारा मैं ज्ञानप्रकाशमात्र हूं। और तो क्या ? ये विचार तरंगे जो उठती हैं, जिन्हें छुटपुट जानकारी कहते हैं, ये छुटपुट ज्ञान की वृत्तियां भी मैं नहीं हूं, ये छुटपुट हैं, अपूर्ण हैं, नैमित्तिक हैं, जितना क्षयोपशम है उतने का निमित्त पाकर हुए हैं। हुए हैं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सब मेरी योग्यता से, मेरे उपादान में, लेकिन नैमित्तिक भाव हैं, वे सब मैं नहीं हूं। तब मैं क्या हूं ? मैं हूं एक ज्ञानज्योतिस्वरूप परमात्मतत्त्व। मेरा क्या है ? मेरा है मात्र मेरा स्वरूप। जो मेरा स्वरूप है वही मैं हूं। जो मेरे में सहज हो वह है मेरा। जो मेरा है वह कभी मिटता नहीं। जो मिटता है वह मेरा नहीं। यद्यपि जानकारियां या विकारपरिणितयां वे इस समय मेरी परिणति बन रही हैं। भले ही विकार हैं, पुद्गल के उदय हैं और उसी समय चेतना, वेदना, अनुभवना, अपनाना आदिक सब बातें हो रही हैं, फिर भी चेतन में जो कुछ हो रहा है वह चेतन के ही धर्म से चिदाभास हो रहा है, हो रहा है तो भी ये सब स्वप्रत्ययक नहीं हैं। वे केवल मेरे आत्मा के ही कारण हों परवस्तु के सम्बन्ध बिना सो हों नहीं।

(१८१) **निमित्तनैमित्तिक योग होने पर भी वस्तुस्वातन्त्र्य का प्रकाश**—एक बात यह समझना है कि परवस्तुका सम्बन्ध पाकर जो विकार होते हैं वे होते हैं अकेले उपादान में ही, किन्तु परका सम्बन्ध पाकर हुए, परके सन्निधान में हुए सो नैमित्तिक हैं इतने पर भी जो जिसकी परिणति है वह उसके साधन से ही होती है, अन्य साधन से नहीं होती। संसार की जितनी भी व्यवस्था है वह सारी व्यवस्था इसी भांति है, इसमें सब निमित्तनैमित्तिक भाव बराबर दिख रहा है। दिख रहा है, लेकिन एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के क्षेत्र, काल, भाव तक पहुंच जाये, एक दूसरे की परिणति करता हो, दूसरे रूप परिणमता हो तो आज जगत शून्य हो जाता तो बराबर यह देखना है कि यद्यपि सारी व्यवस्था निमित्तनैमित्तिक विधान पूर्वक है, लेकिन प्रत्येक द्रव्य अपने आपमें अपनी परिणति से अपनी परिणति पा रहा है। कौन नहीं जानता कि रोटी कैसे बनती है ? वही विधि विधान मिलते हैं, क्या कोई ऐसी शंका करता है कि कल तक तो रोटी बनती थी इस विधि से और इस इस चीज से आज पता नहीं बने या न बने, ऐसी कोई शंका नहीं करता। पहिले पानी से आटा गूंथना, अग्नि जलाना, फिर सेंकना आदिक जो जो भी काम किये जाते हैं रोटी बनाने में, उनको करते हुए में कोई महिला यह शंका नहीं करती कि पता नहीं आज कहीं आटे के बजाय मिट्टी से रोटियां बनें। तो निमित्त की विधि निमित्त में है। उपादान की विधि उपादान में है। जैसा योग है। वैसा सबको विदित है और सब लोग वह प्रयोग बनाते हैं।

(१८२) **निमित्तनैमित्तिक योग का ज्ञाता होने पर भी ज्ञानी का उसमें अटक का अभाव**—भैया, बात व्यवस्था उस प्रकार हो रही है। लेकिन यह तो बतलावो कि हम आपको संसार की व्यवस्था चाहिये कि मुक्ति की ? बात यह आती है। संसार की व्यवस्था चाहिये तो विधि विधान संसार का है क्या ? कषायभाव करें, कर्म बन्ध हो, उदय काल आये, कषाय परम्परा रहे, होती जायगी संसार व्यवस्था। याने जन्म मरण करना, संसार में रुलना, यह बात पसंद है क्या ? अब जरा मुक्ति की व्यवस्था देखो किस तरह है ? मोक्ष वस्तुत: चीज क्या है ? जो चीज है वही की वही बिना संम्बन्ध के, बिना लाग लपेट के प्रकट हो जाय केवल मात्र वही, इसी के मायने मुक्ति है। याने जो सिद्ध भगवान बनता है वहां कोई दूसरी चीज लाग लपेट की नहीं की जाती। कुछ उसमें जोड़ा नहीं जाता। जो था, अनादि अनन्त जो स्वभाव है वही अब सम्बन्ध रहित होकर विकार रहित होकर अपने स्वभाव के अनुरूप व्यक्त हो गया है इसी को सिद्ध प्रभु कहते हैं। मुक्ति की एक पद्धति है फिर भी अनादि काल से विषय वासना बसी है। इस विषय वासना के संस्कार में रहने वाले प्राणी इस ओर मग्न नहीं हो पाते। बराबर वही वास्नायें सताती हैं उन वासनाओं पर विजय पाने के लिये, हटने के लिये किया व्यवहार धर्म, पांचों प्रकार के पापों का त्याग अणुव्रत महाव्रत संयम ध्यान तपश्चरण इच्छा निरोध, जिनमे उन विषयों का आक्रमण हमें सता न सके। ये व्यसन संस्कार में रहते हुए सताते रहते हैं। तो यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

समझिये कि निश्चय से तो धर्म पालन यह है । कि आत्मा का परिज्ञान करें, श्रद्धान करें और उसी में मग्न होवें ।

(१८३) आक्रमण से बचाव व आक्रमण पर प्रहार की कलायें—आत्म मग्नता के प्रयत्नशील होने वाले के लिये ये विषय वासनायें बाधक बन रही है । तो इसके लिए करें क्या कि जिससे इन विषय वासनाओं से निवृत्त होकर हम अपने स्वभाव में ठहर सकने के पात्र बन सकें ? उसके लिए चाहिये अपना सद्व्यवहार, जिससे ये विषय वासनायें व्यसन आक्रमण न कर सकें । बस उसी को तो कहते हैं सद्व्यवहार । उसी को तो कहते हैं चारित्र । करना है ऐसी प्रवृत्ति कि जिससे हम स्वभाव दृष्टि के पात्र बनें और स्वभाव में मग्न हो सकें । जैसी हालत में हम आप यहां पड़े हुये हैं ऐसी हालत वाले पुरुषों को ठीक उसी तरह जैसे किसी योद्धा को विजय पाने के लिए ढाल और तलवार दोनों की आवश्यकता है इसी प्रकार हम आप इस समय जो वासनाओं में पड़े हुये हैं उनसे निवृत्त होने के लिए यह व्यवहार धर्म तो ढाल का काम करता है और निश्चय धर्म शस्त्र का काम करता है । कोई योद्धा केवल तलवार लेकर युद्धस्थल में नहीं उतरता है । उसे दूसरों के वार को रोकने के लिए ढाल भी साथ में रखनी पड़ती है । कोई केवल तलवार शास्त्र लेकर युद्ध स्थल में उतरे तो उसकी भी खैर नहीं और कोई केवल ढाल ही लेकर युद्ध स्थल में उतरे तो उसकी भी खैर नहीं । जब ढाल और तलवार दोनों को लेकर युद्ध स्थल में उतरता है, तो उसकी खैर है अब इस दृष्टान्त के आधार पर अपनी बात देखिये ।

(१८४) व्यवहार धर्म द्वारा अशुभोपयोग से बचाव और निश्चय धर्म द्वारा विकार पर प्रहार—हम आपकी खैर किस तरह है कि ये व्यसन, ये पाप वासनायें, ये खोटे संस्कार आक्रमण करते ही रहते हैं । देखो भले ही कोई धनी आदि दुनिया में दूसरों को सुखी बताने के लिए अनेक कारणों से भीतर बाहर दुःखी होकर भी मुस्कराता है, लोग न जान पायें कि यह दुःखी हैं, लोग जाने कि यह करोड़पति है बड़े सुख में हैं, बड़े शान्त हैं । इसलिए वह बाहर से मुस्कराता हुआ दीखता है, यद्यपि कष्ट उसे बहुत हैं, कहीं कुछ टोटा पड़ गया, कहीं कोई मित्रजन अथवा परिजन विरुद्ध हो गए, यों अनेक तरह की ऐसी बातें हैं जिनसे उसे कष्ट मिलता रहता है । अभी थोड़े धन वालों को ही देख लो वे भी कितने ही प्रकार के विकल्प करके कषायें करके दुःखी रहा करते हैं, फिर अधिक धन वालों की तो बात ही क्या कही जाय, वे तो और भी अधिक परेशान रहा करते हैं । वे अन्तः परेशान रहा करते हैं फिर भी दुनिया को यह दिखाने के लिए कि यह दुःखी नहीं हैं, वे बहार से मुस्कराते रहते हैं । बाहर से मुस्कराते हुए भी वे भीतर में बसी हुई शल्य का दुःख भोगा करते हैं । यह एक दृष्टान्त दे रहे हैं, कहीं ऐसा नियम नहीं बना रहे । आप यह कह सकते हैं कि साहब यह बात तो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि धनिक पुरुष पर तो नहीं घटित होती । पर भाई प्रायः ऐसा ही होता है इस लिये कह रहे हैं । यहाँ भी देखिये— जो पुरुष विषयों से आक्रान्त रहते है, जिनमें विषयवासनायें पड़ी रहती हैं, जो बाहरी बाहरी ही विकल्प जालों में पड़े रहते हैं, याने अपने स्वरुप से चिगे रहते हैं, ऐसे पुरुष बाहर से मुस्कराते भी हों तो उससे क्या लाभ ? उनके बाहरी मुस्कान से उनका भीतरी संकट तो न मिट जायगा । उन भीतरी संकटों से दूर होने के लिये तात्कालिक इलाज क्या है ? उसे बताया है व्रत तप संयम आदिक । इनसे अपना उपयोग हटाकर आत्म स्वभाव की ओर अपना उपयोग लगावें, उस स्वभाव की ही चर्चा करें उस स्वभाव की ही ओर दृष्टि करें । यह व्यवहर धर्म हमारे लिए ढाल जैसा काम करता है । इस व्यवहार धर्म के द्वारा इन विषयों के आक्रमण को रोक दें । लेकिन इतने मात्र से ही काम तो नहीं चलने का इतने मात्र से कहीं मुक्ति तो न मिल जायेगी । अरे मुक्ति तो कहते हैं केवल होने को । और, केवल होने के लिये अन्तः क्या करना चाहिये ? उस केवल की श्रद्धा करनी चाहिये । मैं चैतन्य प्रकाश मात्र हूं, उसका परिचय करें, उसी को ज्ञान में लें, यह भीतर का निश्चय धर्म यह शस्त्र का

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

काम करता है कर्म पर विजय पाने के लिए। भाई भीतर ही भीतर अपना कल्याण किये जावो, चैतन्य स्वभाव को दृष्टि में लिए जावो, लक्ष्य में रखो जितना बन सके। यह तो भीतर का एक पौरुष है। यह चाहिये। तब जो अनेक कामों में व्यग्र हो रहे हो कि दुकान पर भी खूब विकल्प कमाते और जैसा जो कुछ करते हैं वह सब आप जानते ही हैं, कैसे अनेक प्रकार के आप विकल्प मचाते हैं, उन विकल्पों का जो संस्कार बनता है उसका अपहरण करने के लिए हमें जिनेन्द्र देव के द्वारा कही हुई विधि के अनुसार हम कुछ अपना व्यवहार धर्म पालें, उससे हमको वह पात्रता रहेगी कि हम स्वभाव दृष्टि का लाभ ले सकेंगे।

(१८५) आत्म स्वभाव दृष्टि के पौरुष में—मूल बात क्या कह रहे थे कि संसार—व्यवस्था कैसी है, यह निमित्त नैमित्तिक भाव की व्यवस्था है, और मोक्ष व्यवस्था जितनी है वह अपने आपकी व्यवस्था है। केवल होने की व्यवस्था अपने को केवल निरखने में है। केवल हो जाना, उसमें समाये जाने की व्यवस्था है। फिर भी जो अनेक सांसारिक बातें बहुत तेज लगी हुई हैं, ऐसी स्थिति में हम व्यवहार प्रवृत्ति द्वारा उनकी एक उपेक्षा करते हैं, उनको हटाते हैं ताकि हम जरा योग्य रहें इस बात के कि हम सब आत्म स्वभाव के दर्शन के पात्र बनें। अब व्यवस्था की बात समझिये—निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था कहां होती है? निमित्त और उपादान में। उपादान तो उसे कहते हैं कि जो परिणमता है, जिसकी परिणति होती है, जिसमें प्रर्याय प्रकट होती है, जिसकी पर्याय कहलाती है वह उपादान कहलाता है। निमित्त वह कहलाता है कि जिस अन्य पदार्थ के साथ उपादान के इस कार्य का अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध हो। अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध हो और साथ ही अत्यन्ताभाव हो। देखिये कितनी विलक्षणता है। अत्यन्ताभाव है फिर भी अन्वय व्यतिरेक है। दोनों बातें एक साथ हैं। वह केवल है, वह चेतन है फिर भी अन्वय व्यतिरेक है। कर्मोदय हुए बिना रागादिक नहीं होते। जब रागादिक होंगे तो कर्मोदय के सन्निधान में होंगे ही, अन्य प्रकार न होंगे। यह सम्बन्ध आप देख लो—अनादि से अब तक चला आया है। इतने पर भी अत्यन्ताभाव है और इसी कारण उन दोनों में परस्पर कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है।

(१८६) विकार के पृथक्करण की संभवता—जरा विचार करें कि हमारे वे रागादिक दूर हो सकते कि नहीं? दूर हो सकते हैं? क्यों दूर हो सकते? यों दूर हो सकते कि ये रागादिक भाव मेरे सत्त्व की, गांठ की, स्वभाव की चीज नहीं है ये परभाव हैं। निमित्त सन्निधान में हुए हैं इसलिये हटाये जा सकते हैं। तो भाई निमित्त नैमित्तिक भाव का बोध सही हो। इतनी अपने आपमें प्रेरणा देना है कि हम विकार भावों से हटें, इन परभावों से हटें, इनमें हित नहीं है। हित तो हमारा स्वभाव दर्शन से है। अनेक दृष्टान्त ऐसे मिलेंगे कि जिन में यह बात घटित होगी कि निमित्त वह कहलाता है कि जिसमें अत्यन्ताभाव हो। उपादान का और उस मेल का इनमें अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है। हो रहा है ऐसा, इतना होने पर भी इसके रुचिया नहीं बनना है। यह तो जानना है। किस लिए? छूटने के लिये। मैं इनसे छूटूं इसके लिए जानना है। मैं नैमित्तिक भावों से छूटूं इसके लिए जानना है। जब कभी आप दर्पण के सामने कोई रंगीन कपड़ा कर देते हैं तो उस दर्पण में वह कपड़ा उस रंग के रूप में प्रतिबिम्बित हो जाता है, उस समय उस दर्पण में स्वच्छता नहीं दिखती। तो भाई उस दर्पण पर आये हुए उस प्रतिबिम्ब को हटाना होगा ना। उसको हटाने के लिये क्या करना है? वह प्रतिबिम्ब उस रंगीन कपड़े का है। जानते हैं, उस रंगीन कपड़े के सन्निधान से वह प्रतिबिम्ब आया हुआ है, उस कपड़े को हटा दिया जाय तो वह प्रतिबिम्ब भी हट जायगा और वह दर्पण ज्यों का त्यों स्वच्छ प्रकट हो जायगा। तो निमित्त नैमित्तिक का ज्ञान किस लिये किया? नैमित्तिक भाव को, विकार को हटाने के लिए। परिचय किस लिये होता है, ज्ञान किस लिये होता है? ज्ञान होता है परसे हटकर अपने आपमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लगने के लिए। जिस ज्ञान का यह प्रयोजन नहीं है वह ज्ञान कुज्ञान है। और जिस ज्ञान का यह प्रयोजन है कि मैं अहित से हटूं और निज में आऊं वह ज्ञान समीचीन है। अहित है विभाव और हित है स्वभाव। अहित से हटने के लिये सब ज्ञान करने पड़ रहे हैं। ज्ञान करें, जैसे कोई लड़का बहुत तेज खिलाड़ी है तो वह उस खेल को बड़े ही कलात्मक ढंग से एक लीलामात्र में खेलता रहता है। वह इतना अभ्यस्त हो चुका है कि उसे उस खेल में रंच भी कठिनाई नहीं मालूम होती। इसी तरह जिसको अपने आत्म स्वभाव की ही दृष्टि बनी है, जिसको अपने उस हित स्वरूप की ही धुन हुई है—मुझे तो इस स्वभाव में ही रमना है। वही हितरूप है। ऐसी जिसको एक धुन लग गई हो वह तो सभी कथनों से, सभी नयों से सभी साधनों से वह ही पंथ अपनायेगा जिससे वह अपने स्वभाव की ओर आये।

(१८७) युगपत् होने पर भी निमित्त नैमित्तिकपने का प्रतिनियत प्रकाश—निमित्त उपादान की बात संक्षेप में यह समझें कि जिसमें कार्य हो वह उपादान और वह कार्य जिसके सन्निधान में ही हो वह निमित्त। अब इस सम्बन्ध में भी बात यह मालूम पड़ रही है कि उसी समय निमित्त है, उसी समय उपादान अथवा वह नैमित्तिक कार्य है। जिस काल में राग प्रकृति का उदय हैं उस ही काल में राग है, ऐसा है ना। ऐसा होने पर भी कहीं यह न कहा जा सकेगा कि रागभाव निमित्त है और कर्म का उदय नैमित्तिक है। आगम में कहा, आपका अनुभव कहेगा, कि निमित्त तो कर्म का उदय ही कहलाता है। विकार नहीं कहलाता है कर्म के उदय में निमित्त। किन्तु विकार होने में कर्म का उदय निमित्त कहलाता है। जैसे कि ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा हुआ है? तो एक साथ होने पर भी राग विकार हुआ। कर्मोदय हुआ दोनों एक समय में हुए, इतने पर भी निमित्त तो है कर्म का उदय और नैमित्तिक है वह राग भाव। अगर हम ऐसा कहने लगें कि निमित्त तो है वह रागभाव और नैमित्तिक है वह कर्म का उदय तो इसका निवारण करने के लिए आप क्या युक्ति देंगे? युक्ति देनी होगी। जिसको निमित्त करके नैमित्तिक भाव हुआ है वह निमित्त। विकार को निमित्त करके उदय नहीं होता, किन्तु विकार का निमित्त करके कर्मबन्ध होता, तो कर्मबन्धन में निमित्त हुए विकार न कि कर्मोदय में निमित्त हुए विकार ऐसी बात स्पष्ट झलकाने के लिये यह आर्ष उपदेश है कि जब कर्मोदय होता है तब उसके सन्निधान में रागविकार होता है। ऐसा होने से कहीं परतन्त्रता नहीं आयी कि कर्म ने अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उपादान में डाल दिया। किन्तु ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग है कि जिस काल में कर्मोदय है उस काल में जीव में राग विकार हो रहा है।

(१८८) ज्ञप्ति, उत्पत्ति के साध्य साधन—उक्त प्रकार से आपको बतलाया निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध का प्रकाश लेकिन आप बोल कब पायेंगे कि यह निमित्त है। अब एक दूसरी बात देखिये—आप कब कह सकते हैं कि यह निमित्त है? जब आपने नैमित्तिक कार्य को जान लिया। तो यह ज्ञप्ति दिशा का साध्य साधन है जो कि अनुमान प्रमाण का अङ्ग है। पर उत्पत्ति के कथन में तो यही निश्चित है कि निमित्त होने पर ही नैमित्तिक होता है। सो जानना अनुमान प्रमाण की बात है और होना निमित्त नैमित्तिक योग की बात है। किसी घर में अग्नि जल रही है यह हम बाहर बैठे हुए कब बता पाते हैं? जब हमने धूम को देखा तब हम बताते हैं कि इसका निमित्त अग्नि यहां है। अब ध्यान में आया ना? बताने के प्रसंग में तो हम नैमित्तिक को ज्ञप्ति के साधनरूप में पहिले लेंगे तब बता पायेंगे कि यह निमित्त है, मगर होने के प्रसंग में, विधि विधान के प्रसंग में यह बात नहीं है कि जब विकार होता है तब उदय हाजिर होता है। देखिये होने की बात अलग है और बताने की बात अलग है। दार्शनिक लोग जानते हैं कि प्रमाण में जो प्रमाण्य है उसकी उत्पत्ति कब स्वतः होती है कब परतः। तो निमित्त नैमित्तिक विधान के बारे में उत्पत्ति की बात अलग है और ज्ञप्ति की बात

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अलग है। नैमित्तिक को देखकर ही हम परोक्षभूत निमित्त की बात बता सकते हैं, उत्पत्ति की बात यह है कि जैसे हम इस तख्त का निमित्त पाकर इस पर अपनी शक्ति से बैठ गए। तो यहां यह शब्दावली काम नहीं देती कि जब हमें बैठना है तब यह तखत हाजिर हो गया। यह तखत पहिले से है, इसको निमित्त करके हम अपने आपमें अपनी क्रिया करके बैठ गये। तो देखिये उत्पत्ति और ज्ञप्ति विषयक बात दार्शनिक शास्त्र की कुञ्जी लेने से उतर जाती है। उत्पत्ति की बात अलग है और ज्ञप्ति अलग है।

(१८९) **निमित्त और आश्रयभूत कारण का अन्तर**—अब दूसरी बात यह समझें कि विकार में केवल कर्म विपाक निमित्त होगा, अन्यइन्द्रिय विषयभूत या मनोविषयभूत पदार्थ निमित्त नहीं कहलाता। जैसे कि हम बोल जाते हैं कि सम्यक्त्व का निमित्त समवशरण है, सम्यक्त्व का निमित्त उपदेश है, सम्यक्त्व का निमित्त जिन बिम्बदर्शन है, ऐसा आगम में तो कहा है मगर उसका सही अर्थ तो समझ लो। ये कोई चीजें सम्यग्दर्शन के निमित्त नहीं हैं। सम्यग्दर्शन का निमित्त है मात्र सम्यक्त्व घातक सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम। अन्य चीज कोई निमित्त नहीं। जब और कोई चीज निमित्त नहीं है तब यह संदेह न करें कि फलाना निमित्त मिलाया पर सम्यग्दर्शन न मिला। अरे वह निमित्त था ही नहीं। समवशरण जिन बिम्बदर्शनादि सम्यक्त्व से पूर्व संभव होने वाले शुभोपयोग के आश्रायभूत हैं। शुभोपयोग पूर्वक ही सम्यक्त्व होता है, अशुभोपयोगपूर्वक नहीं। इस भाव से उन्हें सम्यक्त्व का निमित्त कहा जाता है एक दृष्टान्त और लें—जैसे एक वेश्या गुजर गयी, उसे जलाने के लिए लोग लिए जा रहे थे। उसे लिए जाते हुए में रास्ते में एक मुनि महाराज ने देखा तो देखते ही उनके मन में ऐसा वैराग्यमयी विचार आया कि देखो कैसा दुर्लभ मानव जीवन पाकर इसने विषयों में गंवा दिया। उसी मृतक शरीर को किसी कामी पुरुष ने देखा तो उसे देखकर उसके मन में ऐसा भाव आया कि देखो यह तो मेरे से भली भांति परिचित थी। यदि थोड़े दिन वह और जीवित रहती तो मैं और भी उसका सुख भोगता। उसी मृतक शरीर को किसी गीदड़ तथा कुत्ते ने देखा तो उनके मन में यह भाव आया कि ये लोग इसे व्यर्थ ही जला रहे, यदि इसे यों ही छोड़ देते तो कुछ दिनों का हमारा भोजन बनता। अब बतलावो कि वह मिला हुआ वेश्या शरीर उन तीनों के भावों का निमित्त है क्या? अरे निमित्त नहीं है। अगर निमित्त होता तो उन तीनों में एकसा भाव उत्पन्न होता। पर यह है आश्रय भूत। देखो मुनि के हैं कषाय का क्षयोपशम, सो इस निमित्त के अनुसार वैराग्य हुआ उसका आश्रयभूत बना वेश्यादेह। कामी के है मोह वेद का उदय सो उस निमित्त के अनुसार कामीके बना कामभाव, उसका आश्रयभूत है वेश्यादेह। ये बाह्य पदार्थ आश्रयभूत है। आश्रयभूत के साथ नैमित्तिक भाव का अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं होता। जब राग प्रकृति का उदय आया तब वह राग बना, और उस व्यक्त राग के बनने की विधि यही है कि कोई न कोई परपदार्थ आश्रय में ले। किसी परपदार्थ को विषय न करें, उपयोग में ग्रहण न करें और व्यक्त राग हो जाय, ऐसा नहीं हो सकता। व्यक्त रागमुद्रा बनने की विधि ही यह है कि जिसके रागमुद्रा बनेगी उसके उपयोग में कोई परवस्तु विषय रहेंगे, ऐसे परवस्तु आश्रय भूत हैं, पर निमित्त नहीं हैं, क्योंकि अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है कि वह वेश्या शरीर मिले तो काम भाव हो ही यह तो नहीं होता। बात यह हुई कि मुनि के था उन कषायों का क्षयोपशम व मन्दभाव, मंद कषाय। तो उस वेश्या शरीर को देखकर उपयोग में आश्रय तो हुआ, मगर भाव किस तरह का हुआ? उस मंदकषाय रूप। कामी पुरुष के था काम प्रकृति का उदय सो वेश्या को देखकर उसके मन में काम सम्बन्धी भावना बनी। उन कुत्ता गीदड़ वगैरह के उस ढंग का उदय था असातावेदनीय की उदीरणा थी इस लिए उनके वैसे भाव बने। तो ये बाह्य पदार्थ आश्रयभूत कहलाते हैं। इनके साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(१६०) चरणानुयोग में आश्रयभूत का परिहार कराकर अन्तः शुद्धिका विधान—चरणानुयोग में यह बात बताया है कि देखो कुछ पुरुषार्थ करके जो जो पदार्थ आश्रयभूत हुआ करते हैं कषायों के उन पदार्थों का त्याग करें तो हमें ऐसा प्रकाश मिलेगा कि जब आश्रयभूत पदार्थ बाहर नही है तो उस समय परिणाम में विशुद्धि का अवसर है, उस समय स्वभावदृष्टि करने का अधिक पौरुष भी कर सकते हैं और आप लोगों ने अनुभव भी किया होगा कि जिसके विषय में आपका क्रोध भाव बनता है वह बैरी आपके उपयोग में आपके समक्ष बहुत दिनों तक नहीं आता तो आप बहुत कुछ अच्छे रहते हैं । संभले हुए रहते हैं और उसमें अच्छा भाव भी बना सकते हैं। और बैरी जब सामने दिख जाता है ता आपका क्रोध उमड़ पड़ता है। तो देखिये आश्रयभूत हुआ ना वह बैरी पुरुष ! तो इस आश्रयभूत का परित्याग करें। समय सार में जैसे बताया है ना "कि बत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं। तु होइ जीवाणं । न हि वाह्यवस्त्वना श्रित्याध्यवसानमात्मान लभते।" बाह्य वस्तु का आश्रय किये बिना अध्यवसान अपना स्वरूप नहीं बना सकता। बाह्य वस्तुओं के त्याग की मुख्यता चरणानुयोग में दी गई है और देखिये ना, जब आपको कोई काम करनाहो तो उसे खूब पौरुष के साथ कीजिए। आप एक बार जगत के समस्त पदार्थों को असार जानकर उन्हें त्यागने का पौरुष कीजिये। यह काम गुप्त ही गुप्त करने का है। कोई मुझे जाने तो क्या न जाने तो क्या ? यहां तो एक ऐसी चीज बना लें कि जिससे आप संसार की भटकना से छुटकारा पा सकें।

(१६१) नयों से तत्त्व जानकर आत्महित के लिये पौरुष का संयत विधान—देखों तथ्य परिचय की यह बड़ी सकरी गली है, बड़ी सावधानी से यह रास्ता पार करना होता है। जैसे बहुत ऊंची नीची सकरी गली हो तो उस पर चलने वाला बड़ी सावधानी से चलता है। जरा भी फर्क हुआ चलने में तो वह गिर जायेगा। ऐसे ही हमारी सम्यग्ज्ञान की गली हमारी आज की गली ऐसी सकरी है कि हमें इसमें बड़े संयम से, बड़ी सावधानी से परिचय करने की बात होती है। एक दृष्टि से कोई भी बात समझें, भावुक बनकर नही यदि अन्य दृष्टि का प्रयोग किया तो वह सकरी दृष्टि कर देगा। देखिये जो हितरूप दृष्टि है वह मुख्य होती है। यह जो निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध की बात है यह चिरकाल तक हृदय में धारण करने के लिए नहीं कहीं जा रही है, मगर एक सच्चाई जान लो। तब आप बिना गुरु के अपने आप स्वरूप दृष्टि में खूब लगो। आखिर दृष्टि ही तो होना है। पर अज्ञान दशा है तो हम किसी भी एक दृष्टि को बनावें उसमें सफलता न मिलेगी। अज्ञान हटाकर जो हमारी स्वभाव दृष्टि है, शुद्ध दृष्टि है, उसे सब प्रयत्न करके करें। तो देखो—श्रुत ज्ञान के ये अंश हैं—परमशुद्ध निश्चय नय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय। इन चारों नयो से अपना लाभ उठावो। इनका उपयोग कीजिये, सदुपयोग कीजिये, ये जो कुछ बताते हैं वे सच बताते हैं। सच होने पर भी कैसे सच का हमें आश्रय लेना है और किसका नहीं लेना है। व्यवहारनय ने बताया पुद्गलकर्म जीव के रागादि भावों का निमित्त करके कर्मरूप परिणमता है, कर्म भाव के उदय का निमित्त पाकर विकारी जीव विकार रूप परिणमता है। व्यवहारनय ने बताया यह बात सच हैं। सच होने पर भी हम इस सत्य के आश्रय से अपने आपमें क्या पायेंगे ? वह तो जानने के लिये है व उपेक्षा के लिये है। कोई सत्य जानने के लिए होता है, कोई सत्य आश्रय करने के लिए होता है। अब शुद्धनय से, भूतार्थनय से हमने जाना वह हमारा आश्रेय है, फिर भी हम जिस परिस्थिति में है उसमें हम छलांग मारकर शुद्धोपयोग में नहीं पहुंच सकते। कुछ अपने व्यवहार में, अपनी प्रवृत्तियों में सुधार करें। देखिये—विकल्पों में और विवादों में तो लगा देते हैं हम कई कई घंटों का समय। यह तो लोगो को मंजूर है मगर जो हितकारी ये देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान आदिक आवश्यक कर्म, हैं, जिन्हें जिनेन्द्र देव ने बताया है सब जगह भली प्रकार से बता दिया है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उसमें अगर आधा घंटे का भी समय लगे तो उसकी तो आलोचना करते कि हम विकल्प में रहे और जो हम लड़ाई व्यापार रोजिगार में रहे, धर्म चर्चा के नाम पर कषायों में, विरोध में रहे, इसके सम्बन्ध की कुछ चर्चा अपने आपमें नहीं करते कि हमने इनमें पड़कर तो अपना समय बेकार ही खोया। इससे तो अच्छा था कि हम पूजा स्वाध्याय, जाप आदि में रहते तो उसमें भला था। यह आत्महित की दृष्टि से बात कही जा रही है। भाई व्यवहार धर्म का पालन करके निश्चय धर्म की आस्था रखते हुए दृष्टि सहज स्वरूप की ओर रखें।

(१६२) स्वभावभिमुख होकर स्वभाव के निकट पहुंचना—कोई व्यापारी सिमरिया नामक ग्राम के रहने वाले थे। एक बार वे सामर नामक ग्राम में नमक खरीदने गए। वह सामर ग्राम वहां से कोई १००० मील दूर पड़ता था। जब वे नमक खरीदकर अपने ग्राम की ओर चले तो कुछ दूर चलकर उनमें से एक व्यापारी दूसरे व्यापारी से पूछता है कि भैया सिमरिया गांव अब कितनी दूर है? तो उसने कहा—"सामर दूर सिमरिया नेरे,,"…अरे ऐसा कैसे? आप तो कहते कि सामर गांव दूर है और सिमरिया गांव नजदीक है। अरे अभी तो अपन लोग सिर्फ ४ मील ही आये हैं, अभी तो ९९६ मील और चलना है। अभी से आप कैसे कहते कि सामर दूर सिमरिया नेरे। तो वह बोला—भाई जिस तरफ से पीठ फेरा वह दूर हो गया और जिधर को मुख किया वह नजदीक हो गया तो भाई स्वभाव दृष्टि के रुचिया बनो, उसे नजदीक करो, वह एक भली बात है। अगर समता धीरता से जिनेन्द्र देव की सब आज्ञाओं का पालन करते हुए व्यवहार धर्म में भी कोई त्रुटि न करते हुए, निश्चय धर्म का उपदेश रखते हुए स्व की ओर अभिमुख होवें तो यह बहुत भली बात होगी। अपने आप अपने को समझना उस अपने को अपने आप में ही आरूढ़ होना है सब जिम्मेदारी हमारी हम पर है, दूसरे पर नहीं। इसलिए अपना भरोसा बनाकर अपने आपके ज्ञान से ही समर्थन लेकर ज्ञानस्वभाव के अभिमुख होवें।

(१६३) आत्महितार्थी को सर्वप्रथम स्याद्वाद से तत्त्वपरिचय की आवश्यकता—ज्ञानस्वभाव के अभिमुख होने के लिए जरूरत है सम्यग्ज्ञान की। ज्ञान के साधन हैं वचन उपदेश। वचन ऐसे होने चाहिये कि जो निजस्वरूप को समझाने में प्रवीण हों। ऐसे वचन दो प्रकार के हैं। एक अभेद वचन और दूसरे—भेद वचन। अभेद वचन वस्तु के असली सही स्वरूप का संकेत करते हैं, लेकिन ऐसे वचन और ऐसे स्वरूप को समझने के लिए सबसे पहिले तो हमें भिन्न-भिन्न रूप से वस्तु का ज्ञान चाहिए याने भेद वचनों द्वारा वस्तु का परिपूर्ण ज्ञान चाहिए। इसकी पूर्ति होती है स्याद्वाद से। किसी भी वस्तु का पूरा परिचय उस वस्तु में रहने वाली सारी शक्तियों का, सारी विशेषातओं का परिचय हो तब होता है। जैसे यहां किसी मनुष्य का पूरा परिचय दिया जाय, सभी दृष्टियों से उसकी सारी विशेषताओं को बताया जाय तो उसका परिचय होता है। जैसे यह अमुक काम का व्यापारी है। यह अमुक जगह का रहने वाला है। इसका यह पिता है, इसका यह मामा है, इसका यह भान्जा लगता है, इसका यह पुत्र है आदिक अनेक बातें कही जायें तो उस पुरुष का परिचय पूरा होता है। तो जरा इसी परिचय में देखिये—जैसे किसी आदमी का परिचय दिया जा रहा है कि यह पुत्र है, पिता भी है, यह मामा भी है, भान्जा भी है, समझा दिया, ऐसा समझाते समय दृष्टि समझ में आ रही है कि यह अमुक का पिता है, अमुक का भान्जा है, अमुक का पुत्र है। जैसे दृष्टान्त ले लो। मानो किसी सोहन नाम के आदमी का परिचय देना है। सोहन के पिता का नाम है मोहन और सोहन के पुत्र का नाम है श्याम। तो यह कहा जायगा ना कि यह सोहन मोहन का पुत्र है, श्याम का पिता है। तो अपेक्षायें इसमें दो हो गयीं। यदि केवल यही कहा जाय कि यह तो पिता है तो जैसे श्याम का पिता है वैसे ही मोहन का भी पिता बन जाय तो असत्य बात आ गई ना? यह पुत्र ही है, ऐसा एकान्त किया जाय तो जैसे वह मोहन का पुत्र है ऐसे ही वह श्याम का भी पुत्र हो जायगा। तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

उसको बताया जाता है कि यह मोहन का पुत्र है और श्याम का पिता है। अब दूसरी बात और देखिये—अगर "भी" लगा दिया जाय कि यह मोहन का पुत्र भी है तो इसका अर्थ गड़बड़ हो जायगा ना ? इसके मायने यह हो जायगा कि यह मोहन का पिता भी है। लो गलत हो गया। तो अपेक्षा लगाकर फिर "भी" नहीं लगाया जाता है, किन्तु ही लगाया जाता है। मोहन का यह पुत्र ही है। श्याम का यह पिता ही है। तो अपेक्षा लगाना और ही लगाना ये दो बातें आवश्यक हो जाती हैं किसी भी वस्तु का परिचय कराने के लिए।

(१९४) स्याद्वाद में संशय के अवसर का अभाव—बहुत से लोग कहते हैं कि स्याद्वाद तो संशयवाद हैं। वे बतलाते हैं कि जीव नित्य भी है अनित्य भी है। तो संशय हो गया। कभी कहते हैं कि नित्य है, कभी कहते हैं कि अनित्य है पर उन्होंने समझा नहीं। बात यह है कि अपेक्षा बतायें और 'भी' की जगह 'ही' लगाये तो यह एकदम मुद्रा से प्रकट हो जायगा कि स्याद्वाद तो सच्चा निर्णय देने वाला एक प्रबल उपाय है, जब कहा जायगा कि द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य ही है तो देखिये कितने ठोस निर्णय वाला होता है, याने यह जीव सदा रहता है, इसके द्रव्य को जब देखते हैं तो स्वभाव दृष्टि से सब जीव नित्य ही हैं और जब पर्याय को देखते हैं तो पर्यायदृष्टि से जीव अनित्य ही है। वहां निर्णय लेते हैं तब हम पर्यायों को देखकर विचार करते हैं। पर्याय कहते हैं अवस्था को, दशा को, जो कि मिटती रहती है। जैसे आज मनुष्य हैं, कुछ दिन बाद यह देह मिट जायगा, बाद में पता नहीं देव हो या तिर्यंच हो। तो ये दशायें मिटती रहती हैं। तो पर्यायों की अपेक्षा से जीव अनित्य ही है। देखिये स्याद्वाद ने निर्णय करा दिया संशय नहीं। जो लोग उसका पूरा विचार नहीं करते वे ही तो इसको संशय जैसा रूपक दे सकते हैं। तो स्याद्वाद एक निर्णायक उपाय है। इससे वस्तु का निर्णय बनाइये। यह एक ऐसी यात्रा है ज्ञान की कि जैसे किसी ऊंची पहाड़ी पर नीचे जाने वाली रेलगाड़ी को देखिये जब वह रेलगाड़ी चलती है तो उसके आगे पीछे दोनो ओर इंजन लगे रहते हैं। आगे का इंजन तो कुछ बेग करके रोकने वाला होता है और पीछे का इंजन कुछ-कुछ उसको चलाने के लिए है तो जैसे नीचे जाने वाली ट्रेन के लिए २ इंजन आवश्यक होते हैं इसी तरह इस वस्तुस्वरूप की ज्ञान यात्रा करने के लिए अपेक्षा और एव ये दो इंजन लगे हुए हैं। जिसे कहते हैं—स्यात् नित्य एव स्यात् अनित्य एव। जैसे द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य ही है। तो जीव नित्य है यह तो किया जाना है सिद्धा और उसकी सिद्धि के लिए अपेक्षा लगी है स्यात् और द्रव्य-दृष्टि से आगे लगा है शब्द 'एव' तो सच्चा निर्णय बताना स्याद्वाद का काम है।

(१९५) स्याद्वाद से निष्पक्ष निर्णय, दार्शनिकों की तृप्ति व विवाद की समाप्ति—एक प्रश्न एक प्रोफेसर साहब ने रात को रखा था किसी दूसरे महाशय के प्रति कि यह तो बतलाओ कि जैनसिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता क्या है ? जो अन्यत्र नहीं पायी जा सके। कोई कहे अहिंसा तो अहिंसा का वर्णन तो अन्य दार्शनिक भी करते हैं। किसी का दिल न दुखावो। अपने परिणाम मलिन मत बनावो। तपश्चरण का भी दूसरे दार्शनिक आदर करते हैं। ऐसी कौन सी चीज है जो जैनसिद्धान्त का एक विलक्षण प्रयोग हो ? तो पहिली बात इसी स्याद्वाद् को देखिये—कितनी अद्‌भुत इसमें कला है। भारत में आजकल जैसे बड़े विवाद उत्पन्न हो रहे हैं एक दर्शन धर्म सम्प्रदाय के नाम पर कितने विवाद व कलह होते हैं। उन सब विवादों को मेट सकने में समर्थ है तो एक स्याद्वाद है। सबकी बुद्धि का आदर करें और उन्हें बतलावें कि तुम्हारी यह बात इस अपेक्षा से सत्य है। किसी भी बात को असत्य साबित करने के लिए कमर कस लेना यह एक झगड़े का मूल बन जाता है और उसकी ही बात को अपेक्षा लगाकर सत्य जाहिर करने की बात करना यह बड़ी मित्रता का काम करता है। तो स्याद्वाद सब दार्शनिकों के कथन का समन्वय बनाता है जैसे आज जरूरत है देश में कि ऐसा समन्वय रहे कि कोई लोग परस्पर में लडे नहीं तो कलह को दूर करने में समर्थ एक यह स्याद्वाद है। दार्शनिकता के नाते निज

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दार्शनिकों ने जो बात कही है वह बात सर्वथा याने एकान्तदृष्टि से तो असत्य है, पर उसकी अपेक्षा खोजो किस दृष्टि को लेकर उन्होंनें कहा है। तो आज बड़े कठिन से कठिन जंचने वाले तत्त्वों का भी निर्णय स्याद्वाद अपेक्षावाद से करता है।

(१९६) दृष्टियों से तथ्य खोजने पर विवादसमापन का एक उदाहरण—जैसे एक बात रखी जिसके विषय में स्पष्ट विवाद है। कोई लोग कहते हैं कि इस जगत को ईश्वर ने बनाया है, वैज्ञानिक लोग यह बात नहीं मानते हैं और अनेक दार्शनिक भी नहीं मानते हैं। पदार्थ हैं, सत् हैं, अपने स्वरूप से परिणमते रहते हैं। ऐसा समस्त पदार्थों का जो समूह है उसका नाम जगत है। यदि ईश्वर बनाता है किसी पदार्थ को तो यह बतलावो कि वह सत् पदार्थ को बनाता है या असत् पदार्थ को ? याने जो पदार्थ पहिले से है उसको ही बनाता है या जो बिल्कुल नहीं है उसे बनाता है ? यदि कहा जाय कि सत् पदार्थ को बनाता है, जो है उसको बनाता है तो है को बनाने का मतलब क्या ? वह तो है ही। यदि कहा जाय कि असत् को बनाता है तो जो नहीं है उसे बनाता है यह बात तो बिल्कुल असम्भव है। जिसका अस्तित्व ही नहीं है उसका किसी भी प्रकार से सत्त्व नहीं हो पाता। जैसे ईश्वरवादी जो ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानते हैं उन्होंने भी यह कहा कि 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत: याने जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं होता और जो असत् है उसका कभी सद्भाव नहीं होता। अब जरा समन्वय की दृष्टि से विचार करें तो कहा तो है उन्होंने ईश्वर को जगत का कर्ता। अब दृष्टि परखिये। उनकी बात सही मिल जायगी। देखिये जितने भी जगत के प्राणी हैं उनका वास्तविक सहज स्वरूप क्या है ? उनका सहज स्वरूप है विशुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव। तब इस ज्ञानानन्द स्वरूप को स्वभाव को देखते हैं तो विदित होता है कि सभी जीव स्वभाव में ईश्वर हैं। सभी ऐश्वर्य के अधिकारी हैं। तो ये सब जीव ईश्वर कहलाये। पर्याय में भले ही गड़बड़ी है मगर स्वभाव से सबमें प्रभु का रूप है। देखो इसको भी प्रकट रूप से लोग कहते हैं कि घट-घट में ईश्वर है, सबमें प्रभु विराजमान हैं। और वह प्रभु एक है, घट घट में प्रभु विराजमान है। इसका अर्थ है कि प्रत्येक जीव में प्रभु का स्वरूप है, और वह प्रभु एक है। एक का अर्थ है समान। समान भी एक कहा जाता। जैसे किसी जगह गेहूं के दाने रखे हों ढेर के रूप में और वे बराबर समान गेहूं हैं तो लोग कहते हैं कि देखो ये सब गेहूं एक हैं। तो समान को भी एक कहते। जब समानता से देखा तो सब जीवों का स्वरूप तो एक समान आया और उस के समान स्वरूप को जब देखा और केवल स्वरूप ही दीखा तो वहां समान की भी बात छूट गयी। वहां तो एक तत्त्व दीखा। तो इस तरह से एक ईश्वर कहलाया और सबमें ये ईश्वर बसे कहलाये, और ये सब पदार्थ चूंकि सत् हैं तो वे अपना उत्पाद व्यय करते हैं। तो देखो—सत् है यह ईश्वर है, इसके जो उत्पाद व्यय की पद्धति है वही सृष्टि कहलायी। तथा इसके सान्निध्य में देह व कर्म का परिणमन हुआ यह सब सृष्टि चली, और यह सब सृष्टि देखो निर्बाध चल रही है। अगर कोई एक ईश्वर इस जगत की सृष्टि करने वाला होता तब तो इन सब अनन्तानन्त जीवों की सृष्टि करने में उसे अनेक बार बाधायें होतीं। कहो किसी जीव को वह भूल जाय, वह जीव बिना परिणमे ही कहो रह जाय यों व्यवस्था बनाने में उसे तकलीफ होती। जब समस्त जीव ईश्वर स्वरूप हैं, और सब जीव सत्त्व के कारण अपना उत्पाद व्यय करते हैं तो इन सब ईश्वरों के द्वारा जगत की सृष्टि करने में कभी बाधा न आयगी, न भूल करेंगे। तो देखो अपेक्षा लगाकर वस्तु का निर्णय बना और इसका अवधारण कीजिए कि 'एव' ऐसा ही है। स्यात् का ऐसा मतलब है कि हम इसके द्वारा वस्तु के स्वरूप का सही परिचय कर सकते हैं।

(१९७) अपने को स्वरूपमात्र अङ्गीकार करने से कष्ट चिन्ता व विकृतियों की समाप्ति—एक बार रुड़की में हमारे लगातार एक सप्ताह प्रवचन चले। वहां पर सभी लोग आते थे। तो एक अजैन महिला

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ने मेरे से एक प्रश्न किया कि महाराज—हम तो इस कारण अधिक दुःखी रहती हैं कि जो हम स्त्री पर्याय में हैं यहां हम कुछ विशेष धर्म नहीं कर सकती हैं, क्या करें ? तो वहां हमने यही कहा कि जरा अपनी अन्तः दृष्टि करके मच तो बताओ कि तुम स्त्री हो क्या ? अरे तुम स्त्री नहीं हो, यह तो एक पर्याय है, कभी जीव पुरुष बना, कभी स्त्री बना, कभी पशु-पक्षी बना, यह पर्याय तो मिटने वाली चीज है। तो क्या तुम यह पर्याय रूप ही चीज हो ? तुम तो वास्तव में जो हो सो बताओ। देखो जिसमें मैं मैं का अनुभव होता है वह क्या है ? वह मैं एक ज्ञानरूप हूं, ज्ञानप्रकाश हूं, ज्ञानपुञ्ज हूं। देह मैं नहीं हूं। ध्यान में आया ना तब तुम शरीर भी नहीं हो। शरीर तो अशुद्ध है। अपवित्र है, अशुचि है, विनाशीक है। जलकर राख हो जाने वाला है। यह शरीर हो क्या तुम ? अरे तुम वह शरीर नहीं हो तुम तो एक ज्ञानप्रकाश मात्र हो। तो यह निश्चय करो कि मैं ज्ञानप्रकाश मात्र एक पदार्थ हूं। स्त्री नहीं, मनुष्य नहीं और देखो—जो लोग मनुष्य हैं वे भी जब तक यह समझते रहेंगे कि मैं मनुष्य हूं। पुरुष हूं तब तक वे धर्म न कर सकेंगे। वह तो पर्यायबुद्धि है। मिथ्यात्व है। उन्हें भी यह समझना चाहिये कि पुरुष मैं नहीं हूं, किन्तु एक ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं। स्त्रियों को भी समझना चाहिये कि मैं स्त्री नहीं हूं। मैं तो ज्ञान स्वरूप एक आत्म पदार्थ हूं। सन्तोष हुआ उसे कि हां ठीक बात है। यह देह ही मैं नहीं हूं। तो क्या कल्पना करूं कि मैं पुरुष हूं अथवा स्त्री ? तो जब द्रव्य दृष्टि से कुछ निर्णय किया जाता है तब एक सहज भाव का निर्णय बनता है, वह सहज तत्त्व जो आत्मा में अपने आप स्वभाव से अनादि अनन्त पाया जाय वह है स्वभाव। वह हूं मैं ज्ञान स्वरूप। और देखो—कोई सोचे कि स्त्री धर्म में आगे नहीं बढ़ सकती, पुरुष आगे बढ़ते, तो आज की बात यह है कि न तो पुरुष को मोक्ष है और न स्त्री को। अब रही चारित्र में धर्म साधन की बात। तो वह होता है ज्ञानस्वरूप आत्मा के आश्रय से। वह सबको प्राप्त है। तो अपने ज्ञान स्वभाव का आश्रय करें और खूब अपने में धर्म का प्रसाद पायें। लाभ लें, यह सब कोई कर सकता है। जब द्रव्यदृष्टि से विचार किया जाता है तो जीव नित्य है, जीव ज्ञान स्वरूप है, उसमें कोई कष्ट नहीं है, यह अधूरा नहीं है। इसमें किसी दूसरे का दखल नहीं है। यह तो जाज्वल्यमान चकचकायमान एक ज्ञान तेज पुञ्ज है। उस प्रकाश पर जिसकी दृष्टि नहीं गई वह जीव अभी अंधेरे में है। उन जीवों को किसी प्रकार से शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती है जो जीव अपने आपमें अपने ज्ञान स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकता है। तो अपने आपको ज्ञान स्वरूप मानने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने आपमें आपने आपके सहजस्वरूप की दृष्टि बनायें। ये सब बातें हो सकेंगी स्याद्वाद के प्रताप से। स्याद्वाद से पहिले भिन्न-भिन्न दृष्टियों से वस्तु के समस्त धर्मों का परिचय किया। फिर सब धर्मों का परिचय करने के बाद उन सभी धर्मों को गौण करके याने वस्तु में रहने वाली शक्ति गुण पर्यायों का ख्याल छोड़कर एक अखण्ड वस्तु पर आये।

(१९८) कलिकाल में कलुषित हृदयों में नयानभिज्ञ वक्तावों द्वारा प्रभुशासन के प्रसार की अशक्यता—बात यह कह रहे थे कि वस्तु का परिचय कराने का उपाय स्याद्वाद है। उस स्याद्वाद की प्रतिष्ठा जैन सिद्धांत ने की है। तो जैन सिद्धांत की सबसे अधिक विशेषता है स्याद्वाद, जो कि समस्त दार्शनिकों की फूट को मिटा देता है। सबको एक मंच पर उपस्थित कर सकता है। सबमें एक रस होकर सबमें एक अहिंसा की प्रतिष्ठा बना सकता है। आज सारे देश यदि स्याद्वाद का सहारा लें तो कहीं विवाद न रहेगा। मगर एक बात प्रश्न में आ सकती है कि जो इतना बड़ा ऊंचा शासन है स्याद्वाद वह शासन सारे विश्व में क्यों नहीं अपना प्रभाव फैला पाया ? तो भाई बात यह है कि ऐसा कोई पहिले निर्णय न बनावें कि जिसका प्रभाव सब पर फैला हो वह अच्छी चीज है और जिसका प्रभाव कुछ पर ही हो वह अच्छी चीज नहीं है। देखो—पाप का मिथ्यात्व का अज्ञान का, मोह का अनन्तानन्त जीवों पर प्रभाव पड़ा है तो क्या उनका भला हो गया। अच्छा बुरा तो परिचय करके पहिचानों

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गुण देखकर जहां गुणों का सद्भाव हो वह अच्छा कहलाता है। खैर इस दृष्टि से भी अगर विचार करते हैं कि जो अच्छी चीज है वह सब जगह फैली होनी चाहिए, किन्तु नहीं फैली, तो इसका उत्तर समन्तभद्राचार्य ने दिया है "काल: कलिर्वा कलुषाशयो वा, श्रोतु: प्रवक्तुर्वचनानयो वा । त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतु:" जब समन्तभद्र स्वामी भगवान की स्तुति कर रहे थे तो वहां एक बात कही कि हे भगवन्! तुम्हारे शासन का एक अधिपत्य क्यों नहीं विश्व में चल रहा है। तो उत्तर दिया है कि तीन कारण हैं जिस कारण से वह स्याद्वाद शासन यह ज्ञानानन्द जहां प्रकट है ऐसा प्रभु का शासन सारे विश्व में नहीं फैल रहा तो तीन कारण क्या हैं? एक तो है कलिकाल, दूसरे—सुनने वालों के हृदय कलुषित हैं, और तीसरा कारण है बोलने वालों को नयों का ज्ञान नहीं होता। ये तीन ऐसे कारण हैं कि स्याद्वाद शासन का सर्वत्र प्रभाव नहीं फैल सका।

(१६६) कलिकाल में हीनभावना का एक दृष्टान्त—अब उक्त तीन कारणों पर ध्यान दीजिये—कलिकाल जहां के लोगों की बुद्धि निसर्गत: पाप की ओर जाय उस काल का नाम है—कलिकाल। इसकी एक कथा सी गढ़ी गई है। जैसे मानों दो दिन बाद कलिकाल लगना है तो पहिले एक पुरुष ने किसी दूसरे पुरुष के हाथ अपना टूटा फूटा पुराना मकान बेचा। खरीदने वाले ने जल्दी ही उसमें नीव खुदवाना शुरु कर दिया। नीव खुदवाते हुए में उसको अर्सफियों से भरा हुआ एक हंडा पाया। कहीं उस मकान में गड़ रहा होगा। तो वह झट उस हंडे को ले जा कर मकान बेचने वाले से बोला—भैया यह अर्सफियों से भरा हन्डा ले लो आपके बेंचे हुए मकान में से निकला है, यह आपका है, आप इसे रखो। तो वह मकान बेचने वाला बोला कि मैंने तो मकान और उसकी जगह बेची थी सो उसका मुझे सब कुछ मिल चुका। अब यह हंडा मेरा नहीं है। इसे आप ही अपने पास रखें। आखिर यह बात ऐसी बढ़ी कि इसका न्याय राजा के पास पहुंचा। दोनों ने अपनी बात राजा के समक्ष रखी। मकान खरीदने वाला कहता है—राजन् मैंने तो मकान खरीदा है, यह अर्सफियों का हंडा नहीं खरीदा, यह तो इनका है, ये अपने पास रखें, मैं इसे न लूंगा। तो बेचने वाला बोला—राजन् मैंने तो मकान बेचा था, उसका मुझे सब कुछ मिल गया, अब मुझे कुछ मिलना बाकी नहीं रहा। यह हंडा मेरा नहीं है, मैं इसे न लूंगा। इसको ये रखें। राजा उन दोनों की बात सुनकर बड़ा हैरान हुआ। उस समय कुछ भी न्याय न दे सका। बोला कि इसका न्याय हम कल के दिन करेंगे। (देखिये—आप लोग मुस्करा रहे हैं। शायद सोचते होंगे कि हम न हुए उस समय, तो हम ले लेते (हंसी)। अब जिस कल के दिन न्याय होना था उससे पहिले की जो रात्रि है उसके बाद लगना था कलिकाल। तो उस ही रात्रि में देखिये उन तीनों के (याने मकान खरीदने वाले के, मकान बेचने वाले के और राजा के) भाव बदल गए। देखिये अभी कलिकाल लगा भी नहीं सिर्फ प्रारम्भ होने वाला था उस ही रात्रि को उन तीनों के भाव बड़े कलुषित हो गए। जब प्रारम्भ की यह हालत है तो फिर इस काल की तो बात ही क्या? हां तो उन तीनों के क्या भाव हुए सो सुनो—मकान खरीदने वाला अपनी खाट पर पड़ा हुआ सोच रहा था कि देखो मैंने कितनी बेवकूफी की थी। अरे मैं व्यर्थ ही उस अर्सफियों से भरे हंडे को उसे देने गया था। कल के दिन जब वह मेरे से लेने को कहेगा तो मैं ले लूंगा। मकान बेचने वाला सोचता है कि अरे उसने तो केवल मकान और जमीन खरीदा था, वह अर्सफियों का हन्डा तो मुझे ही मिलना चाहिये था। मैंने व्यर्थ ही उसे लेने से इन्कार कर दिया। कल के दिन जब वह मेरे लेने को कहेगा तो मैं ले लूंगा उधर राजा के मन में भी यह भाव आया कि अरे वे दोनों वेफकूफ थे, जो झगड़ रहे थे। कल के दिन तो मैं यही कह दूंगा कि देखिये यह अर्सफियों से भरा हन्डा तो जमीन के अन्दर मिला, इस पर न तुम्हारा अधिकार है, न तुम्हारा। इस पर तो राजा का अधिकार है। तो भाई यह कलिकाल की बात कह रहे हैं। इस कलिकाल

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

में लोगों के ऐसे ही भाव हैं। तो भगवन ! एक तो कलिकाल है जिसके कारण आप का पवित्रशासन एक छत्र न फैल सका।

(२००) प्रभु शासन का प्रसार न हो सकने में वक्ता व श्रोतावों की त्रुटि—दूसरा कारण यह है कि आजकल सुनने वाले लोगों के हृदय कलुषित हैं। वे अपनी मनपसंद बात सुनना चाहते हैं। उनके मन के विरुद्ध कोई बात बोल दी गई तो वे वक्ता से लड़ भी बैठते हैं। बहुत से श्रोता ऐसे भी होते हैं कि जो अच्छे व्यवहार से रहते हैं, पाप भी नहीं करते मगर धर्म के मामले में जो बात सुनी, जैसा जाना वैसा ही दूसरों से कहते हैं और वे मान जायें तो ठीक है और अगर वे दूसरी तरह से कहें तो उनसे लड़ बैठता है। तो श्रोतावों का मलिन आशय है, तीसरे—वक्ताओं को नयों का परिचय नहीं है। वे यह नहीं बतला सकते कि यह बात हम इस नय से कह रहे हैं। जानते हुए भी स्वयं वक्ता का एक ऐसा पक्ष रहता है कि वह नय का नाम न लेकर बोलता जाता है कि ऐसा ही है। अरे भाई ऐसा है तो सही मगर इस नय से ऐसा ही है ऐसी बात बोलो। तो वक्ताओं को नय का परिज्ञान नहीं है। तो हे प्रभो, यही तीन कारण हैं कि जिसके कारण आपका यह पवित्र शासन एक छत्र विश्व में व्याप न सका।

(२०१) प्रभु शासन का स्वयं महत्त्व—प्रभु शासन का प्रसार हो चाहे न हो, इसमें क्या है ? इसमें कहीं प्रभु शासन की त्रुटि नहीं जाती। एक कवि ने कहा है कि किसी जंगल में घूमते हुए में भीलनियों को मानों हीरा मोती मिल जावें और उन्हें उनकी पहिचान न होने से चाहे वे अपने पैरों का मैल घिसने में उनका प्रयोग करें, पर उनके इस तरह का अनादर किये जाने से कहीं उन मोतियों का कुछ बिगाड़ तो नहीं हो गया। वे भीलनियां उन मोतियों का अनादर करें तो करें, पर वे बड़ी-बड़ी रानियों के गले का हार बनकर क्या उन रानियों की शोभा को बढ़ाते हुए स्वयं गौरव को न प्राप्त होंगे ? अर्थात अवश्य प्राप्त होंगे, तो इसी तरह समझो कि अगर एक स्याद्वाद शासन का, आत्म शासन का संसार के ये अनन्त जीव अनादर कर रहे हैं तो करें मगर क्या इससे इस शासन का अनादर हो जायगा ? अरे जो ज्ञानी संत जन है, कल्याणार्थीजन हैं वे तो इसे मस्तक पर रखेंगे ही। उसका आदर करेंगे ही। तो स्याद्वाद एक ऐसा उपाय है कि दार्शनिकों का समाज का, गुरु का, सबका विरोध मिटाने में समर्थ है।

(२०२) स्याद्वाद से वस्तु तथ्य का निर्णय कर अहिंसा में बढ़ने का प्रोग्राम—अब स्याद्वाद के द्वारा जब वस्तु स्वरूप का निर्णय कर चुकते हैं तो अब हमारा प्रोग्राम क्या हो आगे बढ़ने में वह है एक अहिंसा अहिंसा का शुद्ध स्वरूप है अपने आपमें अज्ञान, भ्रम, मोह, रागद्वेष कल्पनायें ये उत्पन्न न होना, इसे कहते हैं पूर्ण अहिंसा। सच्ची अहिंसा। याने मैं अपने आपकी हिंसा न करूं, अपने आपको बरबाद न करूं। अपने को गुप्त सुरक्षित बना लें इसको कहते हैं अहिंसा। आप कहेंगे कि हम तो सुनते थे कि किसी जीव की हिंसा न करना सब जीवों पर दया करना उसे अहिंसा कहते हैं। तो आप ठीक ही सुनते आये, मगर आप इस तरह सुनो कि कोई अपने आपमें अज्ञान, मोह, रागद्वेष न बसायें, खोटे भाव न करें तो वह हो गई अहिंसा। जो अपना खोटा भाव न करेगा तो उसके द्वारा बाह्य में जो प्रवृत्ति बनेगी वह ऐसी बनेगी कि वह किसी की हिंसा न करेगा, दूसरों की दया करेगा। ऐसे लोगों ने उसकी प्रवृत्ति देखकर अहिंसा का साक्षात् रूप उसको मान लिया, पर अहिंसा का साक्षात् रूप होता है खुद में अपने आपमें रागद्वेष खोटे विचार न बनें सो अहिंसा है। इसे कहते हैं निश्चय अहिंसा। अब व्यवहार अहिंसा वह है दया करना, दूसरों का दिल न दुखाना। कोई पुरुष दूसरों का दिल न दुःखाये, दया करे तो उससे पुण्यबन्ध तो हो जायगा, मगर वह अपने आपमें भ्रम रखता है, रागद्वेष रखता है कि मैं इस पर दयाकर रहा हूं, इस पर उपकार कर रहा हूं। इस प्रकार का भ्रम का भाव रखे तो अभी अहिंसा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

न बनेगी। वह तो अपने आप पर हिंसा कर रहा है, अपने आपमें कर्तृत्वबुद्धि लाद रहा है कि मैं इन जीवों की रक्षा करता हूं। मैं इनको पालता पोषता हूं। देखो मैंने इतने रोगियों के लिए औषधालय खोल रखा है। अरे भीतर में इसके ज्ञान प्रकाश नहीं है। पर पदार्थ के साथ कर्तृत्व की बुद्धि लगी हुई है तो वह अपने आपकी हिंसा कर रहा है। तो अपने आपमें अज्ञान न रहे तब ही यह व्यवस्था बन सकती है। तो पहिली बात यह है कि शुद्ध ज्ञान प्रकाश तो अपने चित्त में लेना होगा।

(२०३) अहंमान्यता की महती विपत्ति—देखो भाई जिस पर लोग सुधार बिगाड़ की कल्पना करते हैं मैं मैं की बात किया करते हैं, मैं हूं, मैंने किया यह कितनी बड़ी विपत्ति है? सबसे बड़ी विपत्ति है मैं मैं की मान्यता। यह मैं हूं, मैंने ऐसा किया मुझको इसने ऐसा कर दिया, मुझे यह कुछ नहीं समझता। अरे भाई तू तो एक ज्ञान प्रकाश है, तू जब उसे नहीं समझ रहा है तो वह भी तुझे नहीं समझ रहा। इसलिए आपे से बाहर क्यों हो रहे? यह पर्याय है। यह देह है। ये नाक, आंख, कान आदिक मैल से भरे हुए हैं, इनको क्यों मानते कि यह मैं हूं? और जब इस शरीर को मानते कि यह मैं हूं तो इसमें विवाद उत्पन्न होता है। मैं यह नहीं हूं। मैं तो एक ज्ञान प्रकाश हूं। मेरी दया हो जाय, मेरी रक्षा हो जाय, बस यही मैं चाहता हूं और मैं कुछ नहीं चाहता हूं एक बार देहरादून में मेरा चातुर्मास था। वहां शौच के लिए प्रतिदिन मैं करीब डेढ़ मील दूर जाया करता था। घूमना भी हो जाता था। तो जाते हुए में पंजाबी वगैरह के कुछ बच्चे प्रतिदिन गोली खेलते हुए मिलते थे। एक दिन मेरे मन में आया कि देखो सभी लोग हमें अच्छा कहते हैं। प्रशंसा सुनते सुनते तो बहुत दिन हो गये। चलो एक दिन निन्दा ही सही। एक बार मैं इन बच्चों की गोलियों में लात मारकर बिखेर दूंगा, फिर जो गालियां वे देगे उन्हें सह लूँगा। या बाद में जो होगा सो देखा जायगा, सो हमने उन बच्चों की गोलियों पर लात मार दी। उन बच्चों ने बाद में हमें ४—६ गालियां भी दी। उनको सुनकर मैं बहुत खुश हुआ। सोचा कि देखो यह तो मेरी एक परीक्षा थी। उन बच्चों की गाली सुनकर मैं मन में क्षुब्ध न हुआ तो यही मेरी उस परीक्षा में विजय है। यदि उन बच्चों की गालियां सुनकर मैं क्षुब्ध हो जाता तो वही मेरी उस परीक्षा में असफता थी। तो भाई किसी की गाली सुनकर किसी के निन्दा भरे वचन सुनकर क्षुब्ध न हों। उस समय यह समझें कि यह तो मेरी परीक्षा कर रहा है। बल्कि उस को तो बड़ा उपकारी मानना चाहिये क्योंकि उसने उस समय मेरे को बहुत सावधान बना दिया। इतना सावधान तो कोई १००-५० रूपये खर्च किए जाने पर भी न कर सकेगा। किसी से कहें कि भैया हम तुम्हें १००) देंगे, तुम हमें अपने हृदय से गालियां दे दो। तो भले ही वह १००) के लालच में आकर कुछ ऊपरी ऊपरी बनावटी गाली दे दे, पर वह हृदय से गालियां नहीं दे सकता। तो किसी के निन्दा भरे वचन सुनकर, किसी की गालियां सुनकर हम क्षुब्ध न हों बल्कि उसे अपना उपकारी समझें। वह तो अपने लिए एक भली बात है। लोग तो जरा जरा सी बात में किसी के द्वारा कुछ निन्दात्मक वचन बोले जाने पर अत्यन्त क्षुब्ध हो जाते हैं, दुःखी हो जाते हैं। यह उनकी भूल है। यह समझें कि यह तो मेरे भले के लिये है। यह तो मुझे सावधान कर रहा है। इसलिए उस पर क्षोभ न करके शान्ति पूर्वक सुन लें, यह हम आपके लिए एक भली बात है।

(२०४) जन्म मरण की महती विपत्ति—आज एक बड़ी जटिल विपदा की समस्या है कि जिसका निपटारा करना अत्यन्त आवश्यक है। वह विपदा क्या है? वह विपदा है इस जीव पर जन्म मरण की। हम आप जन्मते हैं, मरते हैं फिर मरण करते हैं। यह क्रम हम आपका आज भी चल रहा है और इसमें जितना जीवन मिलता है वह जीवन भी थोड़ा सा जीवन है। वह सारा जीवन संकट पूर्ण है। जन्म में संकट, मरण में संकट और बीच में रहीं सही जो थोड़ी जिन्दगी है उसमें भी संकट। आज इस मनुष्यभव को पाकर अनुभव कर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लिया होगा, बताओ कौन सी संतोष की बात अब तक पायी ? जब जन्में थे तब भी संकट हुआ, जवान हुए तब संकट हुआ, वृद्ध होंगे तब भी संकट मिलेगा, जब मरण करेंगे तब भी संकट मिलेगा। इसे ऐसा समझिये कि जैसे आत्मानुशासन में गुणभद्र स्वामी ने कहा कि जैसे एक बांस की पोर के बीच में कोई कीड़ा पड़ा हो और उसके दोनों ओर छोर में आग लगी हो तो उस कीड़े की बड़ी शोचनीय दशा है, इसी प्रकार हम आपके जीवन के दोनों ओर जन्म मरण की आग लगी है और उस आग लगे जन्म मरण के बीच थोड़ा सा जीवन जो मिला है वह भी दुःखपूर्ण है। आप अनुभव करिये, सोचिये, अगर एक भव में विषय के साधन मिला लिया, कुछ सांसारिक मौज पा लिया तो इससे मेरे जीवन का पूरा नहीं पड़ता। जैसा भाव किया उसके अनुसार अगला जन्म हो गया तो वहां दुःख भोगेगा। एक यह सबसे बड़ी विकट समस्या है जिसकी कुछ थोड़ी जिम्मेदारी अनुभव करना चाहिये। मानो कुछ कला प्राप्त कर ली, धन प्राप्त कर लिया तो उससे क्या होता है ? जन्म मरण का संकट। ऐसा उपाय बन जायगा तो हम आप लोगों का जीवन सफल है अन्यथा सफल नहीं है। चाहे जिन्दगी में संसारी लोगों के कहने में यह बात बन जाय, इससे कुछ होने का नहीं। जन्म मरण का संकट मेटने का उपाय बना लिया तो हम आप लोगों का जीवन सफल हो जायगा। तो कैसे मिटे जन्म मरण का संकट, इसी के सम्बन्ध में थोड़ा कहा गया।

(२०५) शान्ति चाहने व आश्रय लेने की प्रकृति का सही उपयोग करने का अनुरोध—जहां हम पर विपत्ति है वहां यह भी देखिये कि हम आप लोगों को कितनी सुविधायें मिली हैं, हम आप सबकी दो प्रकार की आदतें हैं। एक तो यह आदत है कि शान्ति चाहते हैं, सुख चाहते हैं। कोई जीव दुःख नहीं चाहता। यह तो बड़ी अच्छी बात है जो कि सुख शान्ति सभी जीव चाहते हैं। एक तो यह बड़ी भली आदत है। और दूसरी भली आदत यह है कि किसी न किसी बड़े का सहारा, आश्रय करना चाहते हैं। ये दो आदतें हम आपमें बड़ी अच्छी पड़ी हैं लेकिन इन आदतों का दुरुपयोग हो रहा है। चाहते हैं तो शान्ति, पर अशान्ति को शान्ति समझकर चाह लें तो उससे कार्यसिद्धि नहीं होती। यह तो बड़ी अच्छी बात थी हम आप लोग हृदय से शान्ति चाहते हैं, लेकिन शान्ति का स्वरूप जब तक समझ में न आयगा तब तक शान्ति की प्राप्ति नहीं की जा सकती। भले ही हम सुख शान्ति चाहते हैं, मगर वास्तविक शान्ति का निर्णय पहिले बनाना चाहिये कि वास्तविक शान्ति क्या है ? तो वास्तविक शान्ति क्या है, इसे थोड़े शब्दों में बताया है कि जहां आकुलता न हो वही वास्तविक शान्ति है। जो लोग बड़ा सुख पा रहे हैं सम्पदा का, पञ्चेन्द्रिय के विषयों का तो क्या उनमें आकुलता है ? हां हां आकुलता है। निरन्तर आकुलता है। एक सेकेण्ड को भी निराकुलता नहीं है। लग रहा है कि हम लोग बड़े मौज में हैं, बड़ा सुख मिलता है। आराम से रहते हैं, और यहां कहा जा रहा है कि एक समय को भी, एक क्षण को भी निराकुलता नहीं होती। यह बात सच है। देखो—यहां के ये सुख और दुःख दोनों ही क्षोभ से भरे हुए हैं। यह बात झट समझ में आ जायगी। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र आदिक पञ्चेन्द्रिय के विषयों का जो आनन्द लूटा जाता है तो वह भी क्षोभ से भरा हुआ है। जैसे एक मनका ही विषय ले लो। जब कभी मेम्बर बनने के लिए बात चलती है तो उस समय आपका कैसा कैसा मन चला करता है ? मेम्बर होने के लिए आपको कितना आकुल व्याकुल होना पड़ता है। एक भोजन करने की ही बात देख लो—जब आप भोजन करने बैठते हैं उस समय आप कितने-कितने विकल्प करते हैं। भोजन करते हुए में भी आपको कितना क्षोभ रहा करता है ? तो ये पञ्चेन्द्रिय के विषय कोई समता से भोगता है क्या ? अरे सभी पञ्चेन्द्रिय के विषय क्षोभ से भरे हुए हैं। उन्हें न चाहना। शान्ति क्या है ? जहां सुख नहीं दुःख नहीं।

(२०६) शान्तिस्वरूप आश्रेय तत्त्व का निर्णय—सुख के मायने संसार का सुख। जो इन्द्रियों

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

को सुहावना लगे वह सुख है और जो इन्द्रियों को असुहावना लगे वह दुःख है। तो इस बात का एक सही निर्णय कर लो कि न सुख में शान्ति न दुःख में। इसके लिये तो प्रथम तो शान्ति का स्वरूप समझना है। दूसरी आदत क्या बतलाया कि हम किसी बड़े का आलम्बन करना चाहते हैं किसी बड़े का सहारा तकना चाहते हैं। यह भी एक बड़ी अच्छी आदत है। देखो चाहे कोई बच्चा हो, चाहे जवान हो, चाहे बूढ़ा हो, चाहे धनी हो, चाहे निर्धन हो, चाहे बुद्धिमान हो, चाहे मूर्ख हो सभी के अन्दर यह आदत बनी है कि हमें तो अपनी सुख शान्ति के लिए किसी बड़े का सहारा चाहिये यह भी आदत अच्छी है, लेकिन यहां भी भूल करते हैं। वास्तव में बड़ा कौन है जिसका हम सहारा लें? और नियम से संकटों से मुक्त हो जायें? तो देखिये—उत्तर यह देंगे कि वास्तव में बड़ा वह है जो वीतराग हो, सर्वज्ञ हो। और बात सत्य भी है। वे बड़े हैं जो परमात्मा हुए, जो रागद्वेषरहित है, जो शुद्ध ज्ञान भोगते हैं, जो शुद्ध आनन्द भोगते हैं वे बड़े हैं लेकिन यहाँ एक समस्या और आ जाती है कि ऐसा बड़ा हमें एक भी नहीं दिखता, और कभी आंखों दिख भी जाय समवशरण में तो उनके निकट पहुंचना भी कठिन है, और फिर वे भगवान किसी की बात सुनते भी नहीं। आप सोचते होंगे कि क्या वहां पञ्चेन्द्रिय के विषयों की प्रवृत्ति नहीं है? हां ठीक है, वहां तो केवल ज्ञान है। वहां तो निर्विकल्प रूप में प्रतिभासमान होता है। हम उन्हें व्यवहार के ढंग से कह सकते हैं, सहारा ले सकते हैं, और वे कैसे सहारा दे सकते हैं? तो उनका सहारा यही है कि हम उनके स्वरूप का चिन्तन करके अपने आत्मा में पवित्रता उत्पन्न कर लेंगे और हम अपने आपका वास्तविक शरण प्राप्त कर लेंगे, लेकिन एक बात देखिये कि जब मैं अपने आपका सहारा लेने चलता हूं, जो वास्तविक शरण है तो सहारा लेते लेते अन्त में वह सहारा मिल जाता है जो मेरे में अन्तः प्रकाशमान तत्त्व है उस पर आ जाया करते हैं। देखो—भगवान केवलज्ञानी हैं, अनन्त आनन्द सम्पन्न हैं और ये ज्ञानानन्द स्वरूप स्वभाव के अनुरूप जो भीतर हैं सो बाहर हैं। हम आपको ऐसा नहीं है। भीतर तो है प्रभु के समान स्वरूप, पर बाहर में हो रहा है विषय कषायों का परिणमन। यह अन्तर पड़ रहा है, पर प्रभु के स्वरूप में अन्तर नहीं पड़ रहा है। जो अन्तरंग में है, जो स्वभाव में है सो बाहर प्रकट है, ऐसा अनुरूप परिणमन है वह ज्ञानपरिणमन का। तो ऐसा अनुरूप परिणमन निरखना है, उसका श्रोत है स्वभाव। उसमें पहुंचना है। उसके स्वभाव पर पहुंचना है तो स्वभाव का चिन्तन है वह व्यक्तिगत सत्ता को छोड़ देता है। तो इसका स्वभाव है ऐसी बात नहीं रहती, किन्तु स्वभाव है वह ही चिन्तन में रहता है। तो जब स्वभाव चिन्तन में रहता है तो परव्यक्ति छूटा, खुद नहीं छूट सकता, इसलिए अंततोगत्वा इस स्वभाव के चिन्तन में हमें अपने आपके स्वभाव का स्पर्श हो जाता है।

(२०७) अन्तस्तत्त्व की महत्ता—भैया, सच्चा निर्णय बनावें कि वास्तव में आप कौन है? जैसे कहते है ना चत्तारिदण्डक में चत्तारिलोगुत्तमा, याने लोक में चार उत्तम हैं वे चार कौन से उत्तम हैं? अरहन्त, सिद्ध, साधु और केवली द्वारा प्रणीत धर्म। ये साधु लोक में उत्तम हैं जिस पर भी अरहन्त और सिद्ध को उत्तम पहिले कहा। ये अरहन्त और सिद्ध लोक में उत्तम हैं। उन अरहन्त और सिद्ध के बताये हुए मार्ग पर जो चलने वाले साधुजन हैं वे मंगल हैं और जिस धर्म को केवली भगवान ने बताया है वह धर्म लोक में उत्तम है। तो व्यवहार में बड़े हैं परमात्मा और सिद्ध पंचपरमेष्ठी, पर निश्चय से याने ये मेरे में तन्मय रह सकें, ये मेरे से अभिन्न रह सकें, मेरे में तन्मय हो सके, ऐसा बड़ा कौन है? ऐसा बड़ा है मेरे में सहज जो अपने सत्त्व के ही कारण परकी अपेक्षा बिना, परके सम्पर्क बिना जो मेरे में स्वरूप है, सहज स्वभाव है, वह लोक में उत्तम है। मैं एक छोटी सी कहानी कहूंगा, वह केवल इस विषय को स्पष्ट करने के लिए कि लोक में उत्तम क्या है? क्या मिलेगा अन्त में उत्तम? एक पुरुष कुछ बदचलन था, उसकी स्त्री सती थी। उसने बहुत समझाया कि तुम ये

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सब अपराध छोड़ दो; तुम्हारा कल्याण हो जायगा, पर वह न माने। एक बार फिर उस स्त्री ने पत्थर की कुछ बटरिया देकर कहा कि लो देखो यह देवता है, यह बड़ा है, तुम इसकी रोज पूजा कर लिया करो और सिर्फ २४ घण्टे के लिए पाप छोड़ दिया करो। सो उसने स्त्री की बात मान ली। अब वह प्रतिदिन उस बटरिया को पूज लिया करता था और २४ घण्टे के लिए पाप छोड़ दिया करता था। उसने जल्दी-जल्दी में कह तो दिया था कि हां हम यह बात रोज-रोज कर दिया करेंगे, पर यह ध्यान उसने न दिया कि अगर हम प्रतिदिन २४ घण्टे को पाप छोड़ दिया करेंगे तब तो पाप सदा के लिए ही छूट जायेंगे। स्त्री ने तीन बार संकल्प करा लिया कि हां प्रतिदिन इस बटरिया को पूज लिया करेंगे और २४ घण्टे के लिए पाप छोड़ दिया करें। अब वह प्रतिदिन उस बटरिया को पूजकर २४ घण्टे के लिये पाप छोड़ दिया करता था। एक दिन उसने देखा कि उस बटरिया पर चढ़ाये जाने वाले चावलों को चूहा खा जाता है तो उसके मन में आया कि अरे इन पथरियों से बड़ा तो यह चूहा है, हमें इस चूहा की पूजा करना चाहिए, अब वह चूहे की पूजा करने लगा। चूहे को पकड़कर रख लिया, प्रतिदिन वह उस चूहे पर चावल चढ़ाये, घण्टी बजाये, पूजा करें और २४ घण्टे के लिए पापों को छोड़ दे। एक दिन उस चूहे पर झपटी बिल्ली। सोचा अरे इस चूहे से बड़ी तो बिल्ली है। सो वह बिल्ली की पूजा करने लगा। एक दिन उस बिल्ली पर झपटा कुत्ता सो सोचा अरे इस बिल्ली से बड़ा तो यह कुत्ता है, सो उस कुत्ते को पूजने लगा। एक दिन उस पुरुष की स्त्री रसोई में खाना बना रही थी, रसोई के पास वह कुत्ता गया, उस स्त्री ने कुत्ते को २-३ बेलन मार दिए, कुत्ता भौं भौं करके भग गया। इस दृश्य को उस पुरुष ने देख लिया—सोचा अरे इस कुत्ते से बड़ी तो मेरी स्त्री है, अतः उस स्त्री की पूजा वह करने लगा। अब तो उस स्त्री के दिमाग बहुत ऊंचे चढ़े हुए थे। एक दिन उस स्त्री ने खाना बनाया, दाल में नमक अधिक गिर गया। उस पुरुष ने पूछा कि आज दाल में नमक अधिक क्यों हो गया ? तो वह झुंझलाकर बोली अरे अधिक हो गया तो क्या हुआ, हाथ ही तो है। हां गया अधिक तो कुछ पानी और मिलाकर खा लो। उस पुरुष को गुस्सा आया तो उसने ३-४ तमाचे स्त्री के जड़ दिए, स्त्री रोने लगी। अब पुरुष ने सोचा—अरे इस स्त्री से बड़ा तो मैं हूं, वह अपनी पूजा करने लगा। देखिये बहार में बड़ा खोजने निकले तो वह बड़ा खुद ही मिला। तो भाई शान्ति की उपलब्धि के प्रसंग में अपने को आप ही बड़ा मिल गया। दूसरे का सहारा आपको शान्ति का साधन न बन सकेगा। तो जब अपने आपमें अपने स्वरूप को निहारियेगा तो बड़ी उपलब्धि होती है।

(२०८) सम्यक् ज्ञान की स्वीकारता से ही कषाय संकटों के विनाश की सम्भवता— बहुत से लोग तो जब हैरान हो जाते हैं तो हमसे कहते हैं कि महाराज, आप हमारे बच्चे को ऐसा नियम दिला दो कि वह क्रोध न करे। अब भला बतलावो—इस बात का कैसे नियम कराया जाय ? उसकी यह बात तो निभ न सकेगी। अरे क्रोध तो एक भीतर का प्रसंग है। अज्ञानभाव जगता है, क्रोध प्रकृति का उदय आता है, क्रोध भाव होता है, क्रोध न करें ऐसा नियम नहीं निभाया जा सकता अगर सम्यग्दर्शन हो, कुछ विवेक हो; स्वरूप की बात हो, स्वरूप की धुन हो, आश्रयभूत के त्याग का नियम लें तो यह निभ जायगा, मगर जब तक अज्ञान है तब तक कषाय छोड़ने का नियम कैसे बनेगा ? तो जब अपने आत्मा के इस सत्य स्वरूप का बोध होता है कि अरे यह मैं अपने आप सहज स्वतः स्वभावतः अपने ही सत्त्व के कारण एक ज्ञानपुञ्ज हूं। इसके अतिरिक्त और मैं कुछ नहीं कहा जाता। रागद्वेष मोह कषाय, विकल्प, विचार, ईर्ष्या, लड़ाई-झगड़े आदिक ये कोई मेरे स्वरूप में नहीं हैं। स्वरूप की बात कही जा रही है, बीत क्या रही है इसकी चर्चा नहीं करते। मेरे में स्वरूप क्या है ? मेरा स्वभाव क्या है, इसकी बात कही जा रही। जैसे कोई बड़े कुलका लड़का हो वह वह खोटे काम करता है तो लोग उसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

समझाते हैं—बेटा तुम तो बहुत ऊंचे घराने के हो, यह काम तुम्हें करना चाहिये क्या ? तो देखिये जैसे करता तो है खोटा काम, पर उसे कहते हैं कि तुम तो बड़े ऊंचे घराने के हो। इसी तरह जब समझाया जाता कि देखो तुम तो बड़े ऊंचे घराने के हो, जैसा भगवान का स्वरूप है वैसा तुम्हारा स्वरूप है, तुम हो तो इतने ऊंचे कुल के, मगर कर क्या रहे हो ? यह रागद्वेष का काम करते हो। अरे भाई जब गृहस्थी लगी है तो थोड़ा रहेगा ऐसा कि इस राग को रखे बिना गृहस्थी का काम कैसे चलेगा ? तो भाई ठीक है, गृहस्थी के अन्दर रहकर तो राग का, प्रेम का बर्ताव करना पड़ेगा, मगर भीतर में श्रद्धा ऐसी बनाये रहो कि ये सब जीव मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं, किसी भी अन्य जीव से मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है, मेरा कल्याण करने में कोई भी परपदार्थ समर्थ नहीं है। तो वास्तव में बड़ा कौन है ? आदत तो बनी है बड़े का आश्रय तकने की, मगर सच सोचो कि मेरे लिए बड़ा कौन है मेरे को मेरा सहजस्वरूप ही महान् है।

(२०९) स्वयं की जागृति से स्वयं की प्रगति—देखिये समझाने वाला कितना ही कोई समझाये मगर समझने वाला यदि समझना चाहे तो समझ सकेगा। समझाने वाला तो एक आश्रयभूत कारण है। समझाने वाला गुरु तो समझाये पर समझने वाला यदि नहीं समझना चाहता तो गुरु उसे सिखाने में समर्थ नहीं। कोई एक जीव किसी दूसरे का कुछ नहीं कर सकता। देखिये जब सीता जी का जीव प्रतीन्द्र बना था, श्रीराम उस समय निर्ग्रन्थ मुद्रा में बैठे हुए किसी जंगल में तपश्चरण कर रहे थे। वहां सीता का जीव प्रतीन्द्र पहुंचा श्रीराम को डिगाने के लिये। उसके मन में यह बात आयी थी कि अभी श्रीराम का मोक्ष न हो, बाद में हम दोनों एक साथ मुक्त होंगे। इसी विचार को लेकर सीता का जीव प्रतीन्द्र श्रीराम को डिगाने के लिए पहुंचा। बड़े हाव-भाव दिखाये, बड़े-बड़े प्रयत्न किए, पर श्रीराम रंच भी न डिगे। उस प्रतीन्द्र ने ऐसा भी दृश्य दिखाया कि रावण सीता के केश पकड़कर खींच रहा है। सीता विलाप करती है—हाय। राम राम मुझे बचाओ। यों सारे प्रयत्न उस सीता के जीव प्रतीन्द्र ने कर लिए, पर श्रीराम रंच भी न डिगे। तो देखिये सीता के सोचने से श्रीराम में कुछ परिवर्तन हो सका क्या ? अरे कोई एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का कुछ भी कर सकने में समर्थ नहीं है। कोई चाहे कि मैं किसी को सुखी कर दूं अथवा दुःखी कर दूं तो उसका यह सोचना गलत है। कोई किसी को न सुखी कर सकता, न दुःखी कर सकता। मैं किसी का कल्याण कराना चाहता हूं, पर उसमें यदि ज्ञान और वैराग्य की बात नहीं जागृत होती है तो हम उसका कल्याण कर सकने में कहां समर्थ हो सकते हैं ? तो सभी जीव अपने आपके जिम्मेदार हैं। कोई किसी दूसरे का जिम्मेदार नहीं।

इस मनुष्यभव को पाकर सबसे बड़ा संकट है जन्म मरण का। मेरा यह जन्म मरण का संकट कैसे छूटे ? इसका हमें क्या उपाय करना है। वह उपाय है, सम्यग्दर्शन। सम्यक्त्व पैदा कीजिए। उसका उपाय क्या है कि निमित्त तो हुए अनन्तानुबन्धी आदिक का उपशम। उसमें हम करें क्या ? अपनी दृष्टि सही स्वरूप पर लगे। इस परमदृष्टि से वस्तु स्वातन्त्र्य निरखें। प्रत्येक पदार्थ जब असत् है तो वह स्वतः सत् है। दूसरे ने उसे नहीं बनाया, वह अपने आप सत् है। जब वह स्वयं सत् है तो सत् का लक्षण है उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत। जो सत् है वह उत्पादव्ययध्रौव्यमय जरूर है। उसमें निरन्तर ये सब कुछ चलते ही रहेंगे। फर्क इतना आ जाता है कि कोई अशुद्ध पर्याय में है कोई विकार भाव में रहता है तो वह किसी पर उपाधिका निमित्त पाकर। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक योग है, सो निमित्त नैमित्तिक योग होने पर भी प्रत्येक पदार्थ अपने आपके परिणमन से ही परिणमन कर परिणमेगा अपने आपके परिणमन से जीव की पर्याय अपने आपके परिणमन में है तब निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है अन्यथा विकार हो नहीं सकता। इतना होने पर भी स्वातन्त्र्य को देखिये कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपके स्वरूप में रहा करता है। तब बतलावो किसी बाह्य पदार्थ का कुछ सम्बन्ध रहा क्या ? आपके घर में

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जितने जीव हैं स्त्री पुत्रादिक वे सब भी उतने ही भिन्न हैं जितने कि जगत के अन्य सब जीव। ये पशु पक्षी कीट पतिंगे, अथवा ये पड़ोसी जन, ये विदेशी जन आदि जितने आप से भिन्न मालूम हो रहे हैं उतने ही भिन्न ये घर में पैदा हुए दो चार जीव हैं। कहीं ऐसा नहीं है कि आपके घर में पैदा हुए ये दो चार जीव आपके कुछ लगते हों, आपसे भिन्न न हों। अरे सब अत्यन्त भिन्न हैं, यह बात भले ही आज सही रूप से चित्त में न बैठे क्योंकि राग लगा है, मोह लगा है। पर ऐसी बात नहीं है कि यह बात समझ में ही न आये। अरे समझना चाहें तो समझ सकते हैं।

(२१०) द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा एक की अन्य सबसे विविक्तता का प्रकाश—प्रत्येक वस्तु अपने आपमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चारो चतुष्टयों से सम्पन्न है। किसी की बात ले लो। जैसे हम इस पुस्तक का ही परिचय करना चाहें तो यह कहेंगे कि देखो जो पुस्तक का पिण्ड है, पुस्तक का स्वरूप, जितने आकार प्रकार लम्बाई चौड़ाई में फैला है यह इस का क्षेत्र है। इस पुस्तक का काल— जो इसकी नवीन पुरानी आदिक परिणति है यह इस पुस्तक का काल है। पुस्तक का भाव जो इसमें शक्ति है वह शक्ति भाव है। हर एक वस्तु का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होता है। तो हम आपमें भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है। अब द्रव्य है मेरे गुणों का पिण्ड, मेरा क्षेत्र है मेरे आत्मप्रदेश, जितने में मैं रह रहा हूं। जिसे कहते हैं कि जितना यह शरीर है नख से लेकर सिर तक, इतना यह क्षेत्र है। मेरा काल क्या है? जो मेरे आत्मा की वर्तमान परिणति हो रही है—रागमय हुए, द्वेषमय हुए, ज्ञानमय हुए, भेदविज्ञानमय हुए, तत्त्वाभ्यासमय हुए, यों जो जो भी मेरी परिणतियां हो रही हैं वह सब मेरा काल है। मेरा भाव क्या है? मेरे में जो शक्ति है ज्ञान दर्शन आनन्द वीर्य आदिक वह मेरा भाव है। तो बतलावो मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरे में रहेगा या यह मेरे स्वरूप से बाहर कहीं जायगा? मेरे से बाहर मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कहीं नहीं पहुंचता। सब जीवों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वतन्त्र-स्वतन्त्र है। उनका सब कुछ उनमें है। उनसे मेरे में कुछ आता हो या मेरे से उनमें कुछ जाता हो ऐसा नहीं है।

व्यवहार में चूंकि आप गृहस्थी में रह रहे हैं, गृहस्थी में रहने के नाते से आपको सब कुछ करना पड़ रहा है, तो ठीक है, गृहस्थी के बीच रहकर जो करने योग्य कर्तव्य है सो तो करें, पर बाकी समय में धर्म करना है, ज्ञानाभ्यास करना है। तो ऐसी स्थिति के लिए भी थोड़ा उद्यम करें तो वहां एक कर्तव्य है कि राग के काम करना, प्रेम करना उनका पालन पोषण करना, एक मन में ऐसा भाव बना लीजिए कि गृहस्थी के बीच रहकर मिल जुल कर हमारा सब काम चल रहा है इतने पर भी जब वस्तु स्वातंत्र्य का कथन होता है उस दृष्टि से अपना ऐसा भाव बनायें कि मैं तो इन सबसे अत्यन्त निराला हूं। कोई दूसरा पदार्थ मेरे से रुष्ट हो अथवा तुष्ट हो उससे मेरा कुछ भला अथवा बुरा नहीं होने का। हम ही स्वयं अपना कर्तव्य सही निभायें तो बहुत से लोग प्रसन्न हो जायेंगे। भला बतलाओ अभी तक संसार में कोई ऐसा हुआ क्या कि जो सबको खुश कर सके। बड़े बड़े चक्रवर्ती, तीर्थंकर, नारायण बलभद्र, केवली आदि महापुरुष हुए पर वे भी सबको खुश न कर सके। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। अनेक लोग गाली देते हैं, उनकी कही हुई बात भी अनेक लोगों को नहीं सुहाती। भला बताओ कौन सी ऐसी शक्ति है जो सबको खुश कर सके? यहां हम ऐसे शक्तिवान बनना चाहते हैं कि हम सबको प्रसन्न कर लेंगे। पर सभी को प्रसन्न कभी नहीं कर सकते। तो जो अपना कल्याण कर सके ऐसा उचित काम करना चाहिए।

(२११) परको संतुष्ट बनाने व बनाये रहने की हठ का मूल देहव्यामोह—देखिये स्कूलों में छोटे-छोटे बच्चों को एक कथा पढ़ाई जाती है कि कोई बाप बेटा किसी गांव को जा रहे थे। बाप तो बैठा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हुआ था घोड़े पर और बेटा पैदल चल रहा था। जब वे किसी गाँव से निकले तो कुछ लोग उनकी हँसी करने लगे। कहने लगे कि देखो यह बाप कैसा बेवकूफ है। अरे खुद तो चल रहा है घोड़े पर और बेचारे लड़के को पैदल चला रहा है। इस बात को सुनकर बाप ने बेटे को घोड़े पर बिठा दिया और स्वयं पैदल चलने लगा। आगे जब दूसरा गांव मिला तो वहां भी कुछ लोग कहने लगे कि देखो यह लड़का कितना बेवकूफ है स्वयं तो हट्टा कट्टा घोड़े पर चल रहा है और बेचारे बूढ़े बाप को पैदल चला रहा है। इस बात को सुनकर उन दोनों ने सलाह की कि देखो लोग अपन लोगों का नाम धरते हैं, इसलिए चलो दोनों ही घोड़े पर बैठकर चलें। जब वे दोनों घोड़े पर बैठकर जा रहे थे तो रास्ते में तीसरा गांव मिला, वहां भी कुछ लोग कहने लगे कि मालूम होता कि यह घोड़ा मांगे का है। तभी तो दोनों के दोनों हट्टे कट्टे इस घोड़े पर बैठे हैं। उनकी इस बात को सुनकर वे दोनों बहुत दु:खी हुए। सोचा कि अब क्या करना चाहिए ? सलाह हुई कि अपन दोनों पैदल चलें। जब वे किसी चौथे गांव से निकले तो वहां भी कुछ लोग कहने लगे कि देखो ये दोनों के दोनों बेवकूफ हैं। अरे जब पैदल चलना था तो फिर साथ में घोड़ा लेकर चलने की क्या जरूरत थी ? तो भाई यहां कोई किसी को खुश नहीं कर सकता। किसी को भी खुश करने का उद्यम न करो। खुश करो, संतुष्ट करो अपने आपको। जब आप सन्तुष्ट हो जायेंगे, प्रसन्न हो जायेंगे तो वे स्वत: ही प्रसन्न हो जायेंगे। जब खुद ही तृप्त नहीं, जब खुद ही सन्तुष्ट नहीं तो फिर दूसरों को हमसे क्या मिलेगा ? तो भाई ऐसा जानकर अपने आपको प्रसन्न करने का उद्यम बनाओ कि इस जीवन में दृष्टि अपने आपके स्वरूप पर लगे तो उसके आधार में रहने वाला वह अन्त: स्वरूप स्वयं ही प्रसन्न हो जायगा। यहां किसी भी परपदार्थ में दृष्टि लगाने से कुछ न मिलेगा। तो ऐसा यह एक सर्वसिद्धियों को प्रदान करने वाला हम आपका स्वरूप है, स्वभाव है। जैसे कहते हैं ना कि "मैं वह हूं जो है भगवान, जो मैं हूं वह है भगवान। अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं राग वितान।" तो ऐसे अपने स्वरूप की भावना बनायें और अधिकाधिक अपना ज्ञानाभ्यास अपने ज्ञानस्वभाव को ज्ञान में लेने का अभ्यास अधिकाधिक बने तो यह ज्ञान संस्कार मरण के बाद भी साथ जायगा और जन्ममरण का संकट भी छूट जायगा। तभी हम संसार की सारी विपत्तियों से छूट सकेंगे।

(२१२) शान्ति का कारण सहजात्मस्वरूपाभिमुखता—अपने विषय में एक यह विचार करना बहुत आवश्यक है कि सुख शान्ति के लिए हम प्रारम्भ से लेकर अब तक सारे प्रयत्न करते चले आये, लेकिन शान्ति का लेश प्राप्त नहीं होता। आज भी पूर्ववत् ज्यों के त्यों अशान्त हैं। जरा-जरासी घटना में क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय उमड़ पड़ती है। जरा- जरा से मन के विचारों में काम और मोह की प्रगति होती रहती है और इधर में अपवित्रता भी है और आकुलतायें भी चल रही हैं, तो इतना प्रयत्न करने के बाद भी जब हमें शान्ति न मिली तो कम से कम यह निर्णय तो कर लेना चाहिए कि ये बातें शान्ति की कारण नहीं हैं जिनको हम करते चले आये। शांति का कारण क्या है उसे संक्षेप में कहा जाय तो इतना कह लीजिये कि जब मैं अपने आपके स्वरूप से चिगकर किसी परमें लगाव करता हूं तो अशान्ति होती है और परसे हटकर जब अपने आपके ज्ञानस्वभाव की ओर दृष्टि करता हूं तो शान्ति होती है। अब रही एक यह बात कि भाई परसे दृष्टि हटा लें और अपने आपकी ओर आयें तो फिर घर का क्या होगा, परिजनों का क्याहोगा ? अरे होगा क्या ? यह तो एक भ्रम है आपका जैसे संसार के सब जीव पुण्य पापकर्म से मुक्त हैं इस प्रकार घर में रहने वाले सभी परिजन पुण्य पाप से सहित हैं। उनका सुख दु:ख उनके पुण्य पाप के उदय के अनुसार होता है। आप उसको करने में समर्थ नहीं हैं, और फिर जब तक गृहस्थावस्था है तब तक निर्विकल्प तो हो नहीं सकते। कर्तव्य तो निभाना पड़ेगा। आप शुद्धज्ञान कर लेंगे तो दूकान का, व्यापार का वही ठीक कर्तव्य निभाते हुए भी आप शान्त रहेंगे, और एक सम्यग्ज्ञान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

न कर पाया तो चाहे धर्म के नाम पर कितने ही विधान जलूस, समारोह, व्रत, संयम, तप सब कुछ कर डालें, पर शान्ति और वास्तविक प्रसन्नता नहीं हो सकती है। ज्ञान होने पर फिर आज धर्म के व्यवहारसाधन में लगें तो भी आपको कई गुना प्रेरणा देगा और आत्मज्ञान बिना तो धर्म के व्यवहार काम में भी लगे तो भी वास्तविक शुद्ध मार्ग नहीं मिल पाता है। तो शान्ति का कारण है अपने आपकी ओर मुड़ना और यह बात बन सकेगी यथार्थ ज्ञान से। सच्चा ज्ञान करें।

(२१३) वस्तुतथ्यपरिचय और उसका आत्महित में प्रयोग—जगत में जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपनी सत्ता के लिए हुए हैं और जब अपनी अपनी सत्ता लिए हुए हैं तो अपने ही आप वह प्रति समय उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है पर्यायरूप में। सत् कभी नष्ट नहीं होता, किन्तु प्रत्येक पदार्थ में नवीन पर्याय उत्पन्न होती है और पुरानी पर्याय विलीन होती है। ऐसा होना उसकी सत्ता के कारण हो जाता है। अब रही एक विकार वाली बात। तो विकार जरूर किसी निमित्त के सन्निधान में होता है, मगर उत्पन्न होने और विलीन होने की कला कोई परपदार्थ नहीं दिया करता। प्रत्येक पदार्थ में अपने आप ही यह कला है। तो जब यों प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है कोई पदार्थ किसी का कुछ लगता नहीं, क्यों नहीं लगता? न द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का सम्बन्ध है और न किसी प्रकार से भाव स्वभाव का सम्बन्ध है। तो जब कोई पदार्थ मेरा कुछ नहीं लगता तो ऐसा ध्यान में बनाये रहें कि मेरा तो मात्र मैं ज्ञानमूर्ति अंतस्तत्त्व ही हूं। मेरा शरण तो मात्र मैं ज्ञानमूर्ति अंतस्तत्त्व ही हूं। मेरा सार, मेरा वैभव सर्वस्व सब कुछ यह ही है। ऐसा ज्ञान आ जाय और अनुभव में भी सही बात उतर जाय फिर कोई भी बाह्य पदार्थ, कोई भी बाह्य समागम हमारे संकट के कारण न बन सकेंगे। कारण तो कुछ भी नहीं है परपदार्थ संकट के, मगर कमजोरी है मेरे अन्दर कि मैं कल्पनायें करता हूं परपदार्थ के बारे में और इष्ट अनिष्ट की बुद्धि बनाता हूं और उस बुद्धि के अनुसार स्वयं दुःखी रहता हूं। तो इस दुःख को मेटने के लिए आप कब समय देंगे? जब वह अवसर पायेंगे। जब आपको एक श्रेष्ठ मन वाला मनुष्यभव मिला इस भव में तो फिर क्यों नहीं अपने कल्याण की बात सोचते? क्यों यहां की व्यर्थ की बातों के लिए अपनी कमर कसे हुए रात-दिन विकल्पों में पड़े रहते? अरे बतलाओ अब कब ऐसा अवसर आयगा कि जब समस्त परसे हटकर अपने आत्मप्रकाश की सुध लें और शान्त सुखी होवें। क्यों न मोक्षमार्ग में लगें और निकटकाल में यथाशीघ्र मुक्ति को प्राप्त कर सकें? इसके लिए अवसर एक यह ही बढ़िया है, किन्तु एक बड़ा साहस बनाना होगा। सबसे बड़ा साहस तो यह करना होगा कि मेरा तो मैं ज्ञानमात्र हूं। मेरा बाहर से कहीं कुछ नहीं है। अगर बाह्य पदार्थ में ममता लगी है तो फिर उस ज्ञानमूर्ति भगवान के दर्शन न हो सकेंगे। गृहस्थी में रहने के नाते से राग और द्वेष तो होते रहेंगे, जब तक गृहस्थी में हैं, आखिर कहां जावें? घर में रहते हैं तो वहां तो इष्ट अनिष्ट के अनेक प्रसंग आयेंगे ही। ये सब कुछ होनेपर भी अगर अहंकार और ममकार न रहे तो फिर आपकी प्रसन्नता में कोई बाधा न आयगी।

(२१४) विकार परभावों से उपेक्षा होने पर अहंकार व ममकार का विनाश—जीवों को परेशान करने वाला तो अहंकार और ममकार है। उनका विनाश कैसे होगा? सो बताते हैं इनका विनाश होगा आत्मज्ञान से। मैं ज्ञानमूर्ति आनन्दघन स्वयं परिपूर्ण अपनी सत्ता से स्वतःसिद्ध यह मैं सबसे निराला हूं। मेरा सब कुछ भविष्य मेरे आपके परिणामपर निर्भर है। दूसरे पर निर्भर नहीं है, मैं परिणाम खोटा रखूं, विकारमय बना रहूं, दूसरों का बुरा विचारूं, परिग्रह में निरन्तर चित्त बनाये रहूं, यह मेरा है, यह मेरा है इस तरह के भाव में मैं विस्वस्थ रहूं, आस्था बनाये रहूं, तो ये सब खोटे परिणाम हैं। इनका फल अच्छा नहीं है, और मैं देह से भी निराला हूं, अन्य पदार्थ की तो बात ही क्या कहें, वे तो एकदम परक्षेत्र में स्थित हैं। मैं देह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

से भी न्यारा हूं और इतना ही क्यों ? उस ही आत्मभूमिका में उत्पन्न होने वाले आज जो विभाव हो रहे हैं क्रोध, मान, माया, लोभ इनसे भी मैं निराला हूं। एक रहस्य की बात और जानें कि कर्म जब उदय में आते हैं तो उदय में आने वाले कर्म में भी कुछ विलक्षण दशा होती है। अन्यथा उदय का नाम किसका ? जैसे कर्म अभी बंधे हुए हैं, वह विलक्षण स्थिति क्या है कि जिस उनकी है उससे विलक्षण स्थिति होती है उदयकाल में। उदय में नहीं आ रहे हैं, जैसी स्थिति प्रकृति का जो नाम रखा है वह उस नाम के अनुरूप उसमें अपने आपमें स्फुटन होता है। स्फोट परिणमन होता है। जैसे कहते हैं कि जब क्रोधप्रकृति का उदय आया तो उस कर्म में भी क्रोधन अवस्था हुई, लेकिन वे जड़ हैं, वह क्रोधन अवस्था किस प्रकार की है वह अनुभव से रहित है, लेकिन उस क्रोधनदशायुक्त उस अनुभव वाले क्रोध का जब उदय होता है तो वह उपयोग में तो आता ही है। चेतना में यह इस चेतन से और बढ़ जाता है उसी प्रकार का निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि इसके उपयोग में क्रोध अवस्था होती है। तब ही लिखा है समयसार में कि क्रोध में उपयुक्त होने को क्रोध कहते हैं। यह ही जीव क्रोध है, यह ही जीव कषाय है। जो विकार है वह उसरूप परिणम गया है, उस उपयोग में वह ही वह समाया हुआ है, यह स्थिति है हम आपकी कि बाह्य पदार्थों के समागम से सुख मानते हैं। हम इतनी बड़ी विपत्ति से तो मरे हुए हैं और आशा करते हैं सुख शान्ति की तो कैसे सुख शान्ति प्राप्त हो ? शांति का मार्ग तो भेदविज्ञान है। भेदविज्ञान करें, यह घर मेरा नहीं है। अरे यह तो मोटी बात है। सारी दुनिया चिल्लाती है, कहती है कि यह परिवार मेरा नहीं है, यह भी प्रकट दिख रहा है कि नहीं है और यह देह मेरा नहीं ऐसा भी बहुत से लोग बोलते हैं। गांव के लोग, देहातों के लोग, छोटे-छोटे लोग भी किसी के मर जाने पर कहते हैं कि देखो मिट्टी पड़ी रह गई और हंसा उड़ गया। तो वे भी जानते हैं कि यह देह निराला है, जीव निराला है। इतने से भेदविज्ञान से काम न सरेगा। कहां सरेगा कि ये क्रोध, मान, माया, लोभ, विचार तरंग आदि इनसे भी मैं निराला हूं। अहो ऐसे निराले उस परमात्मस्वरूप भगवान के स्वरूप की तरह हूं। जरा निराले की दृष्टि से कुछ भीतर अनुभव तो करो।

(२१५) कषाय और उपयोग में भेदविज्ञान का प्रयोग—भेदविज्ञान का प्रयोग करना है कषाय और उपयोग में। मैं उपयोगस्वरूप हूं, कषायरूप नहीं। मैं इन्द्रियातीत हूं। रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित हूं, ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानप्रकाश हूं। हां अब अपने आपकी और ध्यान दीजिए। मैं क्या हूं, कोई समझने वाला, जानने वाला कोई एक पदार्थ हूं, तो मेरा स्वरूप क्या है ? उस में रंग तो हो नहीं सकता, क्योंकि रंग वाली चीज जान नहीं सकते। उसमें रंग गंध आदिक नहीं होते। तो वह तो एक ज्ञानप्रकाश मात्र है। तो ऐसे उपयोग मात्र, ज्ञान-प्रकाश मात्र इस मुझ आत्मा में क्रोध कहां से आया ? यह कर्म की दशा है। और कर्म में क्रोधन अवस्था है उसका प्रकाश किया मैंने और उसे अपनाया और मैं क्रोधी बन गया। यह क्रोध अपवित्र है। यह क्रोध दुःखदायी है। लेकिन यह मैं उपयोग स्वरूप ज्ञानमूर्ति आत्मा स्वयं आनन्दमय हूं। मेरे में कष्ट का कोई काम नहीं है। जब ऐसी अपने आपके स्वरूप की ओर दृष्टि होती है तब यह जीव स्वयं तृप्त हो जाता है। शान्ति का उपाय यही है शान्ति का उपाय बाहर में नहीं है। बाहर में किस किस जाति की क्या क्या व्यवस्था आप बना सकते हैं। किसी की भी व्यवस्था नहीं बना सकते। सब व्यवस्था बनती है अपने आप सबके पुण्योदय से और व्यवस्था बनाने चलें तो क्या व्यवस्था बना सकते हैं ? जैसे कोई जिन्दा मेढक तौलना चाहे कि चलो हम एक किलो जिन्दा मेढक तौलेंगे तो क्या कोई तौल सकेगा ? नहीं तौल सकता, क्योंकि अगर उसमें कुछ मेढक रखे जायेंगे तो उससे कुछ मेढक उछल जायेंगे उसका सही तौल आप न कर सकेंगे, इसी तरह बाह्य पदार्थों की व्यवस्था बनाकर आप समझें कि मैं ऐसा करता हूं तो यह भ्रम है। जो परिस्थिति है आज उस ही परिस्थिति में अपनी शान्ति की

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

व्यवस्था बनायें और अधिक मत सोचें कि मैं इतना इतना कर डालूं, ऐसी परिस्थिति बना डालूं तो मैं फिर शान्ति में आ जाऊंगा, यह बात असम्भव है। और हो जाय मानो वैसी व्यवस्था और समागम तो भी शान्ति असम्भव है। तृष्णा बढ़ेगी, विकल्प बढ़ेंगे। शान्त हो सकेंगे अपने आपमें।

(२१६) आजीविकादिचेष्टायें करके भी ज्ञानी का परमलक्ष्य परमब्रह्म—भैया! गृहस्थों का भी कर्तव्य यह है कि अप्रयोजक बाहरी पदार्थों की चिन्तायें छोड़ें। काम के, व्यापार के और वैभव के छोड़ने की बात सर्वथा नहीं कह रहे। आप कर्तव्य निभाते है निभाइये। यह समझ लो कि ४–६–८ घन्टे का हमारा इस तरह का कर्तव्य है। जैसी व्यवस्था सोच रखा हो उस तरह का कर्तव्य निभावो। पुण्योदय से जो आना हो आये, उसकी चिन्ता न करें। साहस यह बनाये कि पुण्योदय से जो कुछ आता है बस उसी में अपनी व्यवस्था बनाकर हम रहेंगे। जो आमदनी हुई, मानो हजार रुपये की आमदनी है तो इसी में व्यवस्था बनायें। इतना परिवार के पालन पोषण के लिए, इतना इतना धर्म के लिए, इतना ऊपरी खर्च के लिए, इतना बचत के लिए, इस ढंग की व्यवस्था बना लें। बाहरी पदार्थों की चिन्ता छोड़ दें। बाह्य पदार्थों की चिन्ता करने के लिए यह जीवन नहीं है, किन्तु अपने आपके स्वभाव की परख कर, अपने आपके स्वभाव में मग्न होकर प्रभुवत् आनन्द स्वरूप का लेशमात्र भी जो अनुभव हो सकता हो उस अनुभव के लिए यह जीवन है। यह जीवन बाह्य पदार्थों के समागम के लिए नहीं हैं। होगा क्या? अनेक हैं ऐसे लोग कि जितना-जितना वे आगे बढ़ते हैं बाह्यपदार्थों में उतना उतना ही वे उनसे हाथ धो बैठते हैं, कुछ से कुछ ऐसी बुद्धि आ जाती है कि बना बनाया सारा काम खतम हो जाता है। आपका अधिकार क्या? आप कर्तव्य निभायें, चिन्ता छोड़ें, और अधिक से अधिक आत्मतत्त्व का विचार करें। मैं कौन हूं? मैं तो ज्ञानमात्र हूं, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं। मैं ज्ञानस्वरूप अमूर्त आकाशवत् निर्लेप हूं, किन्तु ज्ञानमूर्ति इस आत्मतत्त्व में कौन सा कष्ट है? कौन सी विपत्ति है? आप तो विपत्ति इसी में मान लेते हैं कि जो अपने परिवार के लोगों के लिए आप इच्छानुसार बात नहीं निभा पाते हैं। अरे और भी तो अनन्ते जीव पड़े हैं। उनके कारण तो आप अपने को दुःखी नहीं मानते और घर के उन दो चार प्राणियों के लिए आप दुःखी हो रहे हैं। तो इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि आपने घर के लोगों को भी उतना ही भिन्न नहीं समझा जितने कि अन्य, अनन्ते जीव भिन्न हैं। यहां आपको गृहस्थधर्म का कर्तव्य निभाने को मना नहीं किया जा रहा, किन्तु व्यापार के कार्य व षट्आवश्यक कार्य करते हुए भी आप अपने ज्ञानकेन्द्र से मत हटें। श्रद्धान में कमजोरी मत लावें। अपना श्रद्धान इतना दृढ़ होना चाहिये कि मैं वज्रघात से भी डरने वाला नहीं हूं। किसी भी संकट से मेरा विनाश नहीं। क्या होंगे जगत में संकट? टोटा पड़ गया। अरे उससे इस मेरे ज्ञानमात्र आत्मा का कोई घात होता है क्या? रहे तो ठीक, न रहे तो ठीक। वे तो बाहरी बातें हैं।

(२१७) मोह व काम की विडम्बनायें—अहो, मोह में कैसा आत्मा को मथा जा रहा है कि इसे निरन्त दुःखी किए जा रहे हैं। घर मिट गया अथवा कुछ गिर गया तो उससे इस ज्ञानमूर्ति अमूर्त आत्मा में कुछ कमी हुई क्या? अच्छा, मित्रजन विपरीत हुए, घर के लोग आज्ञा नहीं मानते। अरे भाई ठीक है, अगर घर के लोग तुम्हरा कहना नहीं मानते। तो उनका विकल्प छोड़ दो। अपने आत्मा का घात मत करो। सब जीव अपने-अपने कर्मोदय के अनुसार सुख दुःख पाते है, उन पर मेरा कुछ अधिकार नहीं। वे सुखी अथवा दुःखी होते हैं अपने भावों से। मैं किसी का सुधार बिगाड़ नहीं कर सकता, किसी को सुखी दुःखी नहीं कर सकता, मैं तो केवल अपने भाव भर कर सकता हूं, अपने भावों पर ही मेरा अधिकार है, अन्य किसी पर मेरा अधिकार नहीं। हम सुखी दुःखी होते हैं अपनी कल्पना से। देखो पहिला दुःख मोहका है। पर पर है मैं उससे निराला हूं। कोई सम्मबन्ध है नहीं, कोई गुंजाइश है नहीं कि वह मेरा बन सके। त्रिकाल नहीं बन सकता। कोई परपदार्थ है, उसके लिए

Version 1

http://sahjananandvarnishastra.org/

कल्पना उठायें कि यह मेरा है, बस दु:खी हो गए। जब उस परपदार्थ को मान लिया कि यह मेरा है तो उसका परिणमन आप अपने मनके अनुकूल चाहेंगे, पर वैसी बात न होने पर आप दु:खी तो होंगे ही। अब देखिये काम भाव की बात। देखो शरीर में अगर फोड़ा फुँसी हो, बुखार हो, सिरदर्द हो तो चलो वह तो वेदना हुई, मगर काम की बात तो सोचो—उसमें क्या शारीरिक वेदना है? उसे तो लोग मनोज कहते हैं। मनमें विकल्प उठे बुरा विचार आया कि उससे कामभाव पैदा होता है। उस कामविषयक इच्छा के उत्पन्न होते ही इसको बेचैनी हो जाती है और यहां तक बेचैनी, हो जाती है कि बहुत से लोग खाना-पीना तक छोड़ देते हैं, पागल से हो जाते हैं। पुराणों में सुना होगा—सीता का भाई भामण्डल सीता के चित्र को देखकर कितना बेचैन हो गया था, खान-पीना तक छोड़ दिया था। और भी इसकी बहुत बड़ी घटना है, उसे यहाँ नहीं कहना है, मगर तत्काल तो देखिये उस भामण्डल का परिणाम कितना बुरा हो गया। अब बतलावो यह काम है क्या चीज? केवल एक मनका भाव है। विकल्प उठाया, विचार बनाया कि लो दु:खी हो गए।

(२१८) **कषायों से आत्मप्रभु का विघात**—क्रोध भाव को भी देखिये—क्रोध में जीव की बुद्धि मारी जाती है। तो उस क्रोध में यह जीव क्या हित पायगा? अरे क्रोध करके तो वह अपने आपको जलाता है, उसकी बुद्धि ठिकाने नहीं रहती, इसीलिए यह दु:खी होता है। घमण्ड में कोई सुख पा सकेगा क्या? उस घमण्डी के सामने तो उसे कोई कुछ नहीं कहता पर पीछे कहते हैं कि यह तो बड़ा घमण्डी है। यह तो अपने को बड़ा बादशाह सा मानता है। तो कोई लोग उसकी प्रशंसा नहीं मानते। तो मान कषाय यह भी दु:ख का ही कारण है। मायाचार छलकपट करना, अहो यह तो बहुत बुरी कषाय है, इसमें धर्म का प्रकाश नहीं हो सकता। जैसे कोई कांच की मोटी गुरिया हो, जिनसे माला बनाया जाता है, तो उस कांच की गुरिया में अगर छेद टेढ़ा हो गया हो तो उसमें सूत नहीं पिरोया जा सकता है। इसी तरह जिसका मन छलकपट से दूषित हो गया है उसके हृदय में धर्म की बात का प्रवेश नहीं हो सकता है। देखिये—यह संसार असार है। यहां कोई भी वस्तु मेरी नहीं। किसी से मेरा हित नहीं है। किस वस्तु के लिए मायाचारी की जा रही है? अरे सरल रहोगे तो निरन्तर प्रसन्न रहोगे, और मायाचारी से रहोगे तो निरन्तर बेचैन रहोगे, और मायाचारी से कोई लाभ नहीं। हां बताया है दर्शन में जैसे कि मैं चाहे दरिद्र रहूं, चाहे किसी का सेवक रहूं, लेकिन जिन शासन में मेरा हृदय बना रहे। जिन शासन से रहित होकर मैं चक्रवर्ती की संपदा भी नहीं चाहता। भाई शांति ही तो चाहिए। अगर शान्ति मिल जाती है स्वयं बड़े सस्ते और सहज आराम में तो उसे क्यों नहीं चाहते? देखो शान्ति मिलती है सहजरूप से। विकल्पों से, संक्लेश करके, अपने आपको दु:खी करके तो यह जीव अशान्ति पाता है। अशान्ति के लिए परिश्रम करना पड़ता है और शान्ति के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ता। तो जो बिना परिश्रम के मिलने वाली चीज है उस ओर तो इस जीव का मोड़ नहीं है, और जो बड़ा परिश्रम करके, कष्ट करके मिलता है उसके लिए जी (मन) ललचाता है। ये श्रम उल्टा क्यों चल रहे हैं कि मिथ्यात्व बसा है, भ्रम बसा है उसके कारण ये उल्टे श्रम चल रहे हैं। उस भ्रम को दूर करें। भ्रम को दूर करने का अर्थ है कि यह अपने आपमें अपने आपको ऐसा अनुभव करे कि मैं समस्त परभावों से न्यारा एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूं। यह न सोचें कि मेरे को बहुत से लोग जानने वाले हैं, मेरे को कोई नहीं जान रहा है। मैं हूं एक ज्ञानस्वरूप। उस ज्ञानस्वरुप चेतन तत्त्व को कौन जानता है? जो लोग कुछ जान रहे हैं वे इस आकार को, इस देह की मुद्रा को, इस शक्ल-सूरत को। निश्चयत: इसको भी नहीं जानते, किन्तु इसको विषय बनाकर वे अपने ज्ञान को जान रहे हैं। खैर व्यवहारभाषा में ही जान लिया, जानते हैं, किसको जानते हैं, इस देह को, इस आकार को, इस मुद्रा को अथवा अनुमानत: इन विकारी पुरुषों को, लेकिन मैं जो एक ज्ञानमूर्ति अन्तस्तत्त्व हूं सहज ज्ञायक स्वभाव, उसको जानने वाला यहां कोई नहीं है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

यह निर्णय अगर बसा होगा तो उस रागद्वेषादिक करने के लिए जो एक परिचय कारण बनता है वह कारण न रहेगा। मेरे को कोई जानता ही नहीं। मैं किसका संकोच करूं?

(२१९) आत्मस्वरूप से चिगकर पर की ओर उपयोग के लगाव में कष्टपात—यह अपना उपयोग अपने आपकी ओर अपने सहजस्वरूप की ओर उन्मुख हो तब तो शान्ति है और जब अपने आपसे चिगकर बाह्य पदार्थों की ओर अभिमुख हुआ वहां लगाव लगाया तब अशान्ति है। इस आधार पर आप देख लीजिए कि दुनिया में क्लेश का कारण केवल एक है। लोग कहते तो हैं बहुत। मेरे धन नहीं, मेरे घर नहीं, परिवार नहीं, आज्ञाकारी पुत्र नहीं, बहुत-बहुत बखान डालते हैं, लेकिन कारण केवल एक है —क्या? अपने स्वरूप से चिगकर पर की ओर लगाव है, बाह्य की ओर लगाव है, परको निज माना है। परसम्बन्ध में विकल्प मच रहा है, बस यह एक ही तो कारण है, अब उस विकल्प के आश्रयभूत पदार्थ नाना हैं, उनको लेकर लोग नाना विषय बताया करते हैं। आपत्ति एक है, तो निरापद होने की पद्धति भी एक है। परसे हटकर अपने आपकी ओर आना, इसके लिए निष्कर्ष रूप बात यह है कि अपने को ज्ञानानन्दमात्र निरखना, अनुभावना यह पद्धति है शान्ति की। मैं ज्ञानानन्द मात्र हूं और हर समय भी मैं केवल अपने ज्ञान का अनुभव करता हूं। चाहे विकल्प रूप भी अनुभव किया जा रहा हो तब भी अपना उपयोग ही कर रहा हूं और जब अपने शुद्ध सहज स्वरूप की ओर निरख रहा हूं तब भी मैं ज्ञान को ही तो निरख रहा हू। तो अशुद्धोपयोगरूप अपने को देखने से उस प्रकार का प्रवर्तन व्यवहार होता और कष्ट का कारण बनता है। तो अपने को शुद्ध सहज स्वरूप में निरखना चाहिए। मैं ज्ञानमात्र हूं। मेरे स्वरूप में किसी भी अन्य वस्तु का प्रवेश नहीं। भले ही इस समय कर्म बंधे हैं, एक क्षेत्रावगाह है, निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। सब कुछ होने पर भी जब अपने सत्त्व को देखा—मैं अपने आपमें अपने सत्त्व की ओर से क्या हूं, इस तरह अपना सत्त्व देखा तब तो सहजस्वरूप में अपना अनुभव होगा, ज्ञान होगा। इस ज्ञानानुभूति की ओर दृष्टि होनी चाहिए। मैं ज्ञानमात्र हूं। अहो! जब बाहर निरखते हैं तो कितना कष्ट हो जाता है, कितना क्षोभ मचता है।

(२२०) अन्तः प्रकाशमान सहजात्म स्वरूप की शरण्यता—जहां क्षोभ हो, कष्ट हो, आकुलता हो, वहां क्यों जाना? अपना उपयोग है, अपनी बात है। अपनी समझ है। अपना शरण अपने पास है, उस ओर दृष्टि रहे, उस ओर अपना ज्ञान चले तो कितनी शान्ति मिलती है सारी अशान्ति तो इस अहंकार और ममकार के कारण बनी हुई है। गृहस्थावस्था में भी बाह्य के सारे काम करते जाने पर भी यदि श्रद्धा निर्मल है और अपने आपका ही पता है कि मैं तो अनुभव मात्र हूं, ज्ञानमात्र हूं, उपयोगमात्र हूं, कुछ हूं ही नहीं, यदि ऐसी श्रद्धा, ऐसा निरखना बना रहे तो अनेक कामों के बीच रहते हुए भी वह अशान्त न रह सकेगा। भले ही हम कष्ट ऊपर से मान रहे, पर भीतर में प्रसन्नता है। अज्ञानी जन ऊपर से भी दुःखी हैं और भीतर से भी। तो ऐसी ज्ञानानुभूति पाने के लिए हमारा कर्तव्य क्या है? तो उसे तीन भागों में बांट लीजिए—सत्याग्रह, असहयोग और प्रभुभक्ति। एक अन्दर में ही तो काम करना है। बाह्य की क्रिया तो एक उपयोग जब तितर-बितर होता है तो उसे केन्द्रित करने के लिए बाह्य क्रियायें की जाती हैं। जैसे भगवान की पूजा करने के लिए अष्ट द्रव्य चढ़ाते हैं, थालसामग्री सजाते हैं। थालसामग्री आदिक ये स्वयं पूजा नहीं हैं, लेकिन प्रभुपूजा में हमारा मन लगे, कुछ आलम्बन है, वस्तुतः तो निजका भाव है। इस प्रकार के मोक्षमार्ग में साधक तो वास्तव में यह स्वयं आत्मा है। और इसलिए बताया गया कि यह आत्मा जिस तरह साध्य बने, जिस प्रकार साधन बने उस प्रकार से इस आत्मा की उपासना करना चाहिए। तो भीतर में ही कुछ प्रयोग किया जाना है।

(२२१) प्रभुभक्ति का आत्मप्रयोग—आत्मप्रयोग को आप तीन भागों में विभक्त कर लो—सत्याग्रह,

http://sahjanandvarnishastra.org/

असहयोग व प्रभुभक्ति। लो इन तीनों में पहिले कौन किया जाय? बाद में कौन किया जाय, ऐसा कुछ निर्णय नहीं है। सभी साथ हैं मुख्यता से कुछ भी पहिले हो। साधन तो ये तीन हैं—जैसे प्रभुभक्ति लीजिये—प्रभु की भक्ति। प्रभु क्या? जो प्रकर्षरूप से होता हो सो प्रभु। आत्मा का जो स्वरूप है वह यथार्थ पूर्ण प्रकर्ष को प्राप्त हो गया है। ऐसा जो आत्मा है वह प्रभु है याने ज्ञान और आनन्द जहां अनन्त प्रकट हो गया, रागद्वेषादिक का मैल जहां रंच भी नहीं रहा है, जो पहिले ऐसी अवस्था होती है उसका नाम है सशरीर परमात्मा। कुछ स्वतन करने के लिए आकाश में एक समवशरण विचारिये। बहुत बड़ा भारी शोभा वाला मण्डप, जिसे देव लोग तैयार करते हैं, वैसा मण्डप मानव तैयार करने में समर्थ नहीं, ऐसे शोभा वाले मण्डप के अन्दर विराजमान सशरीर परमात्मा का मुख चारों ओर दिखाई देता है। अहो, कैसी उनकी वीतरागता की महिमा कि तीनों लोकों से इन्द्र भागे चले आ रहे हैं। समवशरण में पहुंच रहे है, इसीलिए तो उन्हें त्रिलोकाधिपति कहते हैं। जहां तीनों लोकों के इन्द्र पहुँच गए, नतमस्तक हो गए वहां तीनों लोकों के जीव ही नतमस्तक हो गए। क्या कारण है? उन देवों को किस बात की कमी थी? अरे वे तो स्वयं ही एक बड़ी दिव्यलक्ष्मी का उपभोग करते हैं। उनको क्या कष्ट आया कि वे अपना स्थान छोड़कर यहां समवशरण में आ रहे हैं, अपना उपयोग यहां लगा रहे हैं। अरे कष्ट नहीं था बल्कि हर्ष उमड़ रहा है। क्यों हर्ष उमड़ रहा? क्या उन्हें कोई स्वर्ण मिल रहा है? क्या उनको कोई वैभव प्राप्त हो रहा है? अरे ये कोई कारण नहीं हैं, वह कारण है वीतरागता का अतुल प्रभाव। सभी के सभी विवेकी संज्ञी पुरुष आकर्षित हो रहे हैं। और साधारणतया आकर्षण नहीं है। वे गान तान नृत्य बड़ी विभूति के साथ समवशरण में आ रहे हैं। लेकिन देवों की बात कह रहे हो, यह तो मान लिया जायगा, क्योंकि उनका मन श्रेष्ठ है, मगर इन पशु पक्षी मेढकों को क्या हो गया, वे भी दनादन समवशरण में भगते चले आ रहे हैं। हां वे भी संज्ञी है, उनपर भी प्रभाव पड़ता है। वे भी भव्य जीव हैं, और मनुष्यों का तो तांता ही लग गया है। और देखो नीचे पाताल लोक से निकलकर भवन व्यन्तरों के इन्द्र भी आ रहे हैं। तो वीतरागता की यह सब महिमा है। यह बाहरी रूप है, लेकिन क्या है वहां वैभव? वह वैभव है जो मेरे स्वभाव में है, मेरे स्वरूप में है। जाति एक है, चेतन है। भले ही कोई गेहूं घुन गए, कोई यहां पड़े, कुछ वहां पड़े, फिर भी उनकी जाति जैसे एक है इसी तरह से चेतन जाति एक है और इसी कारण उस प्रकर्षता को प्राप्त चेतन महाप्रभु का स्मरण करके भव्य जीवों को अपने स्वरूप की सुध होती है। स्वरूप का जहां स्पर्श होता है वहां अतुल आनन्द प्रकट होता है। ऐसा आनन्द जहां बंट रहा है, बंट नहीं रहा, कोई बांट नहीं रहा, किन्तु लोग स्वयं आनन्द पाते हैं, तो ऐसा आनन्द जहां प्राप्त हो वहां क्यों न सभी प्राणी पहुंचेंगे। क्या है वह प्रभु का स्वरूप? एक शुद्ध ज्ञानमात्र। केवल ज्ञान का क्या अर्थ है? केवल सिर्फ परिपूर्ण ज्ञान ही ज्ञान रह गया है, यह महिमा अवश्य है कि परिपूर्ण ज्ञान ही ज्ञान रह जाय तो वह सर्वज्ञ है, लेकिन केवलज्ञान का अर्थ क्या है? वह ज्ञान ही ज्ञान रहा। अच्छा—और क्या न रहा? जो कुछ चीज ज्ञान के साथ और चिपट रहे थे रागद्वेष, मोह, विचार, विकल्प, तरंग आदिक वे सब कुछ न रहे, ऐसा विशुद्ध ज्ञान हो गया, वही ज्ञान तो मेरा स्वरूप है, स्वभाव है। स्वभाव की सुध होती है। जिस स्वभाव में हमें लीन होना है उस स्वभाव की सुध प्रभुभक्ति के प्रताप से बन रही है, इसीलिए प्रभुभक्ति एक हमारा साधन है।

(२२२) असहयोग का आत्मप्रयोग—दूसरा साधन है असहयोग—बाह्य पदार्थों का सहयोग न रहना, मना करते जाना। जो आजादी का इच्छुक है वह पुरुष दूसरे बाह्य पदार्थों का सहयोग नहीं लेता। जैसे जब कभी देश में विदेशियों ने एक क्रान्ति सी मचा रखी थी तो उन विदेशियों के विरुद्ध सत्याग्रह और असहयोग का नारा लगाया गया था। याने एक सच्चा आग्रह बना लो कि मुझे आ... पर तत्त्वों को (विदेशियों को) सहयोग नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

देना है। जिन पर तत्त्वों का सहयोग देने से हम दु:खी रहा करते हैं। तो ऐसी ही बात यहां है। इन पर तत्त्वों को सहयोग देने से हम दु:खी रहा करते हैं। तो ऐसी ही बात यहां है। इन परतत्त्वों को सहयोग नदो जिनके कारण हम आप दु:खी हैं। तो वे परतत्व क्या हैं? वे परतत्व हैं ये विषयकषाय आदिक के खोटे परिणाम। इन परतत्त्वों को उत्पन्न न होने दें। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूं। मेरे में क्या? मेरे साथ मेरे स्वभाव के खिलाफ यदि कुछ बात जगती है तो नियम से उसमें कोई कर्म उपाधि कारण है। यह एक युक्ति है। तो वह द्रव्यकर्म जब उदय में आता है तो वह भी अपना अनुभाग प्रकट करता है, उनमें भी खलबली मचती है। वे भी किसी विलक्षण विस्फुटन दशा को प्राप्त होते हैं। चूंकि वे बन्धन में हैं, इसलिए वे कर्म जब उदय में आते हैं तो जिस जिस प्रकार से विपाक होता है उस उस प्रकार से यहां उपयोग चलता है और उस समय हम दु:खी हो जाते हैं। तो बन्धन का क्या कारण रहा? बाह्य वस्तुओं का सहयोग। उनका सहयोग मिटा लीजिये, असहयोग कर लीजिये तो अपने आपको शान्ति का मार्ग मिलेगा। अब जरा अपनी अपनी जिन्दगी पर विचार तो करें। ये बाह्य पदार्थ भिन्न क्षेत्र में रहने वाले हैं, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, ये त्रिलोक भी मेरे नहीं हो सकते। ये प्रकट भिन्न जड़ पदार्थ, डले, स्कंध कितना चित्त में बस रहे हैं। भीतर चित्त में इसका निश्चय हो रहा है क्या? न हो रहा हो तो वह तो विजयी पुरुष है, मगर इन परपदार्थों के प्रति निरन्तर ध्यान रहता हो यह ठीक है। मैं बड़ा सम्पन्न हूं, मैं बड़ा सुखी हूं, उसका ध्यान बनता हो तो समझिये कि यह कितना पाप का काम किया जा रहा है। हम अपने ज्ञानानन्दस्वभावी परमात्मस्वभाव से चिगकर व्यर्थ की ओर बेकार, असार, अत्यन्त भिन्न जड़ पदार्थों में चित्त लगा रहे हैं, जड़ की पूजा कर रहे हैं, तो जीवन बहुत गुजर गया, लेकिन रहा सहा जीवन अब इस तरह न गुजारें। रहा सहा जीवन ज्ञानप्रकाश की उपासना में गुजरे ऐसी अपनी कोशिश होनी चाहिए। तो उस ज्ञानानन्द को प्राप्त करने के प्रयत्न में करिये असहयोग का प्रयोग। ये विषयकषाय, ये कर्मविपाक ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। जैसे स्फटिक मणि तो स्वच्छ होता है और वह अपनी ओर से निरन्तर स्वच्छतारूप परिणमता रहता है ऐसा उनका स्वभाव है। लेकिन जब लाल, पीला, नीला आदिक कागज अथवा कपड़ा उसके सामने कर दिया जाता है तो वह मणि या दर्पण उस रूप परिणम जाता है। तो देखिये वह दर्पण उस रूप परिणमा तो अपनी ओर से; किन्तु उपाधि के सन्निधान से परिणमा। और देखो उपाधि सन्निधान में तो यह उपाधि नहीं परिणमा, वह स्फटिक पदार्थ ही परिणमा, इससे आप देख लीजिये। अपना अज्ञान दूर कीजिए। मैं ज्ञानस्वरूप हूं। मेरे साथ उपाधि का खेल है। इस तरह मैं जानूं और इससे विविक्त होऊं। इससे असहयोग करना होगा।

(२२३) बाहरी पदार्थों से असहयोग प्रारम्भ कर आन्तरिक तरङ्ग तक से असहयोग करने का अनुष्ठान—जरा बाहर से प्रारम्भ कर अन्दर तक असहयोग बनाइये। ये घर धन वैभव आदिक मेरे क्या हो सकते हैं? इनको देखकर मैं क्या खुश होऊं? बढ़िया महल है तो उसमें क्या चित्त लगाना, वह तो जड़ पदार्थ है, परिजन मित्रजन वगैरह में भी क्या चित्त लगाना, वे भी भिन्न चीजें हैं। देखो जिनकी दृष्टि विशुद्ध होगी वे अपने घर में रहने वाले लोगों का भी उतना ही महत्त्व देते हैं जितना कि जगत के अन्य जीवों का। वे सब मेरे से बिल्कुल भिन्न हैं। उनका द्रव्य, उनके प्रदेश, उनका परिणमन, उनका स्वभाव सब कुछ मेरे से अत्यन्त भिन्न है। यह कोई रजिस्टर्ड बात नहीं है कि वे आपके ही हैं और आपके ही बनकर रहेंगे। अरे यों ही अटपट चलते-फिरते घूमते एक जगह आ आकर इकट्ठे हो गए, अब उनमें ये मोही प्राणी मोह करते हैं। उनके लिए ही अपना सारा तन, मन, धन, वचन न्योछावर करने के लिए तत्पर रहा करते हैं। उन घर के दो चार जीवों को छोड़कर बाकी सब अनन्ते जीवों के प्रति रंच भी दया नहीं उत्पन्न होती। अरे यह मोह की कैसी विचित्र लीला है। समस्त जीव मेरे से अत्यन्त भिन्न है। भले ही आज बंधे हैं, इसमें रह रहे हैं, लेकिन देह निराला है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा निराला हूं। देह मैं नहीं हूं। कोई स्कंध रूप, ढेला पत्थर आदिक रूप मैं नहीं। ये जो छुटपुट जानकारियां होती हैं। उनरूप भी मैं नहीं। मैं तो एक अमूर्त ज्ञानज्योतिर्मय पदार्थ हूं। मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानमात्र हूं, और अपने उपयोग में ऐसा निरख लीजिए कि जो ज्ञान है, ज्ञानप्रकाश है ज्ञान ज्ञान को ही लीजिए, द्रव्य को ध्यान में न रखें, गुण को ध्यान में न रखें। केवल एक भाव को ध्यान में रखें—ज्ञानमात्र अहो वह ज्ञानस्वरूप जब ज्ञान में आता है तब यह कोई भार नहीं रहता। कोई एक अलौकिक ही दशा उत्पन्न हो जाती है। उस ज्ञान के अनुभव करने के लिए असहयोग का प्रयास कीजिए—देह मैं नहीं, कर्म मैं नहीं, कर्म की दशा मैं नहीं और कर्म की दशा का जो उपयोग करता हो और उस उपयोग में जो नाना अवस्थायें बन जाती हैं वे भी मैं नहीं हूं। मैं तो एक शुद्ध ज्ञानमात्र हूं। जैसे कोई हरा बल्ब लगा है, रोशनी पड़ रही है, नीचे हरी रोशनी है, तो क्या वहां लोग यह विवेक नहीं रखते कि रोशनी हरी नहीं होती। रोशनी तो प्रकाशमात्र है, हरी तो उपाधि है। देखो यद्यपि वहां हरेपन का और प्रकाश का भेद करना कठिन है। कैसे समझें कि प्रकाश यह कहलाता और हरा यह है, लेकिन युक्ति, अनुभूति बतलाती है कि प्रकाश तो प्रकाशनमात्र है, और हरा एक उपाधि के सम्बन्ध से एक रंग है। जब इस प्रकार से यहां एक सम्मिलन हो रहा है याने ज्ञान का काम प्रतिभासन, जानन और उसमें लगा है रागद्वेष का परिणाम। तो वे दोनों एक रूप से स्वादे जा रहे हैं कौन स्वादता है ? अज्ञानी। जैसे ज्ञानी पुरुष हरेपन का और प्रकाश का अलग-अलग विवेक कर सकता है इसी प्रकार वह एक समय में रागद्वेषादिक होते हुए भी जानन, तो यह कहलाता है और रागद्वेष का यह स्वरूप है, रागद्वेष कर्मविपाक हैं, जानन मेरे आत्मा का स्वभाव है, इस तरह से भेद कर रहा है। तो इस भेद से बढ़कर जो तत्त्व हुआ, जो विषय कषाय इच्छा आदिक तरंगे हुई उनसे असहयोग कर लीजिए, इनके अनुराग से मेरा जन्म मरण चलता रहेगा। तुम हट जावो, ऐसी एक हठ कर लीजिए कि मैं एक ज्ञान चैतन्यज्योतिस्वरूप हूं।

(२२४) सत्याग्रह का आत्मप्रयोग—तीसरा उपाय है सत्याग्रह। सत्य का आग्रह करो। जो मेरे सत् में अपने आपके सत्त्व के कारण होता हो, हो सकता हो, उसे सत्य कहते हैं। बस तन्त्रमात्र मैं हूं। ऐसा आग्रह करना इसे कहते हैं सत्याग्रह, देखिये इनसे हट जाने में कितना क्लेश है ? जहां माना कि मैं फलाने चन्द हूं, फलाने लाल हूं। अमुक प्रसाद हूं, व्यापारी हूं, सर्विस वाला हूं, अमुक का पिता हूं, अमुक कुल का हूं। काला हूं, गोरा हूं आदिक कुछ भी इस प्रकार का भाव बनता है। तो इन ही मान्यताओं के कारण इस जीव के ऊपर नाना संकट छाये हैं। यदि इन समस्त संकटों से मुक्त होना चाहते हो, वास्तविक आनन्द की स्थिति प्राप्त करना चाहते हो तो अपने को ऐसा अनुभव करो कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञाताद्रष्टा रहने में ही मेरा वास्तविक आनन्द है, अपने आपको विशुद्ध ज्ञानमात्र अनुभव करें। देखिये अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करें तो यह अपनी बात है और अपने को मनुष्यादिक रूप में अनुभव करें तो यह भी अपने मन की बात है ? लेकिन अपने को मनुष्यरूप (देहरूप) मान लिया तब उसका फल कितना विकट लग बैठा कि संसार की ८४ लाख योनियों में जन्म मरण करना, संकट सहना यह सब चल पड़ा ? कोई कहे कि साहब हम तो अपने घर में रहते हैं, किसी को सताते नहीं हैं, अपने काम से काम रखते हैं, हमने कोई बड़ा कसूर तो नहीं कर दिया, हां सिर्फ इतनी भर बात मान लिया कि मैं अमुक का पिता हूं, अमुक व्यापारी हूं, ऐसा पर्यायरूप अपने को मान लिया, और तो मैंने कोई अपराध नहीं किया, तो इसमें इतना बड़ा दण्ड क्यों मिल गया कि कीड़ा मकोड़ा, पशुपक्षी, पेड़ पौधा आदिक नाना योनियों में जन्ममरण करना पड़ा ? तो भाई देखने में लगता है कि यह तो मामूली अपराध है, पर इसे मामूली न समझो। अरे इस देह को ही मान बैठे कि यह मैं हूं तो यह तो एक सबसे बड़ा अपराध हो गया। इस शरीर के अन्दर विद्यमान आत्मतत्त्व का अनुभव न किया, अपने आपके ज्ञानस्वरूप को न निरखा बस इस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पर्याय में ही दृष्टि रखी तो यह तो एक विकट अपराध कर डाला। बताओ इस विकट अपराध का फल कौन भोगने आयगा ? लोग तो दूसरे धनिकों को देखकर अपना यह लक्ष्य बना लेते हैं कि मुझे भी ऐसा ही लखपति बनना है, करोड़पति बनना है पर उनका यह लक्ष्य सही लक्ष्य नहीं है। अरे इस लक्ष्य को रखकर तो इस जीव की बरबादी ही है। अपना लक्ष्य यह रखें कि मुझे तो शुद्ध ज्ञानमात्र का अनुभव करना है। यही हमारा मुख्य लक्ष्य है। अब इसके लिए अनेक उपलक्ष्य करने होते हैं सो उन्हें भी करें, पर लक्ष्य अपना यही रहे इसके लिए चाहे अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्योछावर करने पड़ें पर सब कुछ न्योछावर करने को तैयार रहें। जिस चाहे विधि से हो, अपने को शुद्ध ज्ञानमात्र अनुभव करने का ही उद्यम करें। एतदर्थ अपने आपमें अन्तः प्रकाशमान सहज चैतन्यस्वरूप में आत्मतत्त्व के अनुभवने का सत्य आग्रह बनायें।

(२२५) वस्तुस्वरूप से विरुद्ध कल्पनाओं से संसार संकटों का प्रसार—हम आप सब यही अनुभव करते हैं कि सुख शान्ति के लिए अथक प्रयत्न करने पर भी सुख शान्ति नहीं पा सके हैं। इसके कारण पर कुछ थोड़ा विचार करना होगा। सुख शान्ति किस उपाय से प्राप्त होती है और हम कौन सा उपाय बना रहे हैं ? जरा अपने आप पर अपने आत्मा की दया करके सुनो—संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सब पदार्थ अपना जुदा जुदा सत्त्व लिए हैं। सबका परिणमन उनका अपने-अपने उपादान से होता है। कोई किसी का कुछ करने वाला नहीं, भोगने वाला नहीं। तब करने और भोगने का किसी का किसी के साथ सम्बन्ध नहीं। फिर यह मानना कि यह मेरा है। मैं इसका मालिक हूं, इसको मैं करता हूं। इसको मैं भोगता हूं तो यह बात भ्रम की है कि नहीं ? तो समझ लीजिए कि जहां भ्रम लगा हो वहां आप कितने ही काम करें, बल्कि जितने काम करेंगे, उलझते चले जायेंगे। शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। शान्ति का मार्ग भगवान ने यह कहीं बताया ही नहीं है कि धन से मिलेगी या परिजन से मिलेगी या अन्य विषयों के साधनों से या अच्छा मकान बन जाने से या बढ़िया पोषाक पहिन लेने से, या खूब गहनागुरिया से लदा होने से सुख शान्ति मिलेगी। यह बात सब गलत है। शान्ति कहां से पाने की आप आशा करते हैं ? यह मैं आत्मा भीतर निरखिये जो ज्ञानस्वरूप है, जिसका ज्ञानप्रकाश ही स्वरूप है वह स्वयं शान्त है। स्वयं सुखी है, स्वयं आनन्दमग्न है। आनन्द के लिए क्यों आशा लगाते, क्यों उपयोग बाहर फंसाते ? श्रद्धा तो गलत मत बनाओ। करने में जो कुछ आ रहा है आने दो। वह भी ठीक हो जायगा, लेकिन श्रद्धा मत बनाओ। अगर श्रद्धा गलत रहेगी तो कहीं भी पूरा न पड़ पायगा। श्रद्धा गलत होगी तो धर्म के नाम पर कुछ भी काम करो, वह सब दिल बहलावा कहलायगा। उसका फायदा न मिल पायगा। श्रद्धा सही होगी तो चाहे घर में कुछ विपत्तियों में चल रहे हैं फिर भी भीतर में प्रसन्नता रहेगी। उसे कोई मेट न सकेगा। अगर आनन्द चाहिये हो तो पहिली बात यह है कि श्रद्धा सही बनावें। मैं स्वयं शान्त हूं, ज्ञानप्रकाश हूं, सबसे निराला हूं। देखिये—जब तक अपने आपके अकेलेपन का निर्णय न होगा तब तक धर्म के मार्ग में जरा भी न बढ़ सकेंगे। जो यह भ्रम लगा रखा है कि मेरे तो इतने परिवार के लोग हैं, मेरे तो इतने सेवक हैं, खुशामद करने वाले हैं। मेरा तो ऐसा प्रभाव है। बाहर में जब तक ऐसा लगाव रहेगा और अपने को अकेला अनुभव न कर पायेंगे। तब तक धर्म की बात जरा भी नहीं आ सकती। जो बात सच है उसी पर चलने के लिए कहा जा रहा है, बहकाया नहीं जा रहा आपको। सच क्या है ? हम आप सभी जीव अकेले हैं। अपने ही एकत्व में तन्मय हैं, बाहर के सब पदार्थों से निराले हैं। जो भी आया तो अकेले ही आया है, अकेला ही रहेगा अर्थात् इस शरीर को छोड़कर जायगा। अकेला ही यह जीव सुख दुःख पाता है। सब जानते हैं कि यह जीव अकेला है। मेरे लिए भैया शरण है, पुत्र शरण है, पिता शरण हैं या अन्य कोई शरण है यह भ्रम खत्म कर दें। शरण कोई नहीं है। शरण है तो अपना परिणाम शरण है। आज भी कोई बाहर में शरणसा मालूम पड़ रहा है तो आपके ही वह पूर्वधर्म का प्रताप

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है और आपका ही इतना पुण्य उस वक्त है कि दूसरे लोग भी आपके सहायक बन रहे हैं। वे कहीं आपके द्रव्य र्थात् आत्मवस्तु के नाते से कोई आपके सहायक नहीं हैं। आपका परिणाम निर्मल था। उसमें जो पुण्य कमाया सके फल में आज यहां के लोग भी सहायक बन रहे हैं। तो मेरा वास्तविक सहायक मैं ही हूं और मैं ही अपने आपका बिगाड़ कर सकता हूं। मेरा दुनिया में कुछ नहीं है।

(२२६) आकिञ्चन्य धर्म के प्रयोग में आनन्द—एक बताया है अकिञ्चन धर्म, जिसमें यह विचारा जाता कि मेरा कहीं कुछ नहीं है। मेरा तो मात्र यह मैं ज्ञानप्रकाश ही सर्वस्व है, और बाहर में ऐसा सोचने की भी क्या जरूरत है कि मेरा कहीं कुछ नहीं है? अपने आपमें जो ज्ञानानन्द का वैभव है उस पर दृष्टि करें और उसका आनन्द लूटते रहें। तो अपनी सत्य श्रद्धा बनाओ। बाहर में शरण का भ्रम दूर करो। बाहर में श्रद्धा में किसी चीज में राग न करें अर्थात् किसी परपदार्थ से मेरा हित हो सकता है यह गल्ती न करें। मेरा हित होगा। मेरा ज्ञान मेरे ज्ञान की कला से चलेगा और मेरे में विराजमान ज्ञानप्रकाशमय भगवान के दर्शन के लिए चलेगा तो इस ज्ञानमूर्ति भगवान के दर्शन से ही हमारा यह उपयोग शान्ति आनन्दमय हो सकेगा। बाहर में न हो सकेगा। एक कुछ समस्या गृहस्थी के सामने यह आती है कि यहां तो धन अधिक होगा तो लोगों में पूछ होगी, कदर होगी, सुख से रहेंगे, और बतलावो रिस्तेदारों में गरीबी के ढंग से कैसे रह सकेंगे? तो ये तो सब हमारे सुख के ही साधन हैं। इसका एक संकोच है, और एक चिन्ता बना ली जाती कि किसी भी तरह हो, धन आना चाहिए, मगर इस धन-वैभव का आत्मा की शान्ति के नाते से कुछ विचार नहीं किया। किया केवल बाहरी-बाहरी विचार। अगर आत्मशान्ति के नाते से विचार करें तो आपका आत्मा पवित्र होगा और इतना साहस जगेगा कि बाहर में कुछ भी बीते, किसी भी बात से मेरे को कोई हानि नहीं है। सम्यग्दृष्टि पुरुष को बताया है कि ऐसा भी वज्र गिरे, जिसकी आवाज से तीनों लोकों के जीव भी भय खा जायें, इस पर भी सम्यग्दृष्टि जीव को शंका और भय नहीं रहता।

(२२७) परमात्मत्व होने के निर्णय वाले मार्ग के चुनने से कल्याण दिशा में प्रगति—बात यह है कि जब तक यह जो मोही जीवों की लिस्ट में अपना नाम लिखा रखा है तब इसकी यह ही इच्छा जगेगी कि मैं इनमें सरदार कहलाऊं, मोहियों में सरदार कहाऊं। जैसे मूर्खों का सरदार क्या कहलाता? महामूर्ख। कहीं सरदार नाम सुनकर खुश हो जाने की बात नहीं है। जब इसने मोही जीवों की लिस्ट में अपना नाम लिखाया है तो इसको उत्सुकता जगती है कि दुनिया में मेरी कीर्ति रहे। मैं अग्रणीय कहलाऊं, तब तक शान्ति का मार्ग न मिल सकेगा। और यदि भगवन्तों की उम्मीद वाली लिस्ट में अपना नाम चढ़वा दें मेरे को तो मुक्ति पाना है, मेरे को तो परमात्मस्वरूप पाना है, उस उम्मीदवारी में हमारा नाम है तो दूसरों को यह प्रकाश मिलेगा कि हमें तो ऐसा जीवन में चलना है कि जिससे हम रागद्वेषरहित हों, ज्ञानमय बनें। मेरे को वह परमात्मस्वरूप प्राप्त हो जिससे संसार के संकट सदा के लिए विदा हो जायें। मेरे को ऐसा पद चाहिये। अगर यह संकल्प बन जाय, ऐसी धुन बन जाय तो मुझे यहां तो लोक लिहाज का, यहां की बात का, यहां की इज्जत का कुछ ख्याल न रहेगा। तो फिर ऐसा होने पर तो शायद यहां के लोग इज्जत न करेंगे। अरे न करें इज्जत तो न सही, ये कोई भगवान नहीं हैं, बल्कि ये तो हमारे फंसने के कारणभूत हैं। कितनी हिम्मत करनी होती है ज्ञानी जीव को। अपने आत्मा के बल पर जो लोक में विजय प्राप्त कर सकता है। जो दुनिया के आधीन बन जाय उसे क्या कोई विजयी कह सकेगा? अरे वह तो हार गया। भले ही दुनिया के ये लोग देश के नेता कहलायें अथवा धर्म के ऊपरी नेता कहलायें, जिनका बड़ा स्वागत होता है, जिन पर बड़ा खर्चा किया जाता है, एक नेता आया तो उसके पीछे लाखों करोड़ों रुपये तक खर्च कर दिये जाते हैं। लोगों को लगता है कि यह तो बड़े ऊंचे पुरुष हैं, मगर आत्मा उनकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

खोखली है, क्योंकि उन्होंने मोहियों की लिस्ट में अपना नाम लिखा रखा है। इनमें मैं सरदार कहाऊं। अरे भाई अपने को सोचो कि मैं भगवन्तों के ज्ञान में भला कहलाऊं। अब भगवान तो यहां है नहीं कि जिनको देख करके चित्त में यह बात उठे कि मैं भगवान ज्ञान में भला कहलाऊं। लोगों की दृष्टि में भला होऊं अथवा नहीं उससे मेरा कोई सुधार बिगाड़ नहीं है। लोग यह सोचें कि यहां तो लोग यह सोचते हैं कि लाखों करोड़ों आदमियों की निगाह में मैं भला बन जाऊंगा, मगर भगवान कितने हैं? अनन्त। जितने शुद्ध आत्मा हैं, जितने सिद्ध हुए हैं, वे सब भगवान हैं ना? तो अनन्त भगवानों को निगाह में हम झलकें तो ऊंची बात होगी या इन इने-गिने लटोरे खचोरे लोगों में हम भला कहलायें तो ऊंची बात होगी? जरा तुलना तो करो।

(२२८) कष्टसहिष्णुता की व पारमार्थिक आनन्द के मार्ग पर गमन के उमंग की अभ्यर्थना—अच्छा दूसरी तुलना और करो। यहां की रही सही १०–५ वर्ष की जिन्दगी में हमें आनन्द मिल जाय और वह आनन्द कल्पित हो यह बात अच्छी कहलायगी या अनंतानंत काल तक के संकट सदा के लिए छूट जायें यह बात भली रहेगी। अगर कुछ इस पर निगाह डालते हैं तो अनन्तकाल तक के लिए मेरे संकट छूट जायेंगे यह बात भली रहेगी। इसके लिए इस रहे सहे ५-७ वर्ष के जीवन में उपसर्ग आये, कष्ट आये तो मैं उनसे छूटने की प्रार्थना न करूंगा। कष्ट जितने आते हों आने दो। हम तो संसार के संकटों से सदा के लिए छूटने का प्रोग्राम बनाये हुए हैं। ये थोड़े संकट आते हैं तो दिखने वाले ये संकट मेरे लिए कुछ संकट नहीं हैं। इन संकटों से मत घबड़ाइये। इन संकटों से हटने की प्रार्थना भगवान से मत करें, आने दो, उनका भी खेल देखें, भेदविज्ञान बनायें, अपने आत्मा को सबसे निराला देखें और यह भी देखते जावो कि क्या कष्ट है, क्या लोगों का बर्ताव है? मन खुश रहें। इन संकटों से मत घबड़ायें। भगवान से प्रार्थना यह करें कि सब कष्टों को सहन करने की मेरे में शक्ति बढ़े। वह शक्ति आती है ज्ञानबल से? कष्ट से हटने की प्रार्थना करने के लिए जैसे कहीं अमुक क्षेत्र में जा रहे, कोई किसी तीर्थ स्थान पर जा रहें, किसलिए जा रहे? हमारा कष्ट मिट जाय, हमें अमुक चीज की प्राप्ति हो जाय""यह घुड़ दौड़ छोड़ दें और ऐसी प्रार्थना करें अपने प्रभु से अथवा परमात्मा से कि हे प्रभो! मेरे में कष्ट सहने की शक्ति आये। क्या कष्ट आ गया? निर्धन हो गए तो आने दो कष्ट, शक्ति बढ़ावें कि वहां पर भी हम धर्म धारण करते हुए, अपनी आत्मसाधना करते हुए प्रसन्न ही प्रसन्न रहा करें। चाहे निर्जन हो गए, परिवार के लोगों का वियोग हो गया तो उसे भी देखते रहें, ज्ञाता द्रष्टा रहें, मैं तो अकेला हूं, पूर्ण ज्ञानानन्दमय हूं, मेरा क्या बिगाड़ है? मैंने तो प्रभुता की लिस्ट में अपना नाम लिखाया है। मुझे यहां की कुछ नहीं पड़ी है, मैं तो अब दूसरों की पंक्ति में हो गया हूं। जैसे कोई किसी पार्टी का मनुष्य है तो उस पार्टी का उत्तरदायित्व तब तक निभाता है जब तक उसमें नाम लिखाये हैं। जब उससे अलग हुआ तो फिर उसका क्या लिहाज? जब उसने प्रभु की लिस्ट में अपना नाम लिखाया है तो फिर उसे दुनिया की बातों से क्या मतलब? मेरे में कष्ट सहिष्णुता बने और धर्म के लिए अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्योछावर कर देने की उमंग बने।

(२२९) धर्म निधि की परमनिधिरूपता—भैया, धर्म की बात समझें कि धर्म किसका नाम है? ये ऊपरी बातें, ऊपरी जल से ये धर्म नहीं कहलाते। धर्म कहलाता है रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। अपने आत्मा का सहज स्वरूप में विश्वास। मैं तो यह ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, और कुछ नहीं हूं। कोई कितना ही हिलायें, कोई कितना ही बहकाये, कितना ही कहे, मगर श्रद्धा से चलित न हो। मैं अमुक चन्द नहीं; अमुक लाल नहीं, परिवार वाला नहीं, गृहस्थ नहीं, मुनि नहीं। मैं तो एक ज्ञानानन्दस्वरूप स्वतन्त्र वस्तु

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हूं, जिसका किसी परसे कोई सम्बन्ध नहीं। समस्त पर से निराला यह मैं एक ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मवस्तु हूं। उसे श्रद्धा में लीजिए। मेरा ज्ञान बने, बस इसी उपयोग में बना रहे। यही है रत्नत्रय, यही है सुख शान्तिका, मुक्ति का मार्ग। यही है संकटों से छूट जाने का मार्ग। यह बात कर लीजिए गुप्त ही गुप्त। यह प्रकट करके नहीं हो सकता। कुछ लोग कहते हैं ना कि अपने गुण अपने मुख से बखानोगे तो हल्के हो जावोगे, फिर वे गुण न रह पायेंगे। उसका रहस्य क्या है? यही है कि जो मैंने साधना की, जो मेरे में गुण बने, जो मेरे में अपने आप चरित्र बनाया, उत्तम चीज प्राप्त की, उसी का अपने मुख से प्रशंसा करने लगे तो देखो हम बाहर में अधर्म करने लगे तो यह धर्म कहां रह गया? इसलिए कहते हैं कि गुण अपने में गुप्त रखो और उन्हें देख देखकर खुश रहो। देखो जैसे किसी गरीब को कोई निधि मिल जाय तो वह उसे एकान्त में बैठकर उसे खोलकर देखता है, खुश रहता है, इसी प्रकार किसी को यदि धर्म की निधि मिल जाय, ज्ञान की निधि मिल जाय, अपने आपको अकेला तकने की कुञ्जी मिल जाय तो एकान्त में समस्त परपदार्थों से उपयोग हटाकर, अपने आत्मा में अपने उपयोग को रमाकर अपने इस वैभव को देखते रहें, और खुश होते रहें, यह आत्मसाधना की बात है।

(२३०) धर्म के लिये जीवन की समझ—धर्म के लिए अपना जीवन समझिये—बाकी अन्य-अन्य काम तो जैसे होने होंगे पुण्य प्रताप से होंगे। जैसे कि पूर्व जन्म की जो साधना है उसके अनुसार जो कुछ होना होगा सो वह होता रहेगा, उनमें चित्त मत लगावो। वहां तो यह निर्णय बनाओ कि जो व्यवस्था जो भी सम्पदा, जो भी पद्धति बननी पड़ेगी बने, उसमें हम अपनी व्यवस्था बना लेंगे। देखो काम तो इतना ही करना है गृहस्थी में ऊपरी। थोड़ा भूख मिटाना है और कुछ कपड़े पहिनना है, इसके अतिरिक्त जरूरत क्या होती है? मगर अन्याय करके, लूट कर या अनेक विकल्प बनाकर किसी तरह से अपना धन वैभव भरना, यह सब किस लिए किया जा रहा है? देखो चक्रवर्ती क्या मेहनत करता है मगर छह खण्ड का वैभव उसके पास आ जाता है, तो वह वैभव उसके मेहनत करने से नहीं आता है, वह तो पूर्वकृत पुण्यकर्म के उदय से आता है। अपने धर्म की ओर दृष्टि दें तो सब अच्छा ही अच्छा होगा। और ऐसा करने के लिए ज्ञानार्जन ही एक मात्र उपाय है, लेकिन अज्ञान में खाली बैठते हुए अनेक कल्पनायें करते हैं, विकल्प करते हैं। अरे भाई गृहस्थ हो तो धन कमा लो जितना आपका मन करता हो, परन्तु कोई चोबीसों घण्टे कमाई का काम थोड़े ही करता है, अरे काम करने के तो कोई ८-१० घण्टे हैं, अब बाकी समय जो गप्प सप्प में व्यतीत हो जाता है। दूसरों की निन्दा करने वगैरह के खोटे कार्यों में व्यतीत हो जाता है तो वह फालतू समय बिताने में इस जीव की कोई भलाई है क्या? अरे वह तो पाप बंध किया जा रहा है, मोक्ष मार्ग के विपरीत चला जा रहा है। वह तो एक कुगति का रास्ता बन रहा है। तो भाई ये व्यर्थ की बातें मत करो। दो काम हैं मुख्य करने के एक तो आजीविका का काम करो और दूसरे आत्म कल्याण की साधना बने। घंटा डेढ़ घंटा प्रतिदिन नियमित रूप से स्वाध्याय हुए बिना जीवन का जाना यह बिल्कुल बेकार जीवन समझ लीजिये। तो स्वाध्याय में चिन्तन करें अपने आत्मा का और आत्मा को एक इस दृष्टि से देखिये कि सारी दुनिया में जहां अनन्तानन्त द्रव्य भरे पड़े हैं। अनन्तानन्त जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु है—एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असंख्यात काल द्रव्य है, इतने अनन्तानन्त पदार्थों के बीच में पड़ा हुआ यह मैं एक आत्मा अकेला ही हूं। इसका दूसरा कोई कुछ भी नहीं लगता। मैं अपराध करता हूं, भ्रम करता हूं, अज्ञान में रहता हूं, गलत रास्ते पर चलता हूं और अपने आप दुःखी होता चला जाता हूं। अपने आपके अकेलेपन का भाव करो। और निकट भविष्य में और कुछ विपत्ति ही नहीं है। मिनट दो मिनट का भी ऐसे भविष्य का चित्रण करो कि शरीर छोड़कर जब मैं चला जाऊंगा, शरीर छोड़कर तो जाना ही पड़ेगा, आंखों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

देखते ही हैं प्रतिदिन। अनेकों लोग प्रतिदिन मरण को प्राप्त होते रहते हैं, अनेकों लोगों को आप लोगों ने जलाया भी होगा। अनेकों की राख उठाई होगी, अनेकों की हड्डी चुनी होगी तिस पर भी यह विश्वास नहीं है कि हमारी भी एक दिन यही स्थिति होगी। इस शरीर को छोड़कर एक दिन जाना होगा। यहां परपदार्थों के संचय करने के लिए जो रात दिन विकल्प बनाये जा रहे हैं वे सब चीजें अन्त में कुछ मदद न कर सकेंगी। कुछ साथ दे देंगी क्या वे चीजें ? अरे उस मुर्दे की अंगुली में अगर अंगूठी बंधी रह गई होगी तो वह भी उतार ली जायगी एक सूत भी साथ में न जायगा जरा उस स्थिति का विचार तो कर लो। और ऐसा भी विचार लो कि ऐसी स्थिति मान लो कुछ वर्षों में आयगी लेकिन यह स्थिति अगर कुछ वर्ष पहिले आ चुकी होती तो क्या आज हम आप इस शरीर में उस ढंग से कहीं बैठे हुए नजर आते ? अरे मान लो कुछ दिन पहिले ही मरण को प्राप्त हो गए होते तो फिर यहां का कुछ भी मेरे लिये क्या था ? यहां से मरकर न जाने कहां से कहां पैदा हो गए होते। न जाने किस योनि में होते, न जाने कैसे कैसे कीड़ा मकोड़ा आदिक के देहों में फंसे होते, फिर यहां का कुछ भी था क्या हमारे लिए ? अब आज भी हम आपका जो शेष जीवन है वह केवल धर्म कार्यों के लिये है।

(२३१) व्यामोहवश सुख में धर्म के प्रति उपेक्षा—किसी विपत्ति के आने पर तो लोग सोचते हैं कि यदि मैं इस बार इस विपत्ति से बच गया तो बस धर्म ही धर्म करूंगा, मगर होता क्या है कि ज्यों ही वह विपत्ति (बाधा) टली कि फिर वे धर्म कर्म की बात को भूल जाते हैं। एक कथानक है कि कोई आदमी किसी नारियल के पेड़ पर चढ़ गया। चढ़ने को तो वह चढ़ गया मगर उतर नहीं पा रहा था। वह बहुत घबड़ा रहा था। उसे बचने का कोई आसार न दीख रहा था। सो वह सोचने लगा कि यदि मैं इस बार उतर गया तो १०० ब्राह्मण अथवा अनाथों को भोजन कराऊंगा ? समय की बात कि वह नीचे को खिसकने लगा, आधी दूर तक उतर आया। अब सोचा कि अगर १०० न खिला सका तो ५० को जरूर खिला दूंगा, कुछ और भी नीचे खिसक आया तो सोचा कि ५० को नहीं तो २५ को जरूर खिला दूंगा, यों ही कुछ और नीचे उतर आने पर सोचा कि १० को जरूर खिला दूंगा। जब वह बिल्कुल ही नीचे उतर आया तो सोचा कि वाह उतरा तो स्वयं अपने आप ही इसमें किसी को खिलाने की क्या बात ? तो ऐसे ही यहां हम आप भी जब कभी बचने की उम्मीद नहीं नहीं रहती तो सोचते हैं कि इस बार यदि बच गया तो फिर खूब मन माना धर्म करूंगा, पर बच जाने पर वह समय निकल जाने पर फिर धर्म कर्म की बात को भूल जाते हैं। तो भाई धर्म के सिवाय किसी का कुछ शरण नहीं है और अपने आपको अकेला निहारो, क्योंकि अकेले ही हो, अकेला निहारो और यह जानकर कि धर्म से ही मेरे को सुख शान्ति हो सकती अन्य से नहीं, उस धर्म के लिए, उस ज्ञानार्जन के लिए अपना उत्साह बढ़ावें तो इसमें जीवन सफलता की है।

(२३२) निमित्तनैमित्तिक भाव व वस्तुस्वातन्त्र्य के अपरिचय में कषायवश कष्टों का भार—दो बातों का समझ लेना आवश्यक है, वे कौन सी बातें हैं ? एक तो निमित्तनैमित्तिक भाव, दूसरा वस्तुस्वातन्त्र्य अर्थात् जगत में जो कुछ भी बात उल्टी चल रही है, विभाव, विकार कषाय इच्छा विषय आदिक परिणाम चल रहे हैं, इनके चलने में कर्मोदय निमित्त है और ये नैमित्तिक है अर्थात् कर्मोदय के बिना विकार नहीं बनते। इसलिए इनमें निमित्तनैमित्तिक भाव है। इनका जो गूढ़ रहस्य है वह समझ लेना चाहिए और दूसरा है वस्तुस्वातन्त्र्य याने प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, वह अपनी परिणति से ही परिणमता है, कोई दूसरा पदार्थ उसे द्रव्य गुण पर्याय दे नहीं देता है, इसे कहते हैं वस्तुस्वातन्त्र्य। इन दोनों बातों को सही समझ लेने पर शान्ति का मार्ग स्पष्ट हो जाता है। इन्हीं दो बातों पर आज कुछ विवेचन करेंगे। बात कुछ कठिन सी भी लगे तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मुझ पर पड़ा, मैं उससे आक्रान्त हो गया। तो नाना प्रकार के ये विकार उत्पन्न होते रहते हैं, तो इन विकारों का करने वाला मैं स्वयं हूं।

(२३५) वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव के एकत्र परिचय में तथ्य का दर्शन व प्रयोग—वस्तुस्वातन्त्र्य की ओर से देखिये कि निमित्त के सन्निधान में यह जीव अपनी परिणति से रागी द्वेषी बनता और निमित्तनैमित्तिक भाव से बांधे कर्म अपने में रहे, किन्तु उसका निमित्त पाकर जीव में कषायभाव जग गया। तो इस रहस्य को न समझने के कारण ऐसा अज्ञान जीवों के बनता रहता है जिसके कारण इसे दुःखी रहना पड़ता है। कितने ही विकल्प करता है। जैसे ये विकल्प करता है कि अमुक मुझे दुःखी करता है ऐसा सोचने में जैसे कष्ट रहता है वैसे ही ऐसा सोचने में बड़ा कष्ट है कि इसने मुझे सुखी किया। भीतर में आकुलता रहती है चिन्ता रहती है। कितने ही विकल्प उत्पन्न होते हैं। जब कोई यह मान ले कि मुझे तो लड़के ने सुखी किया, पिता ने सुखी किया, स्त्री ने सुखी किया, इस प्रकार का मिथ्याभाव जब रहता है तो उस श्रद्धा में भी इस जीव को निरन्तर क्षोभ रहता है और जितने वियोग आदिक के कष्ट उठाने पड़ते हैं उनका कारण है यह ही अश्रद्धान। तो जैसे कोई दूसरा मुझे दुःखी करता है ऐसा सोचनें में कष्ट है इसी प्रकार कोई मुझे सुखी करता है ऐसा सोचने में भी कष्ट है। जब यह निर्णय बने कि मैं एक ज्ञानस्वरूप स्वच्छ आत्मा हूं, मैं अपने आत्मा के सही स्वरूप को जानता रहूंगा तो मैं आनन्द में रहूंगा और जब मैं अपने स्वरूप की जानकारी से चिग कर कल्पनायें बनाऊंगा तो नियम से दुःखी होऊंगा।

(२३६) कल्पनाओं का फल क्लेश—कल्पनाओं का फल दुःख है। चाहे पर से सुख मानने की कल्पना हो, उसका फल दुःख ही है। जैसे किसी सर्प का नाम सांपनाथ रख लो चाहे नागनाथ रख लो। कहीं ऐसा नहीं है कि सांपनाथ कहने से तो जिसे काट लेगा वह मर जायगा और नागनाथ कहने से न मरेगा, ऐसी बात नहीं है। नाम चाहे जो धर लो, पर काट लेगा तो मरण हो जायगा, ठीक ऐसे ही चाहे सुख नाम रख लो तो, दुःख नाम रख लो तो, दुःख दोनों ही स्थितियों में मिलेगा जैसे दुःख में यह जीव आकुलित रहता है अशान्त रहता है इसी प्रकार सुख में भी यह जीव आकुलित रहता है, अशान्त रहता है। ये सुख दुःख की कल्पनायें अज्ञान हैं। इनसे कोई जीव शान्त नहीं रह सकता। एक शब्द है 'सुन्दर' तो जरा देखो तो सही कि इस सुन्दर शब्द का क्या अर्थ है ? लोग तो कहेंगे कि सुन्दर का अर्थ है जो मन को सुहावना लगे पर सुन्दर शब्द का असली अर्थ यह नहीं है देखिये सुन्दर शब्द का अर्थ है—जो तड़फा-तड़फ कर मारे। कैसे ? देखिये इस सुन्दर शब्द में ३ शब्द हैं सु, उन्द और अर। सु उपसर्ग है, उन्द धातु है और अर प्रत्यय लगा हुआ है। उन्द क्लेदने धातु है जिसका अर्थ है क्लेदन करना क्लेदन करना वह कहलाता है जैसे कि किसी की खाल छीलकर उसमें नमक छिड़क दिया जाय तो जो कष्ट उसमें होता है उस कष्ट को क्लेदन कष्ट कहते हैं। उसमें जीव को बड़ी पीड़ा होती है। अब उस उन्द शब्द में सु शब्द पड़ा हुआ है जिसका अर्थ है खूब अच्छी तरह से पूरी ताकात से जो तड़फाये, उसे कहते हैं सुन्दर। यह सुन्दर शब्द का अर्थ है। इसी तरह सुख को भी देख लीजिये। सु का अर्थ है सुहावना और ख मायने इन्द्रिय। जो इन्द्रिय को सुहावना लगे सो सुख मगर ये इन्द्रियां हमारी बैरी हैं। हम तो सर्वज्ञ स्वभाव वाले हैं, ऐसा ज्ञान प्रताप है कि हम सारे लोक को जान जायें और ऐसा ज्ञान हो कि रंचमात्र भी दुःख नहीं हो, लेकिन साथ में ये जो हत्यारी इन्द्रियां लगी हुई हैं, जिन इन्द्रियों के वंश होकर मुझको नाना कष्ट भोगने पड़ते हैं। ये इन्द्रियां विषयों को चाहती हैं, कान राग रागनी के शब्द सुनना चाहते हैं, आंखे अच्छा रूप देखना चाहती हैं। यों अलंकार में कह लो कि हैं तो जड़ मगर इनकी करतूत विचित्र है। तो ये इन्द्रियां अपने इन विषयों में सुख माना करती हैं और उनसे ही यह त्रिलोकीनाथ, यह अधिपति, यह सर्वज्ञ स्वभाव वाला, यह परमात्मस्वरूप दुःखी होता रहता है। यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भी उपयोग को केन्द्रित करके बड़े ध्यान से सुनो—यदि कठिन बात को सुनने से इन्कार ही रहे तो जीवन में फिर कब सही बात की समझ आ सकेगी ? ध्यान से सुनो, सब समझ में आ जायगा इन दो बातों से मुख मोड़कर अज्ञानी जीवों ने अब तक निमित्त कर्ता की बात कही है । जैसे मैं मकान बनाता हूं, मैं पालन पोषण करता हूं, लोग मुझे सुखी करते हैं अमुक लोग मुझे दु:खी करते हैं आदिक कर्तापन की बात ला दे अथवा सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह सोच लीजिये कि कर्तापन की बात यों ला दी कि लोग कहते हैं कि कर्म ही सुखी दु:खी करता है, कर्म ही जीव को नचा है यों कह डालते हैं। जैसे कि मानो कर्म इस पर जबरदस्ती करते हों और यह कुछ न कर पाता हो, इस तरह लोग कर्तृत्व की बुद्धि लादे हैं, उससे हटने के लिए उक्त दो बातो को समझ लीजिए। सबसे पहिले आप किस बात को समझना चाहते हैं।

(२३३) वस्तुस्वातन्त्रय के परिचय का लाभ—इस कभी इसका निर्णय नहीं कर पाये कि आपको कौन सी बात सुनायें जो आसान पड़े और बाद में कौन सी बात सुनायें जो कि कठिन होकर भी आसान लगे । खैर वस्तुस्वातन्त्र्य से शुरू करें। देखिये जगत में जितने भी पदार्थ हैं वे स्वयं सत् हैं या किसी ने स्वयं सता बनाया ? स्वयं सत् जो जगत में है उसको कोई बना नहीं सकता । तो सभी पदार्थ स्वयं सत् हैं, और जब सत् हैं तो उनमें यह कला अपने आप पड़ी हुई है कि यह उत्पाद व्यय निरन्तर करता रहता है, नवीन पर्याय का उत्पाद करे और पुरानी पर्याय को विलीन करे, बस ये सत् के अभिन्न धर्म हैं । ऐसा करते हुए ही ये सत् रह सकते हैं कि अपनी नवीन पर्याय बने और पुरानी पर्याय विलीन करे, प्रत्येक सत् में यह कला पायी जाती है। तो अब देखिये मैं भी सत् हूं ना ? हूं। तो मेरे में भी यह कला है कि मैं प्रतिसमय नवीन पर्याय को बनाऊं और पुरानी पर्याय को विलीन करूं। पर्याय के मायने दशा । जो स्थिति बनी है उसे कहते हैं पर्याय । तो इस प्रकार की वस्तु की स्वतन्त्रता स्वयं सिद्ध है।

(२३४) निमित्तनैमित्तिक भाव के परिचय का लाभ—वस्तुस्वातन्त्र्य होने पर यह बात भी समझ में आयगी कि कोई पदार्थ अपनी ओर से अपने आप अपना ही निमित्त करके बिगड़ता नहीं है, यह वस्तु में समता की बात, शान्ति की बात, क्षोभरहित की बात, स्वभावरूप रहने की बात सबमें प्रकृत्या पायी जाती है जैसे कोई स्फटिक मणि है अथवा कांच है तो वह तो सफेद है, अत्यन्त स्वच्छ है । वह कांच अपने आपकी ओर से अपना ही निमित्त करके रंग बिरंगा हो रहा है क्या ? वह तो स्फटिक पाषाण अथवा मणि अपने आपकी ओर से तो अत्यन्त स्वच्छ ही रहती है और निरन्तर जगमगाती हुई केवल अपने आपमें स्वच्छतारूप ही परिणमती रहेगी, लेकिन कोई उपाधि सामने आ जाय तो जिस रंग की वह उपाधि हो वैसे ही रंग रूप की उस स्फटिक में भी छाया, आभा आ जाती है। तो कोई भी पदार्थ अपने आपकी ओर से मलिन नहीं होता । तो मैं भी एक उपयोग स्वरूप आत्मा हूं ज्ञानरूप । जिसका जानन निरन्तर काम है। ऐसा स्वभावरूप मैं आत्मा अपने आपकी ओर से क्रोधी, मानी, कामी आदिक नहीं बनता, किन्तु जिस-जिस जाति के कर्म उदय में आते हैं उस प्रकार से आत्मा में वह छाया पड़ती रहती है और यह जीव उसे अपना लेता है। देखिये—इस ज्ञान में दो तरह की बातें आती हैं—एक तो आश्रयभूत और एक निमित्तभूत। आश्रयभूत तो यों है कि हम यदि बाह्य पदार्थों को अपने ज्ञान में लें तो वह आश्रयभूत कहलाता है, मगर कर्म का हम ज्ञान कहां करते ? कर्म यहां एक क्षेत्रावगा हमें हैं, उनका हम बोध नहीं बनाते, किन्तु जब उदय आता है तो वह प्रतिभास तो होता है, किन्तु वह प्रतिभास आश्रय के ढंग से नहीं होता। निमित्त के ढंग से होता, एक जड़ता के रूप से होता है। तो कर्म का उदय आया उसका आवरण

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कहानी अपनी खुद की है। तो जगत के इन पदार्थों का मोह रंच भी न रहे, इन पदार्थों में जरा भी लगाव न करे।

(२३७) काल्पनिक कीर्ति के कलन की कल्पना का विकट कष्ट—सबसे बड़ा लगाव इस जीव को होता है तो इज्जत कीर्ति का। मेरी इज्जत रहे, सम्मान रहे, कीर्ति रहे, और लोग हमसे खुश रहें, मगर यह है महाविष। जिसे कहते हैं संसार में रुलना, कष्ट पाना। अहो सम्यदर्शन का अभ्युदय हुए बिना इस कीर्ति से लगाव नहीं हट सकता। यहां से कहां पैदा हो गए। हमारी इज्जत कहां काम देगी? जैसे धन काम न देगा मरने के बाद ऐसे ही यह कीर्ति भी काम न देगी। काम देगा अपने आपका सदाचार अपने आपका श्रद्धान, अपने आपकी सरलता, यह काम देगी। ऐसा श्रद्धान रखते हुए यदि कोई काम होता हो तो उसमें इज्जत का लगाव न रहेगा। मगर जिस इज्जत से इस जीव को लगाव है उससे तो इस जीव की बरबादी है।

(२३८) सहजज्ञानानन्दमय सहजात्मस्वरूप के अतिरिक्त सबकी मेरे लिये असारता—संसार में कौन सा ऐसा पदार्थ है जो मेरे को सुखी कर दे, शान्त कर दे? तब क्या करना? सब ओर से आंखें मीचकर अपने आपको निरखना। मैं इतना शान्त ही हूं, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ज्ञान ही मेरा सर्व निधान है। इसके अतिरिक्त मेरा कुछ नहीं है। अगर परिजनों का, धन वैभव आदि का लगाव है तो उसमें तो अपनी बरबादी है। मामला तो स्पष्ट है कि इस ज्ञान कला के द्वारा हम भी दुःखी हो सकते हैं और इस ही ज्ञान कला के द्वारा हम सुखी भी हो सकते हैं। अब अपनी अपनी छांट है कि हम शान्त रहना चाहते हैं या संसार में सदा के लिए दुःखी रहना चाहते हैं। अगर दुःखी रहना ही पसन्द है, यह छांट आपने किया है तब तो मोह रागद्वेष सस्ते लग रहे हैं सो उपाय है ही और यदि अपने को शान्ति चाहिये है, सदा के लिए जन्म मरण के संकटों से छुटकारा चाहिए है तो उसका उपाय है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र। अन्य सब बातें बेकार समझ लीजिए। अरे भाई बेकार कैसे हैं कोई सोचता होगा? कुछ धन रहेगा तो हम समाज में इज्जत पायेंगे, कुछ साता से बैठ तो सकेंगे। अरे किसे दिखाना चाहते? स्वयं को कितनी आवश्यकता है? वह तो बहुत अल्प है, लेकिन जितनी आवश्यकतायें बढ़ा दी, जितनी चिन्तायें बढ़ा दी, वह सब दूसरों का लगाव लेकर कर रहे हैं।

(२३९) आत्मस्वरूप की सम्हाल में ही अपनी सम्हाल—भैया! किसे दिखाना चाहते कि मैं इज्जतदार रहूं? अरे वे स्वयं कर्म के प्रेरे, जगत के ऐसे ही पापी, खोटे विचार वाले मोही, जन्म मरण का कष्ट सहने वाले, इन कर्मसहित जीवों की दृष्टि में आप अपनी इज्जत चाहते हैं तो यह क्या कोई हित की बात है? अरे उसकी अपेक्षा तो यह चाहें कि अनन्त भगवानों के ज्ञान में मेरी इज्जत रहे। अरे इन-इने गिने कुछ लोगों में क्यों इज्जत की बात सोच रहे हो? ये सब तो व्यर्थ की बातें हैं, अरे इन मोही मलिन जीवों के बीच में चाहे कितना ही अपमान हो तो उस अपमान से इस आत्मा का बिगाड़ क्या होता है? केवल एक अपने आत्मा को सम्हाल लिया समझो सब कुछ सम्हल गया। हां गृहस्थधर्म में इतना कर्तव्य तो होता ही है कि भाई ढंग से रहें, कुछ कीर्ति सम्पादन करें, वह भी एक रक्षा की चीज हैं लेकिन जो ऊंचे विचार रखें कि हमें तो कीर्ति मिले तो भले ही कीर्ति मिल जाय, पर उसको आत्मकल्याण नहीं हो सकता। तो हमें सबसे पहिले दो बातों पर विचार करना चाहिए—वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्त नैमित्तिक भाव। कर्म निमित्त हैं और उस निमित्त सन्निधान में इस जीव में काला प्रतिभास आ जाता है। देखो किसी दर्पण पर बहुत तेज काले, पीले अथवा नीले कपड़े या कागज की छाया पढ़ जाय तो उस दर्पण में कुछ लगता है ऐसा कि इसमें स्वच्छता ही नहीं है, अंधेरा सा लगता है। तो ऐसा अंधेरा ही कालापन इस जीव में आया है तो यह उपयोग जड़वत हो गया है। मैं ज्ञानमात्र हूं, और यह सब कर्म की लीला है। कर्म की लीला सदा न रहेगी मेरा ज्ञानस्वरूप सदा रहेगा। कर्म की लीला मेरे सुख के

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लिए नहीं हुआ करती, किन्तु मेरा स्वरूप मेरो सुख शान्ति के लिए है ऐसा जानकर, कर्म की लीला को पर जानकर इससे हटें और अपने ज्ञानस्वरूप इस अन्तस्तत्त्व को अपनायें तो यह सम्यग्ज्ञान अपने आपको एक कल्याणपथ में ले जायगा। यह बात जरा समझनी है कि कर्म का उदय आने पर आत्मा अपने आपकी परिणति से कालिमारूप होकर चिदाभास होकर अपने को दुःखी किया करता है।

(२४०) एक में दूसरे से बाधा की अशक्यता—प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र सत्ता रखती है। किसी का किसी पर अधिकार नहीं। आप तो जैसी कल्पना बनायेंगे वैसा कष्ट पायेंगे। हम इन कष्टों से बचें यह हमारा अधिकार है। हम ही अपने कष्ट को निवृत्त कर सकते, दूसरा नहीं। देखो जब सीता जी अर्जिका हो गयीं, फिर उनका स्वर्गवास भी हो गया और वह मरकर १६ वें स्वर्ग से प्रतीन्द्र बनी। तो अवधिज्ञान से उस प्रतीन्द्र ने सोचा कि श्रीराम मुनि हो गए हैं और वह ज्ञानध्यान में रत हैं तो ऐसा उपाय करें कि जिससे श्रीराम जल्दी मोक्ष न जावें, अगर हम दोनों एक साथ मोक्ष जावें तो अच्छा है। (देखिये ऐसी दोस्ती लगती तो सरल है, मगर निभ सकती है क्या? नहीं निभ सकती।) तो उस प्रतीन्द्र के मन में आया कि श्रीराम को ध्यान से डिगा दें, यह अपने ध्यान से चिग जावें तो इनका मोक्ष अभी रुक जायगा, बाद में हम दोनों एक साथ मोक्ष जायेंगे। तो उस प्रतीन्द्र ने श्रीराम को डिगाने का बड़ा प्रयत्न अनेक प्रकार के हाव-भाव नृत्व आदि दिखाये, सब प्रकार से रिझाने का प्रयत्न किया, यहां तक कि ऐसा भी दृश्य दिखाया कि रावण सीता के केश पकड़कर घसीट रहा है और सीता विलाप करती है—हा राम, हा राम, बचाओ, बचाओ, परन्तु इतने पर भी श्रीराम रंच भी न डिगे। तो देखिये—न तो कोई किसी को मुक्त कर सकता है और न कोई किसी को संसारी बना सकता है। सब जीव अपने आपकी परिणति से सुखे दुःख पाते हैं, कल्याण अकल्याण पाते हैं तो बात अन्त में एक यह समझना होगा कि अपने स्वरूप को देखो। मैं एक हूं, अकेला हूं। मेरा कोई शरण नहीं, मेरा कोई साथी नहीं जो कुछ करना होगा सो मुझे अपने आप अकेले को ही करना होगा। ऐसा अपने एकत्वस्वरूप का विचार करें और अपने को अकेला निरखकर अपने आपको संतुष्ट बनायें। सच बात तो यह है कि एक यह निर्णय बना ले, सच्चा ज्ञान-प्रकाश बना लें कि यह धन वैभव, यह इज्जत प्रतिष्ठा, ये परिजन मित्रजन आदि मुझे सुखी नहीं करते, मैं तो एक अकेला कर्मोंसे लदा हुआ एक अपने आपमें कर्मों को भोग रहा हूं, और अपनी कल्पना से सुख दुःख पाता रहता हूं।

(२४१) सम्यक् ज्ञान के बल से कषायों का परिहार करने में हो आत्महित का लाभ—हित में शान्ति है और अहित अशान्ति में है। अशान्त होता है तो यह क्षुब्ध बेचैन रहता है और जब शान्त होता है तो यह प्रसन्न आनन्दमय रहता है। तो यहां यह बात विचारें कि शान्ति कैसे मिलती है और अशान्ति कैसे होती है? शान्ति होती है कषाय के आभाव से क्रोध मान, माया, लोभ ये चारों कषायें न रहें तो इस जीव को शांति है। अनुभव भी बताता होगा कि जब किसी पुरुष पर क्रोध किया जा रहा है तो उस समय कितनी अशान्ति रहती है। मान किया जा रहा हो, मायाचार किया जा रहा हो, अथवा लोभ किया जा रहा हो तो उस समय जीव को अशान्ति रहती है। जब कषाय मंद हो तब शांति मिलती है, तो ये कषाय कैसे मिटे इसका उपाय जानना चाहिए। कषाय मेटने का उपाय कोई बाहरी जबरदस्ती नहीं है। तन, मन, वचन को रोकना यद्यपि एक साधन बताया गया है मगर तन, मन वचन को रोकने से भी अशान्ति मिटती नहीं है, उसका मूल उपाय है सम्यग्ज्ञान। अगर वस्तु का सही सही बोध हो जाय तो अशांति दूर हो सकती है। बोध में कैसे आशांति दूर होती है। बात यह है कि जब यह जीव किसी पर पदार्थ में लगाव रखता है तब ही कषाय होती है और अशांति रहती है। किसी को इष्ट माना, किसी को अनिष्ट बस सब अशांति की जड़ यही है कि कोई पदार्थ इष्ट लग रहा है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कोई अनिष्ट । किसी को मान लिया कि यह मेरा है, किसी को मान लिया कि यह मेरा विरोधी है, बस परपदार्थों में जो यह राग विरोध की छंटनी है इष्ट अनिष्ट की छंटनी है यह ही कहलाता है मिथ्याज्ञान और इस छंटनी के आधार पर कषाय और अशांति चलती है । ये सब बातें दूर हो सकती हैं तो सम्यग्ज्ञान से। जब वस्तु के स्वरूप का ज्ञान किया जायगा तो पता होगा कि ओह मुझ ज्ञानस्वरूप आत्मा का तो दुनिया में परमाणुमात्र भी कुछ नहीं है।

(२४२) पदार्थों के साधारणस्वरूप के परिचय में ही विरक्ति संपादक ज्ञान का प्रकाश—देखो प्रत्येक पदार्थ में ६ बातें साधारणरूप से होती हैं ? अस्तित्त्व जिसके प्रताप से पदार्थ की सत्ता है। है ना पदार्थ बस इसी को ही हम अस्तित्त्व शक्ति से ज्ञान कराते हैं । तो प्रत्येक पदार्थ चूंकि हाता है । है, इसलिए सिद्ध है कि आत्मा का अस्तित्त्व है, लेकिन है है इतने से पदार्थ का परिचय नहीं होता । पदार्थ है कब रह सकता है कि जब पदार्थ अपनी ही सत्ता से हो और पर की सत्ता से न हो । अगर कोई पदार्थ ऐसा स्वीकार कर ले कि हमने तो कह दिया कि यह है रहेगा तो हम भी हैं रहेंगे और यह भी है हो जायगा । कुछ कुत्ता बिल्ली अथवा पेड़-पौधे या भींत निवाड सब कुछ हो जायगा तो पदार्थ तो न रहेगा । पदार्थ तब ही रहता है कि वह वह ही हो, दूसरा कुछ न हो । एक पदार्थ की सता तब है जब कि वह उस ही रूप से तो है और अन्य पदार्थ के रूप से नहीं है । अगर यह सबके रूप से हो जाय तो यह है न रहेगा, इसलिए पदार्थ है और अपने रूप से है, पर रूप, से नहीं है, इसे कहते हैं वस्तुत्व । वस्तुत्व हो गया, मगर इतने से पदार्थ की यात्रा नहीं चल सकती, वह त्रिकाल नहीं रह सकता । उसका अस्तित्त्व नहीं बन सकता । तो वह है, अपने रूप से है, पररूप से नहीं, है ऐसा होने के बावजूद भी उसमें प्रतिसमय परिणमन होता रहता है । अगर परिणमन न हो तो कोई पदार्थ है नहीं हो सकता । जो है वह नियम से प्रतिसमय परिणमन होता है, मगर उसे हम जानते नहीं हैं। चूंकि है इसलिए परिणमन जरूर है । तो मैं हूं अपने रूप से हूं, पररूप से नहीं हूं, इसलिए निरन्तर परिणमता रहता हूं । मैं निरन्तर परिणमता रहता हूं । मैं निरन्तर परिणमता तो रहता हूं, लेकिन मैं अपने रूप परिणमूं । दूसरे रूप परिणमूं, तो क्या काम बन जायगा ? नहीं । अब मैं न रहा, मेरा अस्तित्त्व खत्म हो जायगा, इसलिए मैं अपने रूप से ही परिणमता हूं, पररूप से नहीं, यह व्यवस्था बनती है अगुरुलघुत्व गुण के कारण । इतना होने के बाद भी अगर इसका कोई ढांचा न होता, उसका कोई आकार न होता, उसका कोई प्रदेश न होता, विस्तार न होता । तो फिर मेरी सत्ता क्या ? मैं तो हूं और मेरा कोई विस्तार है । जैसे ऐसा लगता कि मैं सारे देह में व्याप्त हूं, तो इसे कहते हैं प्रदेशवत्व गुण । इतना होने पर भी अगर यह ज्ञान में नहीं आया कि अस्तित्व क्या है ? यह ज्ञान में आता है यह है प्रमेयत्व गुण का प्रताप । ये छहों बातें प्रत्येक पदार्थ में मिलती हैं ।

(२४३) असाधारण गुण के परिचय से परविविक्तता का परिचय—असाधारण गुण के परिचय से आत्मा की परविविक्तता स्पष्ट होती है । आत्मा का असाधारण गुण है चैतन्य । प्रत्येक पदार्थ से निराला हूं, ज्ञानस्वरूप हूं इसलिए अपने को ज्ञानस्वरूप परखना है । ऐसा जब जान लूंगा कि मैं हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, परपदार्थों से निराला हूं, अकेला हूं, अकेला ही यात्रा करता हूं, अकेला ही अपना अनुभव करता हूं, अकेला ही सुख दुःख भोगता हूं । सब कुछ बात तो अकेले अकेले में होती है, जहां यह बोध हुआ वहां ईष्ट अनिष्ट बुद्धि परपदार्थ में न रहेगी । लोग तो घर, स्त्री, पुत्र, भाई, बंधु, परिवार, पार्टी के लोग, इनको अपना इष्ट मानते हैं, मगर जहां इष्ट की कल्पना उठी तो ज्ञान का ढांचा बना । जहां अज्ञान का ढांचा बना वहां क्षोभ के निरन्तर कारण बनते हैं । वह जीव शान्त नहीं रह सकता । तो सम्यग्ज्ञान करना है । सम्यग्ज्ञान कैसे होगा ? सम्यग्ज्ञान का अभ्यास बने, तत्त्वज्ञान का अभ्यास बने यह सब असाधारण गुण के परिचय के आधार पर होगा ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(२४४) निज के स्वभाव व परिणमनविधान का परिचय—इस प्रकरण में दो बातें समझें। देखो पदार्थ को जानने की दो किस्में हैं—एक तो इस तरह जानना कि कोई पदार्थ अपने आप अपनी सत्ता से अपने में स्वयं कैसा है, एक तो इस ढंग से जानना और एक इस ढंग से कि वे पदार्थ परिणमते हैं तो किस-किस तरह से परिणमते हैं अथवा परके प्रसंग में निमित्त सन्निधान में किस किस तरह परिणमते हैं, वह परिणमन स्वभाव के अनुरूप है या स्वभाव के विपरीत है, इस तरह की भी जानकारी की जाती है। तो एक सहजस्वरूप की जो जानकारी है उसे तो कहते हैं शुद्धनय और जो सहजस्वरूप के अतिरिक्त अन्य जितनी भी जानकारियां हैं उसे कहते हैं अशुद्धनय। शुद्धनय में क्या जाना जायगा ? अपने आपके बारे में कि मैं हूं, इन दो बातों की परख कीजिये—शुद्धनय और अशुद्धनय से। शुद्धनय से क्या जाना जायगा ? यह मैं टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकभाव हूं, और अशुद्धनय में क्या जाना जायगा कि अरहंत परमेष्ठी की दशा, सिद्ध परमेष्ठी की परिणति, संसारियों की परिणति, अज्ञानियों की परिणति। परिणतियां सब अशुद्धनय की आयीं। यह बात हम कह रहे हैं मूल को उठाकर। अशुद्धनय में भी फर्क है। अशुद्धनय कोई तो स्वभाव वाला है, कोई विभाव वाला, लेकिन एक अपने आत्मा के शुद्ध ज्ञायकस्वरूप के मामले में सब अशुद्धनय कहलाते हैं। अब इसी बात को···यहां शुद्ध से मतलब है अखण्ड और सहजभाव से। और अशुद्धनय से मतलब है खण्ड एवं असहज भाव से। तो अखण्ड भाव केवल एक मौलिक दृष्टिस्वभाव है, वह तो शुद्धनय का विषय है और एक स्वभाव के अतिरिक्त परिणमन कहो, गुण कहो, और और भी भेद बनायें, चाहे स्वभावपर्याय हो, चाहे विभावपर्याय हो, जहां विकल्प उठा, जहां खण्ड हुआ, जहां अंश जाना गया वह सब अशुद्धनय है। इस प्रकरण में एक बात और समझें कि जहां यह भेद किया है कि तत्त्व ७ हैं—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष इन ७ तत्त्वों का जानना शुद्धनय से नहीं होता, अशुद्धनय से होता है। मोक्ष भी अशुद्धनय का विषय है बंध भी अशुद्धनय का विषय है। यहां पर्यायविषयक शुद्ध अशुद्ध की बात नहीं कह रहे कि यह शुद्ध है, यह अशुद्ध है, लेकिन यह बात कह रहे कि जहां भेद किया वह अशुद्ध है, जहां अखण्ड देखा वह शुद्ध है। मोक्ष, इसमें यह बात आयी कि यह जीव पहिले बंध दशा में था, उसने कोई सम्वर निर्जरा का उपाय बनाया, उससे मोक्ष दशा हुई। वह मोक्ष दशा तो कभी से उत्पन्न हुई, अनादि से नहीं है। जो अनादि अनन्त हो, त्रैकालिक हो, सहज हो, निरपेक्ष हो वह शुद्धनय का विषय।

(२४५) शुद्धनय के आश्रय से सम्यक्त्वसंभूति—अब आगे और बढ़ें, जहां यह लिखा है कि जो शुद्धनय का आश्रय करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है। जो भूतार्थ का आश्रय करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है, तो इससे बात यह लेना कि अशुद्धनय में अरहंत और सिद्ध पर्याय भी जानी गई। है वह शुद्ध पर्याय। पवित्र है, परमात्मा की पर्याय है, लेकिन उस पर्याय का आश्रय करने से आत्मा में अखण्ड का परिचय नहीं होता। उस पर्याय को निरख करके पर्याय के श्रोत अखण्ड स्वभाव पर दृष्टि पहुंचती है, इतना तो लाभ है, मगर साक्षात् उस अनन्त ज्ञानपर्याय को ही ज्ञान में लें तो अखण्ड दशा का परिचय नहीं बनता। अखण्ड स्थिति का परिचय बनता है ज्ञानस्वभाव को ज्ञान में लेने से। यह तो एक बहुत गम्भीर अन्तस्तत्त्व की बात कही है।

(२४६) निश्चय व व्यवहार विधि का वर्णन—अब जरा और निर्णय करने के लिए दूसरी पद्धति लीजिए। वर्णन होता है दो ढंगों से एक तो एक द्रव्य का एक द्रव्य में एक द्रव्य की ही चीज को निरखने का। दूसरे दूसरे द्रव्य के सम्बन्ध से होने वाली बात को या सम्पर्क को निरखने का। एक द्रव्य को एक द्रव्य में ही देखने की पद्धति को कहते हैं निश्चयनय और सम्पर्क को या एक द्रव्य के सम्बन्ध से दूसरे द्रव्य में होने वाली बात को कहते हैं व्यवहारनय। अब यह दूसरी पद्धति से बात कह रहे हैं, निश्चयनय होता है तीन प्रकार का परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय। परमशुद्धनिश्चयनय तो वह है जो अभी शुद्धनय बताया था।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अखण्ड एक अभिन्न, निर्विकल्प स्वभाव को ज्ञान में लेना परमशुद्ध निश्चयनय का विषय है, शुद्ध निश्चयनय का विषय है अरहंत सिद्ध परमात्मा की पर्याय को जानना। प्रभु अनन्त ज्ञानी हैं, प्रभु अनन्त दृष्टा हैं, प्रभु अनन्तवीर्यवान हैं, वीतराग हैं, परमपवित्र हैं, उनकी भक्ति होना, उनके स्वरूप का बोध होना यह कहलाता है शुद्धनिश्चयनय का विषय और संसारी जीवों की पर्याय को देखना यह रागी है, यह द्वेषी है यह कहलाता है अशुद्धनिश्चयनय का विषय और किसी परद्रव्य का कोई सम्बन्ध लेकर किसी बात को समझना यह कहलाता है व्यवहारनय। यहां तक कि कोई अभी यह कहे कि कर्म का क्षय होने से परमात्मा बने हैं तो यह व्यवहारनय का विषय हो गया। किसी दूसरे द्रव्य का सम्पर्क लगा लेना—जैसे यह जीव रागी है तो यह अशुद्धनिश्चयनय का विषय हो गया। एक ही पदार्थ में देखा, एक में देखा, चाहे अशुद्ध देखा मगर एक का सम्बन्ध रहे वह है निश्चयनय की सीमा। जहां दो का सम्पर्क बनाया तो वह हो जाता है व्यवहारनय का विषय। तो जीव केवलज्ञानावरण के क्षय से सर्वज्ञ होता है यह व्यवहारनय का विषय हो गया। क्योंकि उसमें कर्म का नाम ले लिया। लिया है क्षय कह कर मगर एक सम्बन्ध बताया जब दूसरे पदार्थ का प्रभावरूप से या सद्भावरूप से तो वह व्यवहारनय होता है। यह सद्भाव है व्यवहारनय। जीव क्रोधी होता है कर्म के उदय से, यह कहना भी व्यवहार है। तो अब निश्चय और व्यवहार इन दो पद्धतियों में असत्य किसी को न कहा जायगा। सत्य तो सारी बात है, मगर व्यवहारनय कहता है क्या समझाने के लिए उसका प्रयोजन जानना चाहिए। व्यवहारनय विधि विधान बताता है और निश्चय सीधी एक बात को बताता है। तो विधि विधान क्या गलत है? कर्म के क्षय से मुक्ति होती है, कर्मक्षय से परमात्मा होता है,....यह विधि विधान है। इस विधि विधान को बतलाता है व्यवहारनय और एक वस्तु को दिखाता है निश्चयनय। विधान भी असत्य नहीं और एक वस्तु के दर्शन होना वह भी असत्य नहीं।

(२४७) व्यवहार और निश्चय की प्रयोजकता—समय समय पर व्यवहारनय भी प्रयोजनवान है और निश्चयनय भी प्रयोजनवान है। व्यवहारनय न हो तो समझाना नहीं हो सकता, अज्ञानियों को कैसे समझाया जाय, ग्रन्थनिर्माण नहीं हो सकता। न समझने वालों को किस तरह समझायें वहां तो व्यवहारनय ही काम देगा। जैसे कोई संस्कृत भाषा का जानकर पुरुष किसी अंग्रेजी जानने वाले को आशीर्वाद देता है तो कहता है कि स्वस्ति भव। याने तुम्हारा कल्याण हो। पर वह बेचारा समझ न सका, उसने तो कोई गाली जैसा समझा तो झट नाराज हो गया और भला बुरा बकने लगा। अब बताओ उस अंग्रेज को कैसे समझाया जाय? तो उसका उपाय यही है कि जो पुरुष संस्कृत और अंग्रेजी दोनों भाषायें जानता हो वह पुरुष उसे समझा दे कि देखो इन्होंने तुमको ऐसा आशीर्वाद दिया है कि तुम्हारा कल्याण हो। तो उस पुरुष की बात समझकर वह प्रसन्न हो जायगा। तो यह है व्यवहारनय। इसे व्यवहारनय ही समझायगा निश्चयनय नहीं। निश्चयनय तो व्यवहारनय से समझने के बाद असली बात यह समझाता है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र सत् है। वह अपने आपमें परिणमता रहता है, उसका किसी अन्य पदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं। जैसे कुम्हार के हस्तादिक के व्यापार के निमित्त से घड़ा तो बन गया मगर कुम्हार का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी उस मिट्टी में तो नहीं पहुंचा। मिट्टी में मिट्टी की परिणति में मिट्टी का काम हुआ, कुम्हार में कुम्हार की परिणति से कुम्हार का काम हुआ, मगर एक ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि वहां घड़ा बन गया। देखिये प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें पूर्ण स्वतंत्र है। कोई पदार्थ किसी की परिणति से नहीं परिणमता। जगत में जितने भी क्लेश हैं वे सब मोह से है। मोह मिटेगा वस्तु की स्वतंत्रता का परिचय होने से। मैं एक आत्मा टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायक स्वभावमय आत्मा हूं। यह मैं शरीर नहीं हूं। जब शरीर ही मैं नहीं हूं तो दुनिया भर के नाते रिस्ते शरीर के आधार से होते हैं। दुनिया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

भर के ये सब झंझट इस शरीर के आधार से होते हैं। तो जब यह शरीर मैं हूं ही नहीं तो फिर ये नाते रिश्ते सम्बन्ध मेरे कैसे हो सकते हैं? ऐसे अखण्ड एक निर्मल स्वभाव को परखने से मोह दूर होता है। मोह दूर होगा तो कषाय दूर होगी। कषाय दूर होगी तो अशान्ति दूर होगी। अशान्ति दूर होने का दूसरा उपाय नहीं।

(२४८) अन्तःप्रकाशमान की वहिर्व्यक्ति में परमरूपता का एक दृष्टान्त—अब इसी से सम्बन्धित तीसरी बात सुनो—यह आत्मा स्वयं शान्तस्वभावी है, स्वयं आनन्दमय है जैसे कि सिद्ध भगवान का स्वभाव है वैसा ही हम आपका है, लेकिन यह स्वभाव आज आवृत है, ढका है, दवा है, विकृत हो रहा है। तब ऐसा उपाय बनाना चाहिए कि हमारा स्वभाव सही प्रकट हो जाय और हम सदा के लिए संकटों से छूट जायें। ऐसे उपाय पर जरा आज विचार करना है कि वह कौन सा उपाय है कि जिससे मैं परमात्मा हो जाऊं? उपाय देखिये—अच्छा पहिले यह बतलाओ कि परमात्मा की (अरहंत तीर्थंकर की) जो मूर्ति बनाते हैं पत्थर की तो वह कैसे बनाई जाती है? आपने देखा होगा कि एक पाषाण खण्ड कारीगर के सामने रख दिया जाता है और कारीगर से कह दिया जाता है कि देखो इसमें बाहुबलि स्वामी की अथवा अन्य कोई मूर्ति बनानी है, तो वह कारीगर उस पाषाण को भली प्रकार देखकर कह देता है—अच्छा बन जायगी। देखो कारीगर को वह मूर्ति उस पाषाण में ज्ञानद्वारा पहिले ही दिख गई तभी तो कह दिया कि अच्छा बन जायगी। नहीं तो यह बात वह न कह सकता था। अब देखिये उस मूर्ति को प्रकट करने के लिए वह कारीगर क्या करता है? क्या उसमें कोई पदार्थ ला लाकर जोड़ता है? अरे वह तो छेनी हथौड़े से उस मूर्ति को ढकने वाले बड़े-बड़े पाषाण खण्डों को हटाता है। वह तो वहां हटाने हटाने का ही काम करता है। लगाने का काम कुछ नहीं करता। पहिले तो वह बड़े छेनी हथौड़े से बड़े आवरणों को हटाता है, उसके बाद दूसरे नम्बर के छेनी हथौड़े से याने कुछ हल्के छेनी हथौड़े से हल्के आवरणों को हटाने का काम करता है। सबसे बाद में अत्यन्त हल्के छेनी हथौड़े से अत्यन्त हल्के सूक्ष्म आवरणों को हटाने का काम कारीगर करता है। वहां वह इतनी सावधानी रखता है कि देखने वाले लोग जानते हैं कि वह तो कुछ काम ही नहीं करता है। लो हटाने हटाने का ही काम कारीगर ने किया, अब वह मूर्ति प्रकट हो गई। तो देखिये कारीगर ने उस मूर्ति को प्रकट करने के लिए कोई दूसरी चीज ला लाकर तो नहीं जोड़ा, मूर्ति तो ज्यों की त्यों उस पाषाणखण्ड के अन्दर विद्यमान थी। सिर्फ उसको ढकने वाले आवरणों को हटाने का काम किया, वह मूर्ति ज्यों की त्यों प्रकट हो गई।

(२४९) आत्मा में नित्य अन्तःप्रकाशमान सत्त्व की बहिर्व्यक्ति में परमात्मरूपता—जब भगवान की मूर्ति बनने की यह पद्धति है तो फिर जो कारीगर याने जो ज्ञानी भव्य पुरुष अपने आपके अन्तः विराजमान परमात्मस्वरूप को प्रकट करना चाहता है उसको भी यही पद्धति अपनानी होगी। उसने अपने आत्मा के स्वरूप की बात समझा, चेतन पदार्थ के सत्त्व की बात समझा, परमात्मा के स्वरूप की बात समझा तो उसे अपने अन्तः विराजमान का भान हो गया कि हां यह मैं परमात्मा हो सकता हूं, बस यही है जीव का सम्यग्दर्शन। सम्यक् मायने भली प्रकार से दिख जाना, जो सहज चीज है, जो स्वतःसिद्ध है ऐसी वस्तु के दिख जाने का नाम याने ज्ञानद्वारा अनुभव होने का नाम, समझ में आने का काम सम्यग्दर्शन है। यह तो उसका पहिला कदम था। अब इसके आगे क्या कदम बढ़ाता है? बस बस हटाने हटाने का काम करेगा, लगाने का नहीं। इस आत्मा में हमें लगाना है सो बात नहीं, किन्तु हटाना है। तो हटाने का काम क्या छेनी हथौड़ा करेंगे? कहां से लायें? अरे वह भिन्न छेनी हथौड़े से काम न करेगा, जिसे कहते हैं प्रज्ञा (ज्ञान) की ही छेनी और प्रज्ञा के ही हथौड़े से वह हटायगा परपदार्थों को। जैसे कारीगर ने बड़े-बड़े पत्थर हटाये थे वैसे ही यह विवेकी कारीगर बाहर पड़ी हुई

http://sahjanandvarnishastra.org/

भिन्न चीजें धन वैभव, मकान, महल, स्त्री पुत्रादिक परिजन, मित्रजन इन सबको वह अपने चित्त से हटायगा। इसके बाद दूसरे कदम में वह राग द्वेषादिक भीतरी कलुषित भावों को अपनी प्रज्ञा छेनी एवं हथौड़े से हटायगा, इसके बाद तीसरी बार प्रज्ञा की छेनी हथौड़े द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म विचार विकल्प तरंग, कल्पना आदिक के आवरणों को बड़ी सावधानी से हटायगा। देखिये ज्ञान की जो छुटपुट जानकारियां होती हैं उनको भी वह अपनी प्रज्ञा छेनी द्वारा हटाता है। ये मैं नहीं हूं। देखो ज्ञान की परिणतियों द्वारा ही जान रहा है कि मैं अखण्ड हूं, शुद्धनय का विषय भूत हूं, और जिनके द्वारा यह जान रहा है उनसे ही अपने को अलग कर रहा है, कितना उस का एक भीतरी पुरुषार्थ है कि जिस ज्ञान बल के द्वारा, जिस ज्ञानवृत्ति के द्वारा निर्णय कर रहा है, कि मैं अखण्ड ज्ञायकस्वरूप हूं, उस ही साधन को अपने ज्ञान से अलग कर रहा है कि यह मैं इससे निराला हूं। तो यों बाह्य पदार्थों को हटा-हटा करके जो एक अखण्ड शुद्धनय के विषय भूत भूतार्थस्वरूप सहजज्ञानभाव का आश्रय लिया और वह आश्रय जरा चिरकाल तक बन जाय तो यह कैसे मालूम होता है वह बात अपने आप होगी। पर पदार्थ में जो होता हो हो, कर्म झड़ेंगे, निर्जरा होगी। देह छूटेगा, सदा के लिए वियोग हो जायगा, वे बातें सब अपने आप हो जायेंगी। आप यदि कर्मों पर दृष्टि देंगे तो बताओ अष्ट कर्मों को आप किस तरह से ध्वस्त करोगे? यदि आप बाहर में दृष्टि डालेंगे कि मैं ऐसा विचारूं ऐसा करूं, तो इससे अष्टकर्मों को ध्वस्त करने की बात न बनेगी। तुम तो स्वभावदृष्टि में निश्चल हो जावो फिर जो होना होगा वह होता रहेगा।

(२५०) निर्ग्रन्थ अवस्था में ही आत्मपरमसाधना की उपपन्नता—एक बात अवश्य है कि स्वभावदृष्टि में निश्चल होने के लिए हमें बाहरी साधन इतने बना लेना चाहिए कि बीच में हमें विकल्प न सता सकें। तो ऐसा साधन है निर्गन्थ अवस्था। आप लोगों को तो कहीं दुकान जाना है, कहीं और कुछ करना है, यों अनेक विकल्प चलेंगे पर निर्गन्थ अवस्था में किस बात का विकल्प हो? यह निर्गन्थ दशा एक साधन है निर्विकल्प होने का। जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष है, जिसने अपना ऐसा लक्ष्य बनाया है कि हमें तो अपना कल्याण करना है वह इस निर्गन्थ दशा का सदुपयोग कर लेगा और जिसने अपना कोई कल्याण का लक्ष्य नहीं बनाया वह इस निर्गन्थ दशा का सदुपयोग नहीं कर सकता। इसलिए मूल बात यह है कि जो शुद्धनय का विषयभूत है, अभेदनय का विषयभूत है ऐसा जो एक शुद्ध सहज ज्ञानस्वभाव है उसको दृष्टि में लें तो अपने आप अपना कल्याण है।

(२५१) सहजपरमात्मतत्त्व के उपयोग की महिमा—हम जो कुछ करते हैं इस उपयोग द्वारा ही करते हैं। तो करना क्या है? कभी हम इस उपयोग में परपदार्थों को महत्त्व देते हैं तो कोई ज्ञानी पुरुष इस उपयोग में अपने आपके स्वरूप को महत्त्व देते हैं। संक्षेप में देखें तो सर्वत्र दो बातें मिलेंगी। पहिली है स्वको महत्त्व देने की बात और दूसरी है परको महत्त्व देने की बात अरे जो जीव परपदार्थों को महत्त्व देते हैं वे कष्ट पाते हैं—धन, वैभव, सम्पदा, देह, यशप्रतिष्ठा, विचार तरंग विकल्प इनको जो महत्त्व देते हैं वे कष्ट में रहते हैं और जो अपने आपके सहजस्वरूप परमात्मतत्त्व को मानते हैं, उसका आदर करते हैं, उसकी शरण गहते हैं वे आनन्द तृप्त होते हैं, बस इतनी ही है हम आपके इतिहास की कहानी। अब जरा विचार करो कि परको महत्त्व देकर, धन, सम्पदा, इज्जत प्रतिष्ठा, कुटुम्ब आदिक को बड़ा मानकर, इनमें लगाव रखकर इनको शरण समझकर हम कौन सा लाभ पा लेंगे? बड़ी गम्भीर दृष्टि से विचार करने की बात है, हम सदा रहने वाले पदार्थ हैं। यह नहीं है कि जिस मानव पर्याय में आये हैं उसके बाद हम न रहते हों। अरे जो पदार्थ है वह सदा रहता है, केवल परिणतियां बदलती रहती हैं। हम सदा रहने वाले पदार्थ हैं। अगर इस थोड़े से जीवन को व्यर्थ की कल्पनाओं में मौजों में [illegible] गवां दिया [illegible] तो बताओ उससे कौन सा लाभ लूट लिया गया?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अरे यहां के ये सुख दुःख दोनों ही क्षोभ से भरे हुए हैं। प्रत्येक स्थिति में राग का क्षोभ है या द्वेष का, कोई कल्पनाजाल साथ में लगा हुआ है तो उससे इस आत्मा को कोई आनन्द नहीं है। आत्मा का सहज ज्ञाता दृष्टापन है, वही वास्तव में आनन्द की वस्तु है। तो हमें अपने आपके बारे में यह विचार करना है, किसी को दिखाने के लिए नहीं, किसी में अपना कुछ बनाने के लिए नहीं, किन्तु अपने को जगत में अशरण जानकर, अपने आपके गुप्तस्वरूप को शरण जानकर गुप्त ही गुप्त अपने अन्तस्तत्त्व की शरण पा लेना यह अपनी दया के लिए बात है। कोई धर्म करके दूसरे पर एहसान नहीं डालता। जो दूसरे पर एहसान समझता है, हम मन्दिर आते हैं, हम व्यवस्था बनाते हैं, हम समाज में कुछ धार्मिक विचार करते रहते हैं तो देखो हमने समाज का कितना उपकार किया है, ऐसी अगर समाज में ऐहसान की बुद्धि होती है तो वह धर्म के अनुकूल बात नहीं है। धर्म करने में, अपने स्वभाव की दृष्टि करने में, अपने आत्मस्वभाव में मग्न होने का प्रयत्न करने में इसमें किसी दूसरे के ऐहसान की बात ही क्या है? यह तो खुद की दया की बात है।

(२५२) बाह्य पदार्थों के लगाव में आत्मा की बरबादी—यह जीव अनादिकाल से अब तक बाह्य पदार्थों को शरण मानता आया, अतः अशरण बनता चला आया। कभी कुछ विवेक किया तो भले ही कुछ भावना बनाया कि इस जीव को कोई शरण नहीं. कोई शरण नहीं। बाहर बाहर तो तकता रहा कि मेरे को कुछ भी शरण नहीं, पर यह न लख पाया कि मेरे को तो यह आत्मा ही शरण है। बाहर कितना ही भटकालें, वे सब पर घर हैं पर घर में परपदार्थ में अपना कोई कदम स्थापित करें, रहना चाहे तो वह रह नहीं सकता, भगा दिया जाता है, पर इस जीव की ऐसी कुटेव है कि प्रत्येक घर से यह भगाया जाता है फिर भी उन्हीं घरों में यह जाना चाहता है। परपदार्थों से हटता रहता है फिर भी पर पदार्थों में ही लगना चाहता है। यह इसकी कुटेव है। मामला सत्य है। मैं केवल उपयोग मात्र हूं, केवल ज्ञानस्वरूप हूं, जानना मेरा काम है। पर उपाधि साथ में लगी है इससे मैं कुछ का कुछ जान बैठता हूं। वह ठीक नहीं है। मैं सही जानूँ, दूसरी बात लगना मेरा काम है चारित्र गुण का यह एक काम है कि यह लगे। अब कहां लगे? परमें लगे, मिथ्या चारित्र, स्वमें लगे यह सम्यक् चारित्र। लगने की हममें आदत पड़ी है। किसी न किसी का विश्वास करें, कुछ जानें और कहीं न कहीं रम जायें, यह जीव में आदत है। तो विवेक यह करना है कि कौन वस्तु हितकारी है उसकी सही आस्था बनायें। कौन सी वस्तु का परिज्ञान मेरे को क्षोभ न कर सकेगा, उसका परिचय बनायें! किस जगह हम रम जायें तो उससे मेरे को शान्ति प्राप्त हो? उस पद की सुध ले। यह तो एक विवेक का कार्य है। बाकी जगत में किसी से कुछ बड़ा कहलवा लिया, कुछ यश लूट लिया तो उसमें कोई बल नहीं, कोई हित नहीं।

(२५३) आत्मरमण की परमधर्मरूपता—हित चाहते हैं तो आत्मा का ज्ञान करें, आत्मा की आस्था बनायें, जो आत्मस्वरूप है उसमें लीन होने का पौरुष बनायें, यह ही बात सीखने के लिए हमारा जो आवश्यक कार्य है देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। ये केवल यों ही करते रहने के लिए नहीं हैं देखो—पूजा में कहा है—तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पद्वयेलीनं। तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः। हे भगवन्! तुम्हारे चरण मेरे हृदय में रहें, मेरा हृदय तुम्हारे चरणों में रहे, कब तक? जब तक कि निर्वाण की प्राप्ति न हो। मोक्ष प्राप्त हो गया, फिर जरूरत क्या है? तो देखो यह भक्त अभी से जल रहा है और उससे भगवान बुरा भी नहीं मानते। जो सच बात है, जो भगवान का उपदेश है उसी की बात भक्त बोले तो इसमें भक्त का कोई अपराध नहीं है। हे प्रभो तुम्हारे चरणों में हमारा हृदय कब तक रहे, जब तक कि मुझे मुक्ति की प्राप्ति न हो जाय। देखिये यहां कोई किसी को कह तो दे कि हम तो तुमसे तब तक मित्रता करते हैं जब तक कि मेरा यह काम न बने, तो इसका क्या प्रभाव होगा? अरे वह तो खुदगर्जी कहलायगी। मित्र

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

परेशान हो जायगा। वह खुद समझ जायगा कि यह क्या दोस्ती है? कोई किसी को ऐसा कहता है क्या कि मैं तुम्हारी तब तक आदर भक्ति करूंगा जब तक कि मेरे को इतने धन की प्राप्ति न हो जाय? उसकी यह बात क्या कुछ मतलब रखती है? लेकिन वस्तुस्वरूप के प्रसंग में यह बात बिल्कुल सही है और धर्म के अनुकूल है—तुम्हारे चरणों में मेरी भक्ति तब तक रहे जब तक कि मुक्ति प्राप्त न हो अथवा यह कहो कि जब तक मेरे को निर्विकल्प समाधि न हो निर्विकल्प समाधि हो गई फिर भक्ति रागका कारण बन ही कैसे सकेगा? तो सच बात कही जा रही। तो है व्यवहार में हमारा कोई शरण है तो पंचपरमेष्ठी शरण हैं।

(२५४) ज्ञानी द्वारा सर्व जीवों में सहजात्मस्वरूप का दर्शन—ये परिजन शरण नहीं। मोही जन अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ कुर्बान करते हैं अपने परिजनों पर, उनके अतिरिक्त दुनिया के अन्य लोग जैसे मानो उनमें कुछ जान ही न हो, ऐसी घृणा और उपेक्षाकी दृष्टि से देखते हैं, किन्तु ज्ञानी जीव जगत के सब जीवों में भगवत्स्वरूप का दर्शन करता है, किसी का बुरा नहीं मानता। किसी ने निन्दा की, किसी ने गाली दी तो यह जानता है कि यह तो भगवत्स्वरूप है, इसमें तो कोई अपराध हुआ ही नहीं करते। यह अपराध तो कर्म की लीला है। यह बेचारा, यह स्वयं यह अंतस्तत्त्व भगवत्स्वरूप है, इसमें तो अपराध का नाम ही नहीं, इसमें कोई सताने की बात ही नहीं। यह तो एक ज्ञानस्वरूप का आत्मपदार्थ है। लो स्वभाव दृष्टि करके, द्रव्य दृष्टि करके ज्ञानी पुरुष *वहां उस* भगवत्स्वरूप के दर्शन करता है, वह दूसरे का बुरा क्या मानेगा? बुरा मानने वाला अथवा दूसरों को इष्ट समझने वाला पुरुष किसी न किसी राग विकल्प में अटका रहता है और वह इष्ट अनिष्ट समझता रहता है व्यवाहरत: मेरे को शरण है पंचपरमेष्ठी और निश्चयत: मेरे को शरण है तो मेरा अपने आपका सहज-स्वरूप। मैं हूं ना, तो कुछ तो हूं, पर की दया बिना, परके सहारे बिना, पर की अपेक्षा बिना, परके सम्बन्ध बिना मेरी सत्ता तो है ना खुद में। यद्यपि मैं अनादि से अब तक कर्म के साथ चला आ रहा हूं, कोई समय ऐसा तक नहीं मिला जिसमें कर्मरहित हो गया था, कर्मरहित होकर फिर कर्मसहित नहीं होता। तो मैं एक समय भी अब कर्मरहित न हो पाया। सदा अनादि से ये कर्म साथ चले आये, इस पर भी मैं अपने आप अपने में सहजस्वरूप अपना स्वतंत्र ही सत्त्व रखता हूं। कर्म की दया से मेरी सत्ता नहीं है। भले ही कर्म उपाधि से इस समय विकारभाव चलते हैं वैसा जीवन चल रहा हैं, लेकिन मेरा अस्तित्व कर्म ने नहीं किया। किसी का अस्तित्व कोई दूसरा पदार्थ नहीं करता। मैं अपने आप जैसा सहज हूं वैसा निरखूं तो इसमें सब आनन्द ही आनन्द है। जैसा मैं सहज नहीं हूं, पर उपाधि में बात बनती है, और तब हम उस रूप अपना अनुभव करने लगते हैं, ऐसा ही परभाव में लगता है कि मैं यह हूं तब इसको बड़ी प्रवृत्तियां करनी पड़ती हैं। और उन प्रवृत्तियों से इसे कष्ट सहना होता है। तो बाहरी पदार्थों से दृष्टि हटे और मैं अपने निजस्वरूप में आऊं, बस यही काम पडा है करने को।

(२५५) आत्मतथ्य का निपटारा—देखो तथ्य का निपटारा स्याद्वाद विधि से हो पायगा। किसी भी विधि का ज्ञान किसी भी दिशा में खड़े होकर किया जा सकता है। जो जिस पदार्थ को जिस दिशा से देख रहा है तो जो शक्ल उसकी दृष्टिमें उस दिशा में आयी वह उसे जान रहा है, पर वह पदार्थ उतना मात्र नहीं है दूसरी दिशा से देखने पर दूसरे ढंग का विदित होता है, अन्य दिशावों से खड़ा होकर देखने पर और और ढंग का विदित होता है, सर्व दिशाओं से देखने पर जो स्वरूप समझ में आया है, पदार्थ का सम्पूर्ण स्वरूप वह है। सर्व दिशाओं में देखकर कहने की आदत न होने के कारण एकान्त पड़ जाता है। जैसे इस ही आत्मतत्त्व के बारे में विचार करो—यह मैं आत्मा हूं, प्रति समय परिणमता रहता हूं, परिणमता रहूंगा। तो वे सब मेरे परिणमन मेरे ही द्रव्य के हो रहे हैं, दूसरे के परिणमन नहीं हैं, ये परिणमन अनन्त काल तक होते चले जायेंगे इनको जाना माना अविध-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञानी ने, सर्वज्ञदेव ने, तो जो जाना सो होगा । तो जिस समय सो जाना गया उस समय वह होगा । यह एक किनारे खड़े होकर देखने की बात है, पर दूसरी बात भी तो देखिये—भगवान ने जो जाना है ठीक है, मगर जो हुआ था, हो रहा है, होगा पदार्थ में वह होने की बात है, जो हुआ उसे जाना या जो जाना सो होगा, इसमें अन्तर पड़ता है। भगवान के ज्ञान का विषय है तीन लोक तीन काल का पदार्थ । तो जैसा वह है, वैसा प्रभु ने जाना। अब यह था, होता है, कैसे होगा, उसका विधान है । विभाव निमित्त सनिन्धान में, इस आत्मा के अशुद्ध परिणमनों से बनते चले जाते हैं। निमित्त के अभाव में कोई विकार हो भी सकता क्या ? वह उसकी जो विधि है उस ओर से देखें तो यह विदित होता कि निमित्त के सनिन्धान में ही यह आत्मा अपनी स्वतन्त्र परिणतियों से परिणमता है । स्वतन्त्र परिणति का अर्थ यहां लगावो—किसी दूसरे पदार्थ की परिणति को ग्रहण न करके स्वयं अपने आपकी परिणति से रागद्वेषरूप होता है, मगर रागद्वेष कोई निमित्त के अभाव में बन सकेंगे क्या ? अगर बन जायें तो वे स्वभाव बन जायेंगे, कभी मिट न सकेंगे । तो देखिये—एक दिशा से देखते हैं तो क्या दीखा ? दोनों को मान लो—विरोध मत करो। समन्वय समझ लो, यह तो स्याद्वाद की एक बड़ी देन है।

(२५६) वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव की व्यवस्था—उदाहरण लीजिये । लगता है और है भी ऐसा कि विकारभाव होना और कर्म का उदय होना एकही समय में होता रहता है। जिस समय कर्म का उदय है उस ही समय में रागादिक विकार हैं। एक समय में दोनों बातें हो रही हैं तिस पर भी निमित्त किसे कहा गया है ? कर्मोदय को । नैमित्तक किसे कहा गया है ? रागादिक विकारों को । अब एक साथ होने पर भी कोई यह बात कहे कि जिस समय रागादिक विकार होते हैं उस समय कर्मोदय हाजिर होता है । क्या ऐसा नहीं कह सकते कि जिस समय कर्मोदय होता है उस समय रागादिक विकार होते हैं ? जब एक ही साथ दोनों चीजें होती हैं तो उनमें से एक का तो हठ कर लेना कि जिस समय विकार होता है उस समय कर्म हाजिर होते हैं, ऐसा कहने में एक उल्टी सी बात सिद्ध होती है कि राग विकार होना निमित्त है और कर्मोदय होना नैमित्तिक है। यह सिद्धान्त के एकदम विपरीत है। दूसरी बात देखिये—जिस समय कर्मोदय होता है उस समय रागविकार होता है, ऐसा कहने में स्पष्ट यह जाहिर होता है कि कर्मोदय निमित्त है, रागादिक विकार नैमित्तिक हैं, जो सिद्धान्त के अनुकूल बात है, जो कर्मोदय का सन्निधान होने पर राग विकार होने का भी निमित्तनैमित्तिक भाव है, इतना होने पर भी इसका परस्पर में कर्तृकर्मभाव नहीं है अर्थात् कर्म ने जीव को रागी बनाया हो ऐसा नहीं है, बस यह ही तो एक सावधानी की बात समझनी है कि निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी कर्तृकर्मभाव एक पदार्थ का दूसरे में न होने के कारण वस्तुस्वातन्त्र्य कहा जाता है, बात सब स्पष्ट है । जो लोग, वस्तुस्वातन्त्र्य मिट जायगा, इस भय से निमित्तनैमित्तिक भाव का खंडन करते हैं उनका ज्ञान अधूरा है, यह तो एक जगत की व्यवस्था है। सर्वत्र निमित्तनैमित्तिक भाव से सारे काम हो रहे हैं इतने पर भी प्रत्येक अणु-अणु, प्रत्येक जीव अपनी ही परिणति से परिणमते चले जाते हैं। कोई पदार्थ दूसरे में अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव नहीं डालता, कोई पदार्थ किसी दूसरे की परिणति नहीं बनाता इसलिए वस्तु स्वतन्त्र ही है।

(२५७) परिणमन के आविर्भाव की विधि में निमित्तनैमित्तिक योग होने पर भी परिणमन निरपेक्षता—एक दृष्टान्त आया है रत्नकरण्डश्रावकाचार में कि भगवान बिना इच्छा के कैसे दिव्यध्वनि करते हैं, उपदेश करते हैं ? तो बताया है कि "अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितं । ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ।" देखिये—दृष्टान्तपर दृष्टि दीजिये—मृदंग बजाने वाला पुरुष उसके हाथ का हुआ स्पर्श मृदंगपर, उस बजाने वाले का हाथ उसके हाथ में ही है, अब वह मृदंग उस हाथ का संयोग पाकर अपनी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ध्वनि करने लगा। याने जो भाषा वर्गणा के शब्द हैं उन शब्दों रूप परिणमने लगा। तो इस स्थिति में वे भाषा वर्गणा के शब्द शब्दरूप परिणमने में किसकी अपेक्षा करेंगे ? वे शब्द वर्गणायें तो शब्द रूप स्वयं परिणमेंगी। यह एक दृष्टान्त दिया है। प्रत्येक जगह यही बात घटा लो। जैसा निमित्तसन्निधान मिला वैसा ही परिणमन उपादान में अपनी योग्यता से हुआ। वह किसी की अपेक्षा नहीं करता। तो निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी वस्तुस्वातंत्र्य है। शिक्षा इसमें दोनों विधियों से मिल जाती है। देखिये—मैं वस्तु स्वतंत्र हूं, मैं अपनी परिणति से परिणमता हूं, मेरे को कोई दूसरा परिणमाता नहीं। मैं भी अपने परिणाम सुधारूं तो मैं कल्याण पाऊंगा कोई भगवान या कोई मित्र मुझे कल्याण देगा, ऐसा नहीं है। मैं ही अपने भावों का सुधार करूं तो कल्याण पाऊंगा। वस्तुस्वातंत्र्य से हमने यह शिक्षा ग्रहण की है। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि मैं अपने आपमें उत्पाद व्यय करता हुआ ही त्रिकाल सत् रह सकता हूं। इस तरह जब देखा कि बात सही है वस्तुस्वातंत्र्य के विज्ञान से हमें अध्यात्मउन्नति में शिक्षा उत्पन्न हुई है। देखो जब मैं जो कुछ करता हूं, परपदार्थों से हित मानने की बात करता हूं तो मैं दुःखी हो जाता हूं। तब मैं अपने आपमें केवल ज्ञान का परिणमन कर सकने में समर्थ हूं, यह निरखते हैं बाह्य आश्रयभूत पदार्थ का आश्रय नहीं करते हैं, उपयोग में बाह्य पदार्थ न आने दें उस समय यह शान्ति का पात्र बन जाता है। देखो मैं जिस तरह चलूं, जिस तरह का ज्ञान करूं वैसा ही मैं करता चला जाता हूं। देखो वस्तुस्वातंत्र्य से हमें कितनी बड़ी प्रेरणा मिली। इस परिचय ने मेरी अन्य से दृष्टि हटा दी और मैं अपने आपके स्वरूप में मग्न होने का रास्ता पा गया।

(२५८) निमित्तनैमित्तिक भाव के परिचय से शिक्षा—अब इसमें निमित्तनैमित्तिक भाव के परिचय से क्या शिक्षा मिलती है ? जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ में मैं मस्त रहता हूं और जिसके प्रसंग में बाह्य पदार्थों में लगाव बनाया करता हूं वे सब बातें क्या हैं ? नैमित्तिक भाव हैं। मेरे स्वरूप की चीज नहीं हैं। कर्मोदय का फल है कि यह आचार्य संतों ने उन्हें पौद्गलिक कहा है, पर परिणाम है, यह मेरा स्वरूप नहीं। यह मेरी चीज नहीं। मैं तो एक ज्ञायकस्वरूप हूं। निमित्तनैमित्तिक भाव के परिचय से इसने अपने आपको कैसा पृथक् बना लिया। यह क्या है ? इस व्यवहारनय के सदुपयोग का लाभ नहीं है क्या ? देखिये—कर्म भी अपनी स्थिति अनुभाग लिए हुए रहते हैं जिस समय कर्म उदय में आते हैं उस समय कर्म अपने अनुभाग की लीला खेलते हैं। वे अचेतन हैं, वे मेरे पर कोई प्रभाव नहीं डालते। जैसे: हम राग विकार करके अनुभव किया करते हैं और अपने को विकृत बना लेते हैं, कर्म भी विकृत बना लेते हैं। उसमें क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक की सब स्थितियां उन कर्मों में स्वयं पड़ी हुई हैं, अन्यथा क्रोधप्रकृति नाम किसका पड़ता ? मिथ्यात्व नाम किसका पड़ता ? जिस प्रकृति का नाम क्रोध है उसका क्या अर्थ है कि इस प्रकृति का क्रोध करने का अनुभाग पड़ा है तो वह प्रकृति क्रोध करती रहती है, पर वह चेतन नहीं है इसलिए अनुभाग नहीं है। पर अनुभाग नहीं चल रहा है, इसलिए उस ही एक क्षेत्रावगाह में, उस ही स्वभाव में पड़े हुए में उसे चेता, उसे अपनाया, यह एक चेतन है और अनुभव करता है तो अनुभव करने के कारण इसकी विकट होड़ हो जाया करती है, तो किस तरह हुए ये नैमित्तिक भाव ? किस तरह यह विडम्बना हुई ? ये निमित्त पाकर हुए, इसलिए ये नैमित्तिक हैं, ये मेरी चीज नहीं हैं, ये पौद्गलिक हैं। मैं तो एक सहज ज्ञानमात्र हूं।

(२५९) आत्मकल्याणाभिलाषी को सर्वत्र आत्मकल्याण के उपाय के दर्शन—देखो जिसे कल्याण की धुन हुई है उसे सब जगह से लाभ मिल जाता है, और जिसे कल्याण करने की धुन नहीं है वह प्रत्येक बात में विवाद करेगा, अपना पक्ष रखेगा। कल्याण चाहिये, विवाद और पक्ष न चाहिये। कल्याण की भावना है तो सबका सदुपयोग बना सकते हैं और कोई भी विरोधी नहीं जच सकता है। सबकी बात हमारे यहां सम्भव हो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सकती है। देख लिया, जान लिया, सबकी बात छोड़ने का उपदेश है। व्यवहार भी छोड़ें, निश्चय भी छोड़ें। कल्पना मात्र को छोड़ें, आखिर है तो उपयोग यह ही। तो जानने के प्रसंग में सब दृष्टियों से जान लें, कल्याण के प्रसंग में सब दृष्टियों को छोड़ दें। अपने आपमें सहज जो परिणति होती है होने दें। वह ही मोक्षमार्ग की बात है। तो एक मोटे रूप में ऐसा अनुभव करें कि जगत मेरे को कोई शरण नहीं है। बाहर में किसकी शरण गहूं, किसका मुख देखकर ऐसी आशा बनाऊं कि ये मेरे को सुख देंगे, ये मेरे हो हैं सब कुछ। घर में जितने जीव हैं वे उतने ही निराले हैं जितने निराले ये कीड़ा मकोड़ा, पेड़ पौधे आदिक अन्य जीव हैं। रंच भी तो इनसे सम्बन्ध नहीं है। बात यह हुई कि आप गृहस्थधर्म में आये हैं। गृहस्थी में रहकर मिलकर काम करना है जीवन में। ये भी अच्छी तरह से जिन्दा रहें हम भी अच्छी तरह जिन्दा रहें। घर के ये ४-६ प्राणी जिन्दा रहें तो वहां भी प्रयोजन रहे एक धर्मसाधना का। वास्तव में जिन्दा रहने की आवश्यकता समझें धर्म के लिए। इसलिए राग करना होगा, खटपटें करनी होंगी, प्रेम से रहना होगा, तब बातें करनी होंगी, तिसपर भी कोई भी जीव किसी का जरा भी कुछ नहीं लगता।

(२६०) ज्ञानी का सुसंगत गुजारा के लिए ही प्रेमव्यवहार—कोई एक संस्था का काम कर रहा है, उस कमेटी में १०-१२ आदमी हैं। सभी भिन्न-भिन्न जगहों के लोग हैं। कोई किसी जिले का है कोई किसी जिले का, कोई किसी जाति का है कोई किसी जाति का। वहां किसी से कोई नाता तो नहीं है, लेकिन एक संस्था में काम करने के नाते से वे सब भाई भाई का जैसा व्यवहार करते हैं। तो उनका वह परस्पर का प्रेमव्यवहार एक संस्था चलाने के लिए है, ठीक है उसी तरह से समझ लो जिस गृहस्थी के बीच आप रह रहे हैं वह एक कमेटी है। उसके परिवार के अन्दर जितने भी लोग हैं वे सब उसके मेम्बर हैं। सबका उद्देश्य होना चाहिए एक धर्मसाधना का। वहां कोई किसी का कुछ लगता नहीं है, वहां किसी का कुछ है नहीं। हां एक कमेटी में रहने के कारण सब कुछ कार्य वहां करने होते हैं। वहां एक यह स्पष्ट दृष्टि हो जाय कि मेरा तो मात्र मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं। इसके अतिरिक्त मेरा कहीं कुछ नहीं है। मेरा शरण तो यह ज्ञानस्वरूप स्वयं हूं। मेरे ज्ञान में ज्ञानस्वरूप बना हो, ज्ञानस्वरूप समाया हो तो बस समझ लीजिए कि हम मोक्षमार्ग में चल रहे हैं, हम सन्तोष प्राप्त कर सकते हैं, हम सिद्ध हो सकते हैं, हम कर्म काट सकते हैं, हमारा सही कल्याण होता है और ऐसी निज धर्म की बात, निजधर्म का पालन मोक्ष के लिए तो महत्त्वपूर्ण ही है।

(२६१) शुद्धभाव के साथ कर्मविपाकवश रहे सहे शुभराग की महिमा का लोक की उच्च पदवियों में दर्शन—जब तक संसार में रहना पड़ेगा, तब तक मोक्ष न जा सकेंगे तब तक भी जो बड़ी बड़ी पदवियां हैं—जैसे चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदिक की, वे प्राप्त होती हैं। और और भी जो बड़ी समृद्धियां होती हैं वे भी इस धर्म के प्रताप से प्राप्त होती हैं। इस निज धर्म पालन के साथ जो राग की गल्ती रह जाती है उसका यह परिणाम है कि तीर्थंकर, चक्री आदिक होना, तो आखिर यह धर्म का ही तो प्रताप है। अब बतलावो जिस धर्ममहाराज के विधान के कारण ही सही राग की गल्ती में भी इतनी इतनी ऊंची पदवियां प्राप्त होती हैं, तब फिर जब कोई गल्ती न रहे तो उसमें एक शाश्वत आनन्द का लाभ होने में क्या आश्चर्य? ऐसा जानकर बाहर में किसी पदार्थ को शरण मानने की बुद्धि न बने। कोई शरण नहीं है। बाहर में किसी को सार मानने की बुद्धि न बनायें, मेरे लिए कोई सार नहीं है। मेरा जो सहज स्वरूप है जिसके कारण यह मैं सहज प्रतिभासस्वरूप ज्ञानस्वरूप वही मेरा शरण है, वही मेरा सार है, उस परमसार निज अंतस्तत्व की भावना के लिए अपना तन, मन, धन वचन, प्राण सर्वस्व न्योछावर करके भी अपने आपके सहजज्ञानस्वरूप का प्रकाश पा लें तो समझो कि मैंने सब कुछ पा लिया, इसी से मेरा कल्याण होगा। तो हम आपको ऐसे अपने अन्तः विराजमान प्रभु की ओर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ही उन्मुख होने का भाव रखना चाहिए।

(२६२) पदार्थयथार्थविज्ञान का प्रभुत्व—सभी जीवों की यह भावना होती है कि दुःख दूर हों और शान्ति प्राप्त हो। तो यहां यह विचार करना है कि सारे उद्यम इसीलिए करते चले आये फिर भी न दुःख दूर हुए, न शान्ति प्राप्त हुई। तो इसका कारण क्या है? और कौन सा साधन है ऐसा कि जिससे नियम से दुःख दूर हो और शान्ति की प्राप्ति हो? तो बात यह है कि दुःख होता है भ्रम से। दुःख का कारण है केवल भ्रम, मोह, अज्ञान। जो बात जैसी नहीं है वह उस तरह समझना, यही मूल में दुःख का कारण है। नियम से दुःख होगा। यह एक अलग बात चल रही है। देखिये—मोटे रूप से धन अलग चीज है, मैं आत्मा अलग चीज हूं, पर यह जब भावना हुई कि यह धन मेरा है तो बस इस भावना से तुरन्त दुःख हुआ। धन की रक्षा न कर सकने का विकल्प, उसे छिपाना है, उसे सुरक्षित करना है। कुछ भी बात उसके सम्बन्ध में जीव सोचता हो तो वहां बात उसके अनुकूल हो भी, न भी हो, तो वह उसमें दुःख मानता है। तो एक उदाहरण के लिए एक मोटी बात कही। तात्पर्य यह लेना कि जितने भी क्लेश होते हैं वे सब भ्रम से होते हैं। और भ्रम का क्लेश मिट सकता है तो भ्रम के नाश से मिट सकता है। भ्रम का नाश होगा तो वस्तु के स्वरूप के ज्ञान से होगा इस कारण जैनसिद्धांत में आचरण की तपश्चरण की अन्य सब बातें भी करते हैं, मगर सबसे अधिक प्रधानता दी है स्वरूप के ज्ञान की। वस्तु का सही सही ज्ञान करे तो शान्ति मिलेगी अन्यथा नहीं। तो वस्तुस्वरूप क्या है? छोटे-छोटे बच्चों को पढ़ाया जाता है कि भाई द्रव्य ६ जाति के होते हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आका और काल। जो बच्चे थोड़ा बहुत धर्मपाठशाला में जाते हैं तो प्रारम्भ में यह ही पढ़ाया जाता है और लगता है ऐसा कि वह कौनसी पढ़ाई है? इससे क्या लाभ है? द्रव्य ६ जाति के हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। और उन बच्चों की पढ़ाई सुनने वाले लोग सोचते हैं कि धर्म की पढ़ाई तो बिल्कुल बेकार है, तो उस समय तो लोग सोचते हैं लेकिन उसका सही सही ज्ञान हो तो वे सारे दुःखों को दूर कर सके इतना इसके सम्यग्ज्ञान का प्रभाव है।

(२६३) सर्व पदार्थों का परिचय कर स्व के परिचय में लक्ष्यदर्शन की सुगमता—देखिये—जीव दुनिया में कितने हैं? अनन्तानन्त याने जिनका अन्त नहीं आ सकता। अनेक जीव यहां से मोक्ष जाते हैं और वहां से वापिस नहीं आ सकते तिसपर भी जीव अनन्तानन्त रहते हैं। यहां दिखते हैं पशु पक्षी, मनुष्य आदिक थोड़े से हैं, लेकिन जो निगोदिया जीव बताये गए हैं वे एक शरीर में सिद्धों से अनन्तगुणे प्रमाण हैं। अब तक जितने भी भगवान हैं, सिद्ध हुए हैं, एक शरीर में रहने वाले अनन्तानन्त निगोदिया जीव के अनन्तवें भाग हैं तो जीव कितने हुए? अनन्तानन्त। पुद्गल कितने हैं? उससे अनन्तानन्त। कैसे जाना? एक जीव के सहारे जैसे कि हम आप एक-एक जीव बैठे हैं। तो एक जीव के आधार में कितने पुद्गल लगे हैं? जीव को यह शरीर मिला है तो शरीर में अनन्त परमाणु हैं और साथ ही साथ ये अनन्त विस्रसोपचय शरीर के परमाणु हैं याने जो शरीर बनने के उम्मीदवार हैं ऐसे विस्रसोपचय हैं। उससे भी अनन्तगुणे तैजस शरीर के अणु हैं। उनसे अनन्त गुणे अनन्तानन्त कार्माणवर्गणायें हैं और उससे अनन्तानन्त गुणे ऐसे परमाणु लगे हैं कि जो कर्मत्व के उम्मीदवार हैं। फिर दोइन्द्रियादि के भाषावर्गणा के अनन्त अणु संज्ञी के मनोवर्गणा के अनन्त अणु। यों जीव से सम्बन्धित एक जीव के सहारे पर ही कितने ही पुद्गल टिके हुए हैं, तो पुद्गल इससे भी अनन्तगुणे हैं फिर जीव द्वारा व्यक्त व अन्य पुद्गल भी अनन्त हैं। धर्मद्रव्य एक, अधर्मद्रव्य एक, आकाशद्रव्य एक और असंख्यात कालद्रव्य। तो इनमें हम जीव, पुद्गल की आज चर्चा करेंगे। देखिये यह विज्ञान का नियम है कि जो पदार्थ है वह कभी मिटता नहीं। जो पदार्थ नहीं है उसका कभी सद्भाव होता नहीं। तो सब भाई ऐसा अनुभव करते हैं कि मैं हूं, हूं ना मैं। हूं का सबको अनुभव होता। तो जब मैं हूं तो वह कभी मिट नहीं सकता। अब उसका विचार करें कि मैं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

क्या हूं ? तो इतनी बात सबके अनुभव में आयगी कि मैं कोई जाननहार पदार्थ हूं । जिसमें समझ बनती है, जानना बनता है—हूं मैं पदार्थ, तो जो ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानमात्र है, ज्ञानमय है वह मैं आत्मा हूं । अब जो केवल ज्ञान ही ज्ञानस्वरूप लिए हुए हो उस पदार्थों में रूप, रस, गंध, स्पर्श वगैरह नहीं हुआ करते । रूपादिक पुद्गल में होते हैं । जिसमें रूपादिक पाये जायें वह पदार्थ जड़ होता है, वह कभी जाननहार नहीं होता । तो मैं रूपादिक से रहित हूं, केवलज्ञानमय पदार्थ हूं । तो जो मैं ज्ञानमय पदार्थ हूं वह मैं शरीर से न्यारा हूं । जैसे लोग कहते हैं कि जीव चला गया, शरीर रह गया । तो जीव शरीर में न रुक सका । तो वह जीव मैं ज्ञानमात्र तत्त्व हूं ।

(२६४) प्रत्येक पदार्थ की सहज परिपूर्णता—यह भी दूसरी बात में निर्णय करें कि जो भी पदार्थ होता है वह अपने सत्त्व में पूरा होता है । कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो अभी आधा ही बन पाया है आधा नहीं बना । तो यह तो लोग कल्पना से सोच लेते हैं कि यह अभी आधा ही बना । जैसे किसी ने मकान बनवाया तो उसमें कुछ किवाड़ वगैरह अभी नहीं लग पाये तो लोग सोचते हैं कि अभी यह काम अधूरा है । अभी मकान अधूरा है । मगर बात यह है कि अधूरी कोई चीज नहीं होती । आपने कल्पना में मान लिया कि ऐसा फर्स्ट क्लास मकान बन जाय तब काम पूरा हो, तो आपके सोचने के अनुसार काम हुआ नहीं, इस कारण आप उसे अधूरा कहते हैं, वस्तुत: तो कोई भी काम अधूरा नहीं होता । जब जो काम होता है वह पूरा ही होता है । उस मकान का एक एक अणु पूरा है । तो यह मैं हूं और पूरा हूं ।

(२६५) प्रत्येक द्रव्य की द्रव्यक्षेत्रकाल भावरूपता—अब इसी सम्बन्ध में तीसरी बात यह जानें कि जो भी पदार्थ होता है वह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावस्वरूप होता है । जैसे दृष्टांत में यह एक चौकी है तो यह चौकी द्रव्य से कैसी है ? जैसी सामने दिख रही है । जिसे हम पकड़ सकते हैं, जो यह पिण्ड है सो यह चौकी है, तो यह कहलाता है द्रव्यदृष्टि से चौकी का देखना । क्षेत्र से चौकी कैसी है? इसकी लम्बाई चौड़ाई ऊंचाई या जितना इसका विस्तार है उतनी यह चौकी है, तो क्षेत्र से कितनी है ? जितनी यह लम्बी चौड़ी है ? काल से यह कैसी है कि जैसी यह चौकी है पुरानी नई मजबूत, कमजोर, जैसी यह है, यह है इसका काल । और भाव क्या है ? इस चौकी में जो शक्ति हैं, इस चौकी में जो गुण है यह है चौकी का भाव । आप परिचय जानना चाहेंगे तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से ही परिचय जानेंगे । बात कठिन न बोलेंगे, थोड़ा ध्यान देने की बात है सब समझ में आ जायगा । व्यवहार है—जो भी चीज होती है वह पिण्ड रूप है । उसमें कोई लम्बाई चौड़ाई है, उसकी जो वर्तमान दशा है, अच्छी बुरी रद्दी भद्दी जीर्ण शीर्ण जो भी उसकी दशा है वह होती है और उसमें शक्ति गुण होती है । प्रत्येक पदार्थ में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये चार चीजें होती हैं । साथ ही यह भी जानना कि जो भी पदार्थ है उसकी जो दशा बनती है वह उसके क्षेत्र में बनती है और उसके क्षेत्र से बाहर नहीं बनती ।

(२६६) प्रत्येक पदार्थ का अपने प्रदेशों में ही परिणमन—अभी आपके काम की बात जो कही गई कि भ्रम के नाश होने से दु:ख दूर होता है और वस्तुस्वरूप के सही परिचय से दु:ख दूर होता है, वही बात ला रहे हैं कि प्रत्येक पदार्थ जो भी अपनी दशा बनायगा, जो भी इसमें परिणति होगी, जो भी इसमें अवस्था बनेगी वह बनेगी उसके ही क्षेत्र में, उसके ही प्रदेश में, उससे बाहर न बनेगी । जैसे अंगुली जो कुछ भी करेगी वह अपने ही क्षेत्र में करेगी, जो भी अंगुली की बात बनेगी, वह उस अंगुली के प्रदेश में ही बनेगी, उससे बाहर न बनेगी । तो इसी तरह सब पदार्थों की यही बात है कि उस पदार्थ का जो भी काम बनेगा वह उस पदार्थ के क्षेत्र में ही बनेगा, उस पदार्थ के प्रदेश में ही बनेगा, उस पदार्थ के प्रदेश से बहार नहीं बन सकता । यह वस्तु के स्वरूपका अकाट्य नियम है, हर जगह घटित कर लो । प्रत्येक जगह विचार करने पर यही बात पायेंगे कि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह वस्तु जो भी बन सकी है वह अपने प्रदेशों में बन सकी है, प्रदेशों से बाहर नहीं। जैसे कारीगर ने मकान बनाया, तो लोग कहते हैं कि इस मकान को कारीगर ने बनाया, पर यह बात गलत है। कारीगर आप कितने को मानते हैं ? मानो जितना वह शरीर है, जितना वह पुरुष है उतना कारीगर है तो कारीगर ने जो किया होगा वह अपने ही प्रदेशों में किया होगा याने अपने में हाथ का चलना, हाथ का उठाना आदि समस्त काम वह कारीगर अपने शरीर में ही करता है, ईंट, मिट्टी आदिक में वह कुछ नहीं करता। तब हो कैसे गया है ? उसे कहते हैं निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध याने कारीगर ने अपने हाथों में ही तो काम किया। जैसे ईंटों को भींत में बैठाया तो वहां क्या काम किया, हाथ को यों चलाया, फिर हाथ को यों चलाया, अब उन हाथों के बीच में ईंट आ गई और वह पूरी तरह से धरी गई। इस तरह एक निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध से सब काम हो गया, वह मकान बन गया, लेकिन कारीगर ने वह मकान नहीं बनाया, कारीगर ने तो अपने हाथ में अपने हाथ की क्रिया की। अपने शरीर में अपनी क्रिया की, उन ईंट, मिट्टी आदिक में अपनी कोई क्रिया नहीं की। उनकी सब कुछ क्रिया उनमें हुई।

(२५७) जीव के परिणमन का जीव के प्रदेशों से बाहर अभाव—अब यहां जीव की बात देखो— इस शरीर के अन्दर जो जीव है, जो ज्ञानस्वरूप है वह ज्ञानस्वरूप जीव क्रिया करता है। पहिले यह जाने कि जो कुछ वह करेगा वह अपने ही क्षेत्र में और अपने ही प्रदेश में करेगा याने जीव अन्दर में जितना फैला हुआ है, जितने प्रदेशों में उसका विस्तार है, बस वह अपने प्रदेशों में ही वह काम करेगा, उससे बाहर काम न करेगा। जीव क्या क्या किया करता है ? जानता है, कल्पनायें करता है, विचार करता है, राग करता, द्वेष करता मोह करता, जो कुछ भी करता है वह अपने ही प्रदेशों में करता है; अपने प्रदेशों से बाहर कुछ नहीं करता। यह वस्तु के स्वरूप का अकाट्य नियम है। हर जगह देखो—जैसे कोई महिला खिचड़ी पका रही है तो वह क्या कर रही है ? वह तो अपने हाथों में अपने हाथ की क्रिया कर रही है, अपने हाथ से बाहर कुछ नहीं कर रही। अग्नि की क्रिया अग्नि में हो रही है, चावल दाल की क्रिया चावल दाल में हो रही है, वहां सबका अपना अपना अलग अलग काम अपने आपमें हो रहा है, पर वहां कुछ ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि सब काम ठीक चल रहा है। यह बात जब समझ में आयगी तब भ्रम दूर होगा। मैं जीव अपने में जो कुछ करता हूं वह अपने प्रदेशों में करता हूं, अन्य में नहीं, लेकिन अज्ञानी जीव को ऐसा अहंकार होता है कि मैंने किया। इस अहंकार के कारण कोई बात होती है तो परस्पर में व्यवहार होता तो आपस में विवाद होने लगता है, झगड़े बन जाते हैं, क्योंकि अहंकार आया ना चित्त में कि मैं इस काम को करने वाला हूं। मैंने यह काम कर डाला, मैं न होता तो यह काम न हो पाता ? अरे भले ही निमित्त योग से होता है मगर प्रत्येक पदार्थ की यात्रा, प्रत्येक पदार्थ की परिणति उस ही पदार्थ में होती है, उस प्रदेश से बाहर नहीं होती। अब आप और भी निर्णय बनायें कि क्या यह सोचना गलत है कि मैं पुत्र से मोह करता हूं ? हां बिल्कुल गलत है। आप पुत्र से मोह नहीं करते, वह तो दूर बैठा है वह तो बाह्य क्षेत्र में है, उससे आपके आत्मा में कोई क्रिया न हो सकेगी। कब इस डाक्टर से छुट्टी पाऊं, कब इस दवा दारू के झंझट से छुट्टी पाऊं, चित्त में तो उसके यह है। तो इससे सिद्ध है कि उस पुत्र के प्रति आपका राग है, पर मोह नहीं। इसी तरह से आप समझिये कि आपके घर के अन्दर रहने वाले समस्त परिजनों से आपको राग है पर मोह नहीं, और यदि आप ऐसा सोचें कि इन स्त्री पुत्रादिक परिजनों से ही मेरा जीवन है, उनके बिना मेरा क्या जीवन। वे ही मेरे लिए सब कुछ हैं। तो समझिये कि वहां पर मोह है। तो भाई यदि इस मोह को मेटना है, अपने को संकटों से बचाना है तो इस वस्तु के स्वरूप का परिचय पावो और अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को सार्थक बनाओ।

॥ सरल आध्यात्मिक प्रवचन समाप्त ॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

परमात्म-आरती

ॐ जय जय अविकारी ।

जय जय अविकारी, स्वामी जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॥ टेक॥ ॐ

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखकारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ॥ १ ॥ ॐ

हे स्वभावमय जिन तुम चीना, भव सन्तति टारी ।
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपति भारी ॥ २ ॥ ॐ

परसम्बन्ध बंध दुख कारण, करत अहित भारी ।
परमब्रह्मका दर्शन, चहुं गति दुखहारी ॥ ३ ॥ ॐ

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारी ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारी ॥ ४ ॥ ॐ

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शांतिचारी ।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥ ५ ॥ ॐ

"जमना प्रिंटिंग प्रेस" २१८ गौरी पुरा, मेरठ शहर ।

Version 1